कृष्णदेव शर्मा

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

Acharya Bushan
(M.A.).
Sahityacharya (Final Year)
17th of April 1973.

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

[काव्य-सिद्धान्तों एवं काव्य-रूपों का समीक्षात्मक अध्ययन]

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

लेखक

डॉ० कृष्णदेव शर्मा,

एम० ए०, पी-एच० डी०

रामलाल आनन्द कॉलेज,

दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली--२१

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा–२
बिक्री केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा–३

तृतीय संस्करण : १९७२
मूल्य : ४·५०

कम्पोज़िंग : पुष्पा प्रिंटिंग प्रेस, आगरा–२
मुद्रण : कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, आगरा–२
[२०/७/७२]

पुरावृत्ति-पुनरावृत्ति

- 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' नाम्नी पुस्तक का तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण अभिनव साज-सज्जा के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत है। प्रस्तुत पुस्तक का अल्पावधि में ही समाप्त हो जाना इसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता का परिचायक है। छात्र-छात्राएँ प्रस्तुत पुस्तक से अत्यधिक लाभान्वित हुई हैं, यह तथ्य हमारे लिए प्रसन्नता का विषय है और उसी प्राप्त प्रसन्नता को पुनः इस संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण के रूप में उपस्थित कर दिया है।
- 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' के प्रस्तुत परिवर्द्धित संस्करण में पाँच और नवीन प्रश्न एवं टिप्पणियाँ जोड़ दी गयी हैं। दो प्रश्नों को पुनः नये ढंग से विस्तार सहित लिखा गया है। इससे पुस्तक की उपयोगिता और महत्ता में निश्चय ही वृद्धि हुई है।
- प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने जो अपने अमूल्य सुझाव भेजे थे, उन्हें यथास्थान पुस्तक में समाविष्ट कर दिया है। लेखक इसके लिए उन सब विद्वानों का हृदय से आभारी है।
- विश्वास है कि छात्र-छात्राएँ पूर्व की भाँति ही इसे अपनावेंगे।

७३, गौतम नगर,
नई दिल्ली—४६
तिलक जयन्ती, १९७२

विनीत—
कृष्णदेव शर्मा

भूमिका

- वर्तमान हिन्दी काव्यशास्त्र पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का पर्याप्त प्रभाव है। पाश्चात्य साहित्य की प्रत्येक विधा का हिन्दी साहित्य पर अनेक रूपों में प्रभाव पड़ा है। इसलिए हिन्दी साहित्य के सिद्धान्त और प्रयोग—दोनों ही पाश्चात्य विद्वानों से प्रभावित हैं। एतदर्थ, हिन्दी-काव्यशास्त्र के ज्ञान के लिए जहाँ संस्कृत काव्यशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है, वहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का ज्ञान भी अपेक्षित है—इसके बिना हिन्दी काव्यशास्त्र को समझना उसी प्रकार दुस्साहसपूर्ण कार्य है, जैसे बिना वस्तु को देखे उसकी शोभा का वर्णन करना।
- पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रवर्त्तन ग्रीक विचारक प्लेटो से होता है, किन्तु बाद में जर्मनी, फ्रांस, इंगलैण्ड, अमरीका, रूस आदि के विद्वानों ने भी इस पर विचार किया और इसकी विचार-सरणी को प्रशस्त किया। फिर भी, इन सबके विचारों में एक मूलभूत एकता है कि उन्होंने साहित्य को भौतिकवादी स्तर पर आधृत किया है—उनकी विचारधारा, अनुभूति अन्तरंग और बहिरंग है।
- प्रस्तुत पुस्तक पाश्चात्य काव्यशास्त्र की विविध गति-विधियों से हिन्दी पाठकों को—विशेष रूप से विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को—परिचित कराने के उद्देश्य से लिखी गयी है। इसके लेखन में इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का प्रमुख रूप से विवेचन हो जाये तथा उसके प्रमुख विचारकों के मतों की भी समीक्षा हो जाये। कारण, वर्तमान हिन्दी काव्यशास्त्र पाश्चात्य काव्यशास्त्र से अत्यधिक प्रभावित है। इसीलिए हिन्दी साहित्य की विधाओं का वर्णन भी इसी के अन्तर्गत किया है, पर साथ ही यह भी ध्यान रखा गया है कि उनकी भारतीय परम्परा की उपेक्षा भी न हो पाये।

- प्रस्तुत पुस्तक 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' की रचना प्रश्नोत्तर शैली में हुई है, ताकि काव्यशास्त्र जैसा जटिल विषय छात्रों के लिए उपयोगी हो सके। इसमें जिन प्रश्नों का समावेश हुआ है, वे सभी प्रश्न विभिन्न विश्व-विद्यालयों की हिन्दी-स्नातकोत्तर परीक्षाओं में पूछे गये हैं। विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से लिखने के कारण ही इस पुस्तक की रचना में यह प्रयास किया गया है कि भाषा सरल और शैली सुबोध रहे। इससे यदि छात्र-समुदाय की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति हो सकी और उनकी समस्याओं का किंचित् समाधान प्रस्तुत हो सका, तो मैं अपना यह प्रयास सार्थक समझूँगा।
- प्रस्तुत पुस्तक किसी पूर्णता का दावा नहीं करती। कारण स्पष्ट है। ज्ञान का सागर अगाध है और मेरा ज्ञान उसकी एक बूँद की भी समता नहीं कर सकता। अतः त्रुटियों का रहना सम्भव है। श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार "भूल इस भव में मनुष्य से ही होती है और अन्त में सुधारता है वही।" इस सम्बन्ध में अधिकारी विद्वान् जो भी सुझाव देंगे, मैं उनका सहर्ष स्वागत करूँगा और अगले संस्करण में उनका समावेश करने की यथासम्भव चेष्टा करूँगा। पुस्तक-प्रणयन में अनेक अंग्रेजी के विद्वानों की कृतियों तथा उनकी हिन्दी में अनूदित पुस्तकों से पूर्ण सहायता ली गयी है, साथ ही अनेक हिन्दी पुस्तकों से भी सहायता ली गयी है। लेखक उन सबके प्रति हृदय से आभार प्रकट करता है।
- आदरणीय श्री भोलानाथजी और विनोद पुस्तक मन्दिर के प्रबन्धक श्री सतीश कुमार अग्रवाल के प्रयत्नों के फलस्वरूप पुस्तक इस रूप में हिन्दी-साहित्य-संसार के सामने प्रस्तुत है। लेखक इनके प्रति भी अपना आभार अभिव्यक्त करता है।
- आशा ही नहीं, प्रत्युत विश्वास है कि 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' पुस्तक छात्र-छात्राओं को अधिकाधिक रुचिकर और लाभप्रद प्रतीत होगी और छात्र-समुदाय मेरी अन्य पुस्तकों के समान इसे भी अपनायेगा।

जी-३, ग्रीन पार्क एक्सटैंशन,
नई दिल्ली-१६
स्वतन्त्रता-दिवस, १९६९

विनीत—
कृष्णदेव शर्मा

अनुक्रमणिका

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

प्रश्न १—प्लेटो ने कला को 'सत्य से दूर' सिद्ध करने के लिए जिन उक्तियों का आश्रय लिया है, उनका विवेचन-विश्लेषण कीजिये।

अथवा

'प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त' विषय पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत कीजिये।

यूनानी विचारक प्लेटो दार्शनिक होते हुए भी कवि-हृदय-सम्पन्न था। उसे केवल बौद्धिक आनन्द स्वीकार था, ऐन्द्रिय आनन्द नहीं। अतः काव्यजन्य वह आनन्द जो इन्द्रियों से सम्बन्धित हो, उसे मान्य न था। उसके समय की कविता मनोरंजनार्थ लिखी जाती थी, इससे वह उसके सुधार के लिए चिन्तित था। उसके मतानुसार मनुष्य के दो धर्म हैं—(१) विशिष्ट व्यक्ति के रूप में उसे सत्य प्राप्ति में संलग्न रहना चाहिए और (२) समाज के सदस्य के रूप में उसे सदाचारी होना चाहिए। उसने अपने कला-सम्बन्धी विचार दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सिद्ध किये हैं।

इसीलिए प्लेटो कविता को उसी सीमा तक ग्राह्य मानते हैं, जिस सीमा तक वह राज्य तथा मानव-जीवन के लिए लाभप्रद हो। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"It shall be no argument that a poem or poet is charming, admirable or even sacred—vain argument of aesthetes."

प्लेटो के अनुसार सत्य वह है जो समाज व व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को बल प्रदान करे। वह काव्य को इसी कसौटी पर कसते हैं। जो काव्य इस कसौटी पर सही उतरता है, वह सत्य है और शेष काव्य असत्य हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—"जब कभी कई प्राणियों या वस्तुओं की एक सामान्य संज्ञा होती है, तो हम कल्पना कर लेते हैं कि उनका एक सामान्य आदर्श (Idea) या रूप (Form) होगा।" यही सामान्य आदर्श उनके अनुसार 'सत्य' और विशेष सत्य ऋत (Universal) सत्य की छाया (Appeerance) मात्र है।

काव्य और सत्य—प्लेटो ने मूल सत्य का कर्ता ईश्वर को माना है। उसके सत्य की अनुकृति यह संसार है और इस संसार का अनुकरण ही काव्य है। इस प्रकार प्लेटो के अनुसार काव्य सत्य से दूर भी है और अनुकरण के सिद्धान्तानुसार समीप भी है।

काव्य को सत्य से दूर मानने के प्लेटो के कुछ कारण भी हैं। उनके समय की काव्य-कृतियों में जीवन का अनुदात्त और अवांछनीय तत्त्व ही प्रधान था। काव्य मात्र मनोरंजन की वस्तु होकर रह गये थे। उनमें रोना-पीटना, शोक आदि भावनाओं का प्राचुर्य था। इसीलिए उन्होंने कहा कि काव्य का सत्य वास्तविक नहीं होता।

प्लेटो अनुकरण के सिद्धान्त को अज्ञानताजन्य मानते हैं, इसलिए कविता भी उन्हें अज्ञान से उत्पन्न तथा सत्य से दूर ज्ञात होती है। अपने मन्तव्य को वह पलंग के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—जैसे पलंग का मूलकर्ता—ईश्वर, वढ़ई एवं चित्रकार इस अनुकरण का अनुकर्ता होता है, वह पलंग के वास्तविक रूप से परिचित न होकर भी उसका अनुकरण करता है, उसी प्रकार त्रासदी लेखक न तो अपने अनुकार्य की प्रकृति से परिचित होता है और न उसका स्वरूप ही अंकित कर पाता है।

प्लेटो का मत था कि कवि यश और कीर्ति के लिए पाठकों की वासनाओं का उत्तेजित कर आवेगपूर्ण व उन्मादग्रस्त प्रकृति का चयन करके उसका चित्रण करता है और लोकप्रिय बनता है। कवि, प्लेटो के अनुसार, आत्मा के सत्य का उद्भावन करने के लिए नहीं लिखता, अपितु अपने को प्रसिद्ध बनाने के लिए लिखता है और इस प्रकार उत्तेजक साहित्य का सर्जन करता है। त्रासदी के सम्बन्ध में प्लेटो ने लिखा है, "ट्रेजेडी का कवि हमारे विवेक को नष्ट कर हमारी वासनाओं को जाग्रत करता है, उनका पोषण करता है और उन्हें पुष्ट करता है।" इसीलिए काव्य का सत्य वास्तविक सत्य से दूर रहता है।

अतः प्लेटो के अनुसार—(१) मूल सत्य एक है, अखण्ड है एवं उसका कर्ता है।

(२) यह वस्तु-जगत उस परम सत्य का अंश नहीं, अनुकरण है।

(३) कलाकार इस अनुकरण का भी अनुकर्ता है, अतः सत्य से तिगुना दूर है।

(४) अन्तत: सभी कलाकारों की भाँति त्रासदीकार भी अनुकर्ता अतएव सत्य से तिगुना दूर है।

सत्य का अनुकरण—अब प्रश्न यह उठता है कि यदि काव्य सत्य की अभिव्यक्ति न होकर केवल अनुकरण का अनुकरण है तो कवि सत्य का सर्जक नहीं अनुकर्ता हुआ, पर वह इस अनुकरण के लिए भी इसका (सत्य का) ज्ञाता होता है अथवा नहीं। प्लेटो के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक है। उसके अनुसार यह मान्यता कि कवि सब सत्य का ज्ञाता होता है, ऐसे व्यक्तियों की है जो इन व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर छले गये हैं और उनकी कृतियों से सम्मोहित हो गये हैं। इनकी कृतियों का अवलोकन करते समय उन्होंने विस्मरण कर दिया कि वे सत्य से तिगुनी दूर हैं तथा उनका प्रणयन सत्य के वास्तविक ज्ञान के अभाव में भी सम्भव है, क्योंकि वे सत्य का आभास मात्र हैं—

"Perhaps they may have come across imitators and been deceived by them; they may not have remembered when they saw their works that these were thrice removed from the truth, and could easily by made without and knowledge of the truth, because they are appearances only and not realities."

इसके लिए प्लेटो चित्रकार का तर्क देते हैं कि जैसे चर्मकार का चित्र बनाने वाला चित्रकार स्वयं चर्म की कला से अनभिज्ञ होता है; फिर भी उसका चित्र, चित्रकार के अज्ञान होते हुए भी, वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करता है, क्योंकि उसके निर्णय का आधार रंग-रूप की समानता होती है, वैसे ही होमर आदि कवि जो सत् एवं अन्य विषयों का अपने काव्य में छाया-नुकरण करते हैं, केवल अनुकर्ता होते हैं और सत्य से उनका कोई सम्पर्क नहीं होता। कलाकार तो एक दर्पण के समान है, इससे अधिक उसकी कुछ और सिद्धि नहीं है। वह शब्दों और वाक्यांशों से विषय को रूप-रंग देता है, किन्तु स्वयं को प्रकृति के विषय में केवल उतना ही ज्ञान होता है, जितना अनुकरण के लिए आवश्यक है। पाठक या श्रोता भी—जो उसी के समान अज्ञानी होते हैं, कवि के शब्दों के आधार पर ही निर्णय लेते हैं। अत: प्लेटो के अनुसार कहा जा सकता है कि अनुकर्ता अथवा छायानुकृतियों का निर्माण

केवल बाह्य रूप का ज्ञाता होता है, विषय के सत्यरूप अथवा स्थिति का नहीं। इसलिए वह काव्य को सत्य भासित होने वाले विषयों का अनुकरण तथा कवि-क्रीड़ा मात्र मानता था—

"Imitation is only a kind af play or sport."

विवेचन—स्पष्टतया प्लेटो की काव्य-सर्जना सम्बन्धी स्थापनाओं का मूल उनकी यह मान्यता है कि यह भौतिक सृष्टि परम सत्य का और काव्य इस भौतिक सृष्टि का अनुकरण है। दोनों ही सत्य से दूर हैं और काव्य अपेक्षाकृत और भी दूर है। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि इतिवृत्तात्मक और वस्तुपरक है। अन्यथा वह यह नहीं कहते कि विषय के रूपाकार का बाह्य ही अनुकरण के लिए पर्याप्त है। जहाँ पर अनुकरण का विषय घटनाएँ आदि हैं, वहाँ तो यह बात जँचती भी है, पर जहाँ मानव-मन की सूक्ष्म अनुभूति, मानव-संवेदनाओं आदि का चित्रण होता है, वहाँ यह कथन सही दिखाई नहीं देता। डा० निर्मला जैन के अनुसार, "पात्रों के व्यवहार का, कार्य-व्यापार का, अनुभूति का, अन्तःप्रकृति का—एक शब्द में समग्र चारित्र्य का अंकन करने के लिए कवि केवल कल्पना और अनुभूति के सहारे तादात्म्य ही नहीं करता, उन्हीं क्षणों में, परिस्थितियों में स्वयं जीता है। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो वह वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने में भी समर्थ नहीं हो सकता।"

यह भी कहा जा सकता है कि प्लेटो काव्य-सर्जन के लिए विषय से तादात्म्य को अनिवार्य न मानते हों, पर ऐसा भी नहीं है। 'इओन' में उन्होंने लिखा है—"काव्य विषय से तादात्म्य केवल कवि के लिए ही नहीं, वाचक, चारण आदि के लिए भी अनिवार्य है; अन्यथा वह श्रोतावृन्द पर इच्छित प्रभाव डालने में सफल नहीं हो सकता।"

इस प्रकार प्लेटो सत् काव्य को नीतिशास्त्रीय शब्दावली के आधार पर तौलते हैं। उनके मतानुसार सत् काव्य वह है, "जो मानव-स्वभाव का सच्चा चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करे कि उससे मानव-स्वभाव में जो कुछ भी महान है, उनका संवर्द्धन हो।" वह कला में गहनता और पूर्णता की आशा करते हैं—

"The right function of art is to put before the soul the images of what is intrinsically great and beautiful."

इस धारणा का कारण—अब प्रश्न यह उठ सकता है कि प्लेटो की काव्य-विषयक इस धारणा का कारण क्या था। इसका कारण यह था कि ऐसे बहुत

कम व्यक्ति होते हैं जो काव्य के अन्तरंग रूप को समझ सकें। फिर उन दिनों की काव्यकला मनोरंजन का साधन बनी हुई थी—यह प्लेटों को अभीष्ट नहीं था। चूँकि काव्य में अनैतिक चित्रण से जनसामान्य पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता था, इसलिए प्लेटो काव्य के नियमन की आवश्यकता पर बल देते थे। वह काव्य में 'शिवं' के प्रबल समर्थक थे।

यहीं उनकी कुछ शिथिलताएँ हैं। यदि काव्य में कवि वास्तविकता से दूर की रचना करता है, तो यह भी सही है कि वह सत्य से कुछ अधिक भी दे देता है। भले ही उसमें वर्णित घटनाएँ यथार्थ न हों, पर वे मानव-मात्र की सहज मूल प्रवृत्तियों पर आधारित होने के कारण सत्य से भी अधिक होती हैं। और फिर 'शिवं' पर ही बल देकर पूर्णरूपेण 'सौन्दर्य' को भूल जाना भी काव्य को नीति का स्वरूप प्रदान कर देता है।

फिर भी उनका अनुकरण-सिद्धान्त श्लाघनीय है, यह निर्विवाद है।

प्रश्न २—अरस्तू द्वारा प्रतिपादित 'काव्यसत्य' के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू से पूर्व भी काव्य के सत्यासत्य के विषय में विचार हो चुका था। अरस्तू से पूर्व होमर आदि प्राचीन नाटककारों पर असत्यता का आरोप लगाकर प्लेटो आदि ने भी उनकी भर्त्सना की थी। प्लेटो का काव्य पर सबसे बड़ा आरोप यही था कि वह सत्य से दूर होता है—

"Poetry is twice removed form the reality."

वह ब्रह्म को ही सत्य मानते थे, उसकी सृष्टि को ईश्वर का अनुकरण मानते थे और काव्य को सृष्टि का अनुकरण। इस प्रकार जब भौतिक जगत् ही अपूर्ण अनुकृति है—असत्य है, फिर काव्य तो सत्य से बहुत दूर पड़ गया।

अरस्तू ने इस पर गहनता से विचार किया और वस्तु-जगत् (भौतिक संसार) तथा काव्य-जगत् के सत्य का भेद किया और इस सन्दर्भ में अपने गुरु प्लेटो के द्वारा फैलाये गए भ्रम का भी निराकरण किया। अरस्तू का विचार था कि काव्य मानव-जीवन तथा जीवन के शाश्वत एवं सार्वभौम तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है; ऐसे समय वह आकस्मिक बातों पर ध्यान न देकर, अनेक भौतिक आवश्यकताओं और कामवासनाओं की उपेक्षा कर, जो होना चाहिए, का चित्रण करता है। अपने काव्यशास्त्र में वह लिखते हैं—"कवि

का कर्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है, उसका वर्णन करना नहीं है, वरन् जो हो सकता है, जो संभाव्यता या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है........कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। परिणामत: काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की है।"

अरस्तू के अनुसार सत्य के दो रूप होते हैं—(१) व्यापक और सार्वभौम सत्य तथा (२) सीमित एवं विशेष सत्य। जो घटित हो चुका है, वह देश-काल की सीमा में आबद्ध होकर सीमित और विशेष सत्य बन गया है और जो सम्भाव्य है वह देश-काल की सीमा से रहित होकर सार्वभौम और सार्वकालिक रहता है। इसके अन्तर्गत मानव-जीवन के सहज धर्म तथा प्रकृतिजन्य क्रिया-कलाप आते हैं। अत: कहा जा सकता है कि सार्वभौम सत्य सीमित सत्य की अपेक्षा अधिक महान् होता है, इसलिए काव्य-सत्य भी वस्तु-सत्य की अपेक्षा अधिक महान् होता है।

किन्तु काव्य-सत्य अमूर्त विचार या धारणा-रूप नहीं होता; उसका रूप मूर्त और व्यक्त ही रहता है। कवि विशिष्ट नामधारी व्यक्तियों को ही काव्य का आधार बनाता है, पर उन्हें सीमित स्वभाव-धर्मों से युक्त न कर उन व्यवहारों और धर्मों को अभिव्यक्ति देता है जो सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक होते हैं। इस प्रकार काव्य का यह सार्वभौम सत्य मूलत: मानव-सत्य होता है।

जो लोग कवि पर इस दृष्टि से आरोप लगाते हैं कि 'उसके वर्णन यथा-तथ्य नहीं हैं, सामान्य अनुभव से अलग हैं' उनके लिए अरस्तू का कथन है कि 'वस्तु जैसी होनी चाहिए वैसी तो है'—

"Not real, but a higher reality, what ought to be, not what is."

अर्थात् काव्य में यथातथ्य की अपेक्षा कहीं ऊँचा सत्य होता है। वह वस्तुगत यथार्थ की अपेक्षा भावनात्मक सत्य को काव्यसत्य के रूप में देखते हैं और उसी का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार, परम्परागत मानव-विश्वास तथा मानव-धारणाएँ भी काव्यसत्य के अन्तर्गत आ जाती हैं। ये

धारणाएँ न तो वस्तुगत यथार्थ के अनुरूप होती हैं और न आदर्श के अनुरूप ही; फिर भी मानव-विश्वासों पर आधारित होने के कारण इनमें भी काव्य-सत्य निहित है ।

काव्यसत्य की सम्भाव्यता—काव्यसत्य पर विचार करते समय अरस्तू ने उसके सम्भव-असम्भव, अर्थात् सम्भाव्यता-असम्भाव्यता पर भी विचार किया है । अरस्तू इस बात को कभी नहीं मानते कि वस्तु-जगत् में जो सर्वथा असम्भव है, वह काव्य के लिए सर्वथा त्याज्य है । उनका विचार है कि असम्भव का ग्रहण भी कभी-कभी परम्परागत धारणा के आधार पर ग्राह्य हो जाता है और उसे न्याय्य ठहराया जा सकता है । यथा—

"That never have happend and never will happen, may be more true, poetically speaking,- more profoundly true than those daily occurences which we can with confidence predict."

अर्थात् कभी-कभी झूठ सत्य की अपेक्षा अधिक सत्य तथा कवित्वपूर्ण हो सकता है तथा मानव-धर्म के अधिक निकट हो सकता है । इसका अर्थ यह हुआ कि असम्भव भी काव्यसत्य की परिधि में आ जाता है, पर इसके लिए यह आवश्यक है कि इसे किसी-न-किसी निश्चित उद्देश्य से होना चाहिए ।

असम्भव सत्य के उद्देश्य—अरस्तू काव्यसत्य के रूप में असम्भव तथ्यों को ग्रहण करने के लिए तीन उद्देश्य बताते हैं—

(१) कलागत आवश्यकता;
(२) वस्तु-सत्य से भव्यतर सत्य की प्रतिष्ठा; और
(३) परम्परागत धारणा या विश्वास,

यदि कोई 'असम्भव' अधिक कवित्वपूर्ण तथा प्रभावशाली है तो कलागत आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसका ग्रहण किया जा सकता है और वस्तु-जगत् से भव्य यदि कोई असम्भव है तो वह भी मानव-धर्म की सहज अन्त:वृत्ति को द्योतन करने के कारण ग्राह्य हो सकता है और परम्परागत धारणा का समर्थन करने वाला 'असम्भव' भी काव्य का सत्य बन जाता है । अन्तिम वर्ग में कवि-किंवदन्तियाँ भी (जैसे चकोर का अंगारे चुगना, हंस का नीर-क्षीर-विवेक आदि) परिगणित की जा सकती हैं । तात्पर्य यह हुआ कि

जो आह्लादित करता है—भले ही वह अद्भुत या असत्य हो, अरस्तू की दृष्टि में वह ग्राह्य है।

असम्भव सत्य की स्वीकृति की सीमाएँ—यद्यपि तर्क-विरुद्ध, असत्य और असंगत कल्पनाओं को भी परम्परा, कला और भव्यता के आधार पर वे स्वीकार करने से पक्ष में हैं, पर इससे साथ ही वह कुछ उपबन्धों को भी स्वीकार करते हैं। कला में वह भावगत असत्य को किसी भी प्रकार स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। भावगत असत्य से उनका तात्पर्य उस आचरण से है जिसके पीछे कोई उद्देश्य निहित नहीं है। मानव-प्रवृत्तियों के विरुद्ध सत्य को भी वह अपनाने के विरुद्ध हैं। असम्भव या असंगत का अकारण प्रयोग अरस्तू को कभी ग्राह्य नहीं था। इस सम्बन्ध में वह स्पष्ट लिखते हैं—

"जो कुछ विवेकसंगत न हो, उसे यथाशक्ति बचाना चाहिये—या कम से कम उसे नाटक के कार्य से बाहर रखना ही चाहिए। पहले तो ऐसे कथानक का निर्माण ही नहीं करना चाहिए; पर जब एक बार असंगत (असम्भाव्य) का अन्तर्भाव कर लिया गया और उसे ऐसा रूप दे दिया गया कि वह सम्भाव्य प्रतीत हो, तो बेतुका होने पर भी, वह हमारे लिए स्वीकार्य बन जाना चाहिए। अतः कवि को असम्भाव्य सम्भावनाओं की अपेक्षा संभाव्य असंभावनाओं को प्राथमिकता देनी चाहिये।"

इसका विश्लेषण अरस्तू त्रासदी के संदर्भ में करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जो विवेकसंगत नहीं है, वह मानव-मन को भी ग्राह्य नहीं होगा। अरस्तू आकस्मिक घटनाओं के प्रयोग के भी विरुद्ध हैं, क्योंकि वे आकस्मिक घटनाएँ प्रकृति की कार्यप्रणाली के प्रतिकूल होती हैं।

अरस्तू अतियथार्थवाद के भी विरुद्ध थे। आज जिस यथार्थ चित्रण की बात हो रही है और मानव-जीवन के यथातथ्य निरूपण की बात चल रही है, वह इसके भी विरुद्ध थे। कारण, नग्नसत्य की अपेक्षा वह कवि-कल्पना-प्रसूत परिष्कृत सत्य के समर्थक थे।

निष्कर्ष—उक्त विवेचन से डा० नगेन्द्र अरस्तू के 'काव्यसत्य' के विषय में निम्न निष्कर्ष देते हैं—

१. काव्यसत्य वस्तुसत्य या तथ्य का पर्याय नहीं है।

२. जो हो चुका है, हो रहा है या होता है, वही सत्य नहीं है, वरन् जो हो सकता है, जो जीव विधान के अनुसार सम्भाव्य है, वह भी सत्य है।

३. वस्तु-जगत् का यथार्थ ही सत्य नहीं है, मानव-आदर्श, मानव-विश्वास तथा परम्परागत मानव-धारणाएँ भी सत्य हैं।
४. वस्तु-जगत् में जो असम्भव है, असंगत है वह भी किसी सुन्दर उद्देश्य की प्रेरणा से काव्यसत्य की परिधि में आ जाता है।
५. काव्य का सत्य देशकाल की सीमा से मुक्त सार्वभौम तथा सार्वकालिक होने के कारण वस्तु-सत्य की अपेक्षा भव्यतर होता है।
६. किन्तु यह सत्य अमूर्त विचार रूप नहीं होता—इसकी अभिव्यक्ति का माध्यम मूर्त और निश्चित ही होता है।
७. काव्य का सत्य निरंकुश नहीं होता, विवेक का अंकुश उस पर निश्चय ही रहना चाहिए।

उक्त निष्कर्ष से यह स्पष्ट है कि अरस्तू काव्य का सत्य मानव-सत्य का पर्याय मानते हैं—वस्तुसत्य का नहीं। काव्य का सत्य मानव-भावना और कल्पना का सत्य है। अतः उत्तम काव्य वही है जो सहृदय के कर्म को स्पर्श करे; इसका स्पर्शीकरण तभी हो सकता है, जब वह कवि की कल्पना से प्रभावान्विति उत्पन्न करे, अतः वह मानव-सत्य से सम्बन्धित हो।

प्रश्न ३—अरस्तू के अनुकृतिवाद की मुख्य स्थापनाएँ क्या हैं? उसे बहिर्मुखी या बाह्यांगपरक सिद्धान्त क्यों कहा गया है? सिद्ध कीजिए।

अथवा

अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त का परिचय देते हुए उसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

काव्य की आत्मा पर विचार करते समय अरस्तू ने अनुकरण के सिद्धांत को काव्य की आत्मा माना है। अनुकरण शब्द यूनानी शब्द 'मीमेसिस' (Mimesis) का पर्याय है और हिन्दी में यह अंग्रेजी शब्द 'इमिटेशन' (Imitation) से रूपान्तरित होकर आया है। आज अरस्तू का 'अनुकरण का सिद्धान्त' समालोचना के क्षेत्र में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है। यदि उसका प्रयोग होता भी है तो सुन्दर-असुन्दर का कला में भेद बताने के लिए ही। पर उस समय इस सिद्धान्त का बहुत महत्त्व था। फिर भी, यह सिद्धान्त आरम्भ से ही विवादास्पद रहा है। अंग्रेजी के आलोचक सेण्ट्सबरी के अनुसार, "यद्यपि यह सिद्धान्त विवादास्पद रहा है; फिर भी इसका महत्त्व कम

नहीं है, क्योंकि यही पहला सिद्धान्त है जिसने काव्य में प्रकृति और कला के तत्त्वों का पारस्परिक अनुपात निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।"

प्राचीन यूनान में कला की मीमांसा नैतिक दृष्टि से होती थी। इसलिए उनका मत था कि कला सच्चे रूप में अनुकरणात्मक होती है। सबसे पहले सुकरात ने इसका आंशिक विवेचन करते हुए कहा कि मन की आन्तरिक भावनाओं का अनुकरण चेहरे से इंगित द्वारा हो सकता है। इसी वाक्य को काव्य के 'अनुकरण-सिद्धान्त' पर लागू किया गया और अरस्तू ने उसमें नवरंग भर दिये।

अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने अनुकरण के सिद्धान्त का विवेचन किया और वह इसी आधार पर काव्य को त्याज्य समझते थे कि ईश्वर ही सत्य है, उसकी अनुकृति संसार है और संसार की अनुकृति काव्य है। इस प्रकार **काव्य अनुकरण का अनुकरण है।** इस प्रकार उन्होंने अनुकरण का प्रयोग स्थूल अर्थ में लिया है और अनुकरण के आधार पर ही काव्य के तीन भेद किये हैं—(१) नाट्यात्मक काव्य, (२) असत्य काव्य और (३) सत्यकाव्य। नाट्यात्मक काव्य में पात्रों की भाषा का अनुकरण होता है; असत्य काव्य में कवि आत्म-स्थित होकर असत्य का अनुकरण करता है और सत्य काव्य वह होता है जिसमें कवि 'शिव' का अनुकरण करता है।

अरस्तू ने भी अनुकरण के सिद्धान्त को इसी रूप में लिया है और अपनी कल्पना से उसमें नया रंग भर दिया है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि अरस्तू ने छाया ग्रहण की है, अनुकरण शब्द का प्रयोग प्लेटो आदि की भाँति स्थूल प्रतिकृति के अर्थ में नहीं लिया।

अरस्तू द्वारा अनुकरण शब्द का प्रयोग—अरस्तू के विभिन्न टीकाकार उसके द्वारा प्रयुक्त 'अनुकरण' शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हैं। प्रो० बुचर के अनुसार अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त अनुकरण शब्द का अर्थ है—सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन, कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन, जैसी वह होती है वैसी नहीं, वरन् जैसी वह इन्द्रियों को प्रतीत होती है, वैसी करती है। कला का संवेदन तत्त्वग्राहिणी बुद्धि के प्रति नहीं, वरन् भावुकता तथा मन की मूर्ति-विधायिनी शक्ति के प्रति होता है।

प्रो० गिल्वर्टमरे ने यूनानी शब्द 'पोएतेस' (कर्त्ता रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की है, "यह देखकर आश्चर्य

होता है कि अरस्तू और उससे पहले प्लेटो को कला के सम्बन्ध में अनुकरण सिद्धान्त के प्रति इतना आग्रह क्यों था। इस तथ्य से सहायता लेकर इसका निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जनसाधारण भाषा में कला के लिए 'रचना या करण' शब्द का प्रयोग होता था, जबकि यह प्रकृति अर्थ में रचना नहीं थी।" इसे स्पष्ट करते हुए प्रो० मरे लिखते हैं कि कवि शब्द के यूनानी पर्याय में ही अनुकरण की धारणा निहित थी, किन्तु अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नहीं था।

आधुनिक टीकाकार पॉट्स ने अनुकरण का अर्थ ऐसे प्रभाव के उत्पादन से लिया है जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध, प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है। जेम्स स्कॉट इसे जीवन के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्याय मानते हैं। एटकिंस के मत से अनुकरण 'सृजनात्मक दर्शन की क्रिया' अथवा 'प्राय: पुन: सृजन' का ही दूसरा नाम है।

अरस्तू द्वारा अनुकरण की व्याख्या—इन सब टीकाकारों की व्याख्याएँ भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, किन्तु साथ ही अरस्तू द्वारा अनुकरण शब्द की जो व्याख्या है, वह भी अधिक उपादेय है। अरस्तू ने काव्यकला को सौन्दर्यवादी दृष्टि से देखा और उसे दार्शनिक, राजनीतिक तथा नीतिशास्त्र के बन्धन से मुक्त किया। अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानते हैं। उनके शब्दों में—"Art imitates nature."

प्रकृति से अरस्तू का अभिप्राय, पी० एस० शास्त्री के अनुसार, जगत् के बाह्य, स्थूल और गोचररूप तथा साथ-साथ आन्तरिकरूप (क्रोध, काम, कल्पना आदि) से था—

"His nature is not the visible physical universe, but the creative principle operating in it."

दूसरे, अरस्तू हूबहू नकल भी अनुकरण नहीं मानते। उनके अनुसार अनुकृति की प्रक्रिया में प्रकृति के अनेक दोष व अभाव भी कला द्वारा पूरे किये जाते हैं—

'Generally, art partly completes what nature cannot bring to a finish and partly imitates her."

एबरक्रोम्बे अरस्तू के तर्क की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, "अरस्तू का कहना था कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती, तो वह हमें उससे

कुछ अधिक नहीं दे सकती थी, जो प्रकृति देती है। पर तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इसीलिए करते हैं, क्योंकि वह हमें वह प्रदान करती है, जो प्रकृति नहीं दे सकती।"

वस्तुत: कलाकार अपनी संवेदना और अनुभूति से अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करता है और उसे आदर्श रूप देता है। अत: अनुकरण को मात्र नकल नहीं कहा जा सकता।

अनुकरण के आधार पर ही अरस्तू त्रासदी के छह अंग मानते हैं—कथानक, चरित्र, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान और गीत। इनमें से दो अनुकरण के माध्यम हैं, एक अनुकरण की विधि तथा शेष तीन अनुकरण के विषय।

यहीं पर इतिहासकार और कवि का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। इतिहासकार तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और कवि उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। इसीलिए काव्य का रूप अपेक्षाकृत अधिक भव्य है।

अनुकार्य के सम्बन्ध में अरस्तू का मत है कि कवि का अनुकार्य इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से एक होगा—जैसी वे थीं या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं, अथवा जैसी वे होनी चाहिए। स्पष्ट रूप से, अरस्तू काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान, सम्भाव्य और आदर्श रूप को मानते हैं। इस तरह अरस्तू के अनुसार काव्य में निश्चित तौर पर कवि की भावना और कल्पना का योग रहता है।

अनुकरण की प्रक्रिया—इसके सम्बन्ध में अरस्तू ने अधिक नहीं लिखा है; फिर भी जो कुछ लिखा है, उससे इस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। उनका स्पष्ट कथन है कि कवि वस्तुओं को उनके यथास्थित रूप में वर्णन नहीं करता, वरन् उनके उपयुक्त रूप में वर्णन करता है। कलाकार का यह कर्तव्य है कि वह मूल वस्तु में स्थित प्राकृतिक उपयुक्तता तथा सत्य को ही प्रेषित करने का प्रयत्न न करे, अपने कला-माध्यम के अनुरूप आवश्यक तथा सम्भावित का भी प्रेषण करे। इसीलिए उन्होंने लिखा है—"A likely impossibility is always perferable to an unconvincing possibility."

इस प्रकार अरस्तू के अनुसार कवि मानव-जीवन के स्थायी तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए वस्तु के सत्य का बलिदान भी कर सकता है और उसमें परिवर्तन भी कर सकता है। केवल प्रणाली या मानव के कार्य ही नहीं, उसके भाव, विचार, चरित्र आदि भी अनुकरण की वस्तु हैं। अतः काव्य में जिस मानव का चित्रण होता है, वह सामान्य मानव से अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी और यह चित्रण काव्य में आनन्द के दृष्टिकोण से किया जाता है। यह आनन्द सहृदय को होना चाहिए, पर सहृदय को आनन्द तो तभी होता है, जब कवि को भी हो। इससे स्पष्ट होता है कि अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त में आत्म-तत्त्व निश्चित रूप से है।

विवेचन एवं निष्कर्ष— स्पष्ट है कि अरस्तु के अनुसार अनुकरण के विषय जीवन का बहिरंग पक्ष ही नहीं है, अपितु अन्तरंग पक्ष—विचार, अनुभूति कल्पना आदि भी हैं और इन दोनों में भी अन्तरंग पक्ष का प्राधान्य है, क्योंकि अनुकरण यथार्थ रूप का ही नहीं, सम्भावित रूप का भी किया जाता है और इन्द्रियों पर उसके अंकित स्वरूप का अनुकरण किया जाता है। फिर अरस्तू काव्य के लिए 'वस्तु कैसी है' की अपेक्षा 'वस्तु कैसी होनी चाहिए या हो सकती है' पर अधिक जोर देते हैं।

यह निर्विवाद है कि वह आत्मतत्त्व और कल्पनातत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वस्तुतत्त्व को अधिक प्रधानता देते हैं। वह वस्तु को उद्दीपक निमित्त मात्र नहीं मानते, आधार रूप भी मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि वह व्यक्ति-परक भावतत्त्व की अपेक्षा वस्तुपरक भावतत्त्व को विशेष महत्त्व देते हैं और इसी से वह काव्य के बहिरंग पक्ष का प्रत्यांकन करते हैं।

अनुकरण-सिद्धान्त का क्रोचे के सहजानुभूति सिद्धान्त से भी विरोध है। क्रोचे के अनुसार, कला सहजानुभूति है जो अभिव्यक्ति से अभिन्न है। कला का मूलरूप कलाकार के मन में घटित होता है। इस प्रकार अनुकरण-सिद्धान्त क्रोचे के सिद्धान्त के अनुसार कला-सर्जन के प्रसंग में केवल आनुषंगिक प्रक्रिया-मात्र होकर रह जाता है।

फिर अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त की परिधि भी बड़ी संकुचित है। उस में कवि की अन्तःचेतना को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना कि देना चाहिए था। कवि जीवन में विभिन्न अनुभवों के बीच से गुजरता है और

उन सबसे अनेक प्रभावों को ग्रहण कर अपनी चेतना का निर्माण करता है, पर इस सिद्धान्त में इसे कोई महत्त्व नहीं दिया गया है ।

समग्रतः कहा जा सकता है कि अरस्तू ने अनुकरण को प्लेटो की अपेक्षा भले ही नवीन अर्थों में प्रयोग किया हो और उसमें 'शिवं' की अपेक्षा सौन्दर्य की ओर बल दिया हो, उसे दार्शनिक व नीतिज्ञों के चंगुल से भी पृथक् किया हो, पर वह उसके आन्तरिक पक्ष की सतह तक नहीं पहुँच पाए । भारतीय आचार्यों ने भी 'अवस्थानुकृति नाट्यम्' लिखकर अनुकरण पर जोर दिया है, पर अरस्तू जहाँ प्रकृति को अनुकरण काव्य मानकर चले हैं, वहाँ भारतीय आचार्य काव्य को आत्मा का उन्मेष मानते हैं । डा० नगेन्द्र के अनुसार, "अपने सम्पूर्ण विवेचन में अरस्तू का दृष्टिकोण इसी कारण अभावात्मक रहा है और त्रास व करुणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है ।"

और यह उसकी सीमा के कारण है । कवि के व्यक्तित्व का, अरस्तू के अनुकरण के सिद्धान्त के अनुसार, काव्य में अभाव नहीं है, पर उसकी परिधि बड़ी संकुचित है । उसमें कवि की निर्माण-क्षमता पर तो बल दिया गया है, पर जीवन के विभिन्न अनुभवों से निर्मित कवि की अन्तःचेतना को पूर्ण महत्त्व नहीं दिया गया । उन्होंने गीत को भी काव्य का अलंकार-मात्र माना है । उन्होंने सभी विषयों को अनुकार्य माना है । बाह्य वस्तुओं का तो अनुकरण हो सकता है, पर भारतीय अनुभूतियों के अभिव्यंजन में अनुकरण शब्द कैसे प्रयुक्त हो सकता है ! अनुकरण का इतना तो विस्तार नहीं हो सकता—बस यही उसके सिद्धान्त की सीमा है ।

प्रश्न ४—अरस्तू के विवेचन-सिद्धान्त का निर्देश कीजिए और उसकी भारतीय रस की आनन्दवादी दृष्टि से तुलना कीजिए ।

अथवा

अरस्तू का विवेचन-सिद्धान्त करुण रस की समस्या का समाधान करने में कहाँ तक सफल हो सका है ? सिद्ध कीजिए ।

अरस्तू ने विवेचन के सिद्धान्त का त्रासदी के संदर्भ में विवेचन किया है, किन्तु उन्होंने न तो विवेचन की कोई परिभाषा दी है और न ही कहीं उसकी व्याख्या की है । विवेचन-सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू के दो ग्रन्थों में है—'राजनीति' में और 'पोइटिक्स' में । इस सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू ने

प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर देने के लिए किया है। अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने काव्य पर आक्षेप करते हुए कहा है, "काव्य मानव-वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण एवं सिंचन करता है, अतः कवि जिसका सत्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं, को देश को सुशासित रखने के लिए, देश में रहने से निषेध करदें, क्योंकि वह मानव के विवेक अंश का क्षय करता है।"

अरस्तू द्वारा विरेचन का उल्लेख—अरस्तू ने यह तो स्वीकार किया कि काव्य मानवीय वासनाओं का दमन नहीं करता, वरन् पोषण ही करता है, परन्तु यह स्वीकार नहीं किया कि वह अनैतिक भावनाओं को उभारता है। त्रासदी का विवेचन करते हुए वह 'पोइटिक्स' में लिखते हैं—

"Tragedy, then, is an imitation of action that is serious, complete and of a certain magnitude. in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in seperate parts of the play, in the form of action, not of narrative; through pity and fear effecting the proper katharris or purgation of these emotions."

अर्थात् "ट्रैजेडी (त्रासदी) एक ऐसे कार्य का अनुकरण है जो गम्भीर है, स्वतः पूर्ण है और जिसका एक निश्चित आयाम है। यह अनुकरण एक ऐसी भाषा में होता है जो कलात्मक अलंकारों के हर प्रकार से सुसज्जित रहती है। कलात्मक अलंकारों के ये विविध प्रकार के नाटक विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। यह अनुकरण कार्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, न कि वर्णनात्मक रूप में। यह अनुकरण करुण और भय के संचार से मनोभावों को उत्तेजित कर उनका उचित विरेचन या सम्मार्जन करता है।" इस प्रकार उन्होंने विरेचन का प्रयोग त्रासदी के कार्य बतलाने के संदर्भ में किया है।

'राजनीति' नामक ग्रन्थ में वह संगीत का प्रभाव वर्णन करते हुए विरेचन का अर्थ स्पष्ट करते हैं, "संगीत का अध्ययन एक नहीं, अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए—(१) शिक्षा के लिए, (२) विरेचन (शुद्धि) के लिए, (३) संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है....धार्मिक रागों के प्रभाव से, जो रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं—वे शान्त हो जाते हैं, मानो उसके आवेश का शमन और विवेचन हो गया हो। करुणा और त्रास

से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदन शक्ति के अनुसार प्रायः सभी इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि (विरेचन) का अनुभव करते हैं। उसकी आत्मा विशद् और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार के विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।"

अरस्तू विरेचन से आशय शुद्धि से लेते हैं। वह यद्यपि नैतिकता का समर्थन करते हैं, पर साथ ही आवेगों को अभिव्यक्त करने वाले रागों का आनन्द लेने की बात भी कहते हैं।

विरेचन का अर्थ—विरेचन सिद्धान्त मूलतः मानवीय भावनाओं से सम्बद्ध है। इसकी व्याख्या प्रत्येक विद्वान् ने अपने-अपने अनुसार की है। अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द 'Katharsis' है। हिन्दी में इसका अनुवाद रेचन, विरेचन अथवा परिष्करण किया गया है। मूलतः यह शब्द चिकित्साशास्त्र का है, जिसका अर्थ है, रेचक ओषधि द्वारा अशुद्ध तथा अस्वास्थ्यकर पदार्थ का बहिष्कार कर शरीर व्यवस्था को शुद्ध और स्वस्थ करना। अरस्तू स्वयं भी वैद्य थे। अतः उन्होंने इसका प्रयोग काव्यशास्त्र में लक्ष्यार्थ में किया। इसे हम दलित भावनाओं से उत्पन्न (मानसिक) रोगों की औषधि के रूप में कह सकते हैं। प्रायः सभी भाव जो मूल मनोवृत्तियों पर आश्रित होते हैं, मानव के मन में सुप्तावस्था में रहते हैं और अवचेतन मन में स्थित रहते हैं। जीवन में यदि उनको परितोष न मिले तो उनसे अनेक रोग—कुण्ठा आदि उत्पन्न हो जाते हैं। विरेचन मन को शुद्ध रखने के लिए, उनको परिष्कृत कर शुद्ध करने का माध्यम देता है।

अतः लक्षण के आधार पर परवर्ती व्याख्याकारों ने विरेचन के तीन अर्थ किये हैं—(१) धर्मपरक, (२) नीतिपरक और (३) कल्पनापरक।

(१) धर्मपरक अर्थ—यूनान में भी नाटकों का आरम्भ धार्मिक उत्सवों के रूप में होता था। ये उत्सव मानव-शुद्धि के लिए होते थे। प्रो० गिलबर्ट मरे का कथन है कि यूनान में दिओन्युसस नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था। डा० नगेन्द्र के अनुसार, "यूनान की धार्मिक संस्थाओं में बाह्य विकारों के द्वारा आन्तरिक विकारों की शान्ति और उनके शमन का यह उपाय अरस्तू को ज्ञात था और सम्भव है, वहाँ से उन्हें 'विरेचन-सिद्धान्त' की प्रेरणा मिली हो।" अतः कहा जा

सकता है कि अरस्तु ने विरेचन का लाक्षणिक प्रयोग धार्मिक आधार पर किया। इसका अर्थ है—बाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति।

(२) **नीतिपरक अर्थ**—जर्मन विद्वान् बारनेज ने मानव-मन के मनोद्‌गारों के आधार पर इसका अर्थ किया है। मानव-मन के अनेक मनोद्‌गारों में, जिनसे मनुष्य आक्रान्त रहता है, करुणा और भय—दुःखद हैं। त्रासदी इनके दंश का निराकरण करके सामंजस्य स्थापित करती है। अतः विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ—"**विकारों की उत्तेजना द्वारा सम्पन्न अन्तर्वृत्तियों का समंजन अथवा मन की शान्ति एवं परिष्कृति—मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता।**"

(३) **कलापरक अर्थ**—इसके संकेत गेटे तथा अन्य अंग्रेज स्वच्छन्दतावादी कवि आलोचकों में मिलते हैं। प्रो० बुचर ने इसकी व्याख्या करते हुए इसे कलापरक सिद्धान्त कहा है। त्रासदी में करुण या त्रास भावों की ही अभिव्यक्ति नहीं होतीं, वरन् मानवीय भावों को कलात्मक रूप भी दे दिया जाता है। इस तरह भावों के एक विशेष कलात्मक उन्नयन से एक परितोष प्राप्त होता है, यही विरेचन है।

अरस्तू का अभिप्राय—अरस्तू ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर देते हुए किया है। अरस्तू ने स्पष्ट कहा—"करुणा और त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"

डा० नगेन्द्र उक्त तीनों अर्थों को व्यर्थ का विषय-विस्तार मानकर अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देने के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने 'अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उसके शमन से उत्पन्न मनःशांति तक ही सीमित' माना है।

विरेचन और आनन्द—अरस्तू इस सिद्धान्त के द्वारा त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान करते हैं। वह मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा करुण (शोक) और त्रास में निहित अनिष्ट भावना से दंश का नाश मानते हैं। इससे प्रेक्षक हर प्रकार की मानसिक शांति का अनुभव करता है और उसकी उत्तेजना समाप्त हो जाती है और फिर उसे आनन्द की प्राप्ति होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि चित्त की विशदता में और आनन्द में अभेदता है या दोनों एक ही हैं। इसका दो प्रकार से उत्तर दिया गया है; एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक। भावात्मक के अनुसार मन की शांति ही आनन्द है। जब मानसिक शांति का अनुभव होने लगता है तो चित्त के समस्त उद्वेग शान्त हो जाते हैं और तब अपार आनन्द की प्राप्ति होती है और अभावात्मक के अनुसार दुःखों का अभाव ही मन को शांति प्रदान करता है और तब आनन्द की प्राप्ति होती है। वैसे देखा जाय तो दोनों ही सिद्धान्त एक हैं। दूसरा वर्ग प्रथम वर्ग की प्रथमावस्था है। दुःखों के शान्त होने से मन को शांति मिलती है और मन की शांति से आनन्द की प्राप्ति होती है।

प्रो० बुचर ने 'दुख और सुख' की समस्या का समाधान करने के सम्बन्ध में दो कारण और दिये हैं—पहला कारण यह है कि त्रास व करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दुःखद अनुभूतियाँ हैं, परन्तु त्रासदी में वे साधारणीकृत होकर आती हैं। इसलिए 'स्व' की सीमा में वे कटु हैं, पर 'स्व' से मुक्त होने पर उनकी क्षुद्रता नष्ट हो जाती है, इससे उदात्त व सुखद अनूभूति होती है; आनन्द की प्राप्ति होती है। दूसरा कारण है कलात्मक प्रक्रिया। कला की प्रक्रिया का आधार समंजन होने से वह सुखद होता है। इससे त्रास व करुणा का दंश नष्ट हो जाता है और दुःख सुख में परिणत होकर आनन्द प्रदान करता है।

विरेचन का सिद्धान्त और भारतीय आनन्दवादी दृष्टि—यह तो हुई अरस्तू के विरेचन में आनन्द की उपलब्धि की प्रक्रिया। परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में शोक स्थायी भाव अमिश्र रहता है, जबकि अरस्तू का त्रासद प्रभाव एक प्रकार का मिश्र भाव है। यहाँ [भारतीयों ने] भयानक एक पृथक् रस माना है, वह यद्यपि करुण का मिश्र रस है, पर अनुकूल स्थिति पाकर स्थायीभाव न रहकर संचारी बन जाता है। उसके संयोग से किसी मिश्र रस या भाव की उद्‌बुद्धि नहीं होती। यद्यपि इष्टजन विछोह अथवा वध में त्रास हो सकता है, पर करुण में मृत्यु की अवस्था तक पहुँचना होता है, उसमें वध नहीं है। अतः करुण में कहीं त्रास नहीं है। यदि करुण में मृत्यु होती भी है तो वह बिना त्रास के भी हो सकती है। अरस्तू त्रासहीन करुण को आदर्श नहीं मानते। इसलिए अरस्तू का आनन्द अभावात्मक है और भारतीयों का भावात्मक।

करुण रस का आस्वाद और विरेचन-सिद्धान्त—अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त भारत के रस-सिद्धान्त से बहुत भिन्न नहीं है। प्रकारान्तर से वह रस-सिद्धान्त में अन्तर्भूत है। क्योंकि रस-विरेचन के दो अंग है—(१) अतिशय उत्तेजन द्वारा मनोवेगों का शमन व (२) तज्जन्य मनःशान्ति। मनोवेगों की अत्यधिक उत्तेजना स्थायीभावों के चरमोत्कर्ष के समान ही हैं। और मनः शांति रस-सिद्धान्त की 'समाहिति' की अवस्था है। इस 'समाहित' की अवस्था में पाठक या श्रोता का मन काव्यानन्द के आस्वाद में तत्पर हो जाता है। अतः त्रासदी का आनन्द या तो मनःशान्ति की स्थिति मात्र है या वह कला के आनंद से एकात्म है।

पर करुण रस के आस्वाद में और उक्त आस्वाद में अन्तर भी है। क्योंकि करुण रस उद्वेग का शमन मात्र न होकर उसका भोग है। यद्यपि इसमें भी भावों का परिष्कार होता है, पर रस उससे अलग है—वह तो राग-द्वेष से मुक्त है। इसके लिये तो आत्मा में सत्त्व का उद्रेक होना आवश्यक है। भारतीय आचार्यों ने आनन्द के विषय में भावात्मक और अभावात्मक—दोनों सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

इस सन्दर्भ में डा० नगेन्द्र का मत उद्धृत करना समीचीन होगा। उन्होंने भारतीय करुण रस के आस्वाद को विरेचन में कहाँ तक सफलता मिली है, इसका सुन्दर निदर्शन किया है। वह त्रासदी के आस्वाद की समस्या के ऊपर 'रस-सिद्धान्तों' में विचार करते हैं। अरस्तू ने विरेचन के सिद्धान्त के सम्बन्ध में लिखा है, "त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है....जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।" अर्थात् त्रासदी में शोक व त्रास अतिरंजित रूप में दिखाये जाते हैं—बाह्य उत्तेजना से प्रेक्षक के भाव व मनोविकार सहसा उत्तेजित होकर अभिव्यक्त हो उठते हैं और इस तरह उनके दंश का निराकरण हो जाता है। मनुष्य के मन में नाना प्रकार के भाव उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं। इनसे मुक्ति के दो उपाय डा० नगेन्द्र ने बताये हैं—(१) शमन (जिसका निर्देश प्लेटो ने किया है) और (२) अभिव्यक्ति (जिसको अरस्तू ने, प्लेटो के उत्तर में प्रस्तुत किया है। त्रासदी इनमें से दूसरे का आलम्बन लेती है।

पर यह सिद्धान्त काव्य के आस्वाद का अभावात्मक रूप से वर्णन करता

है, अर्थात् दुख का अभाव = आनन्द । यद्यपि यह समाधान दुःखवाद पर आधारित है, पर यह आनन्द का सर्वाङ्ग नहीं है । शोपेनहोर ने भी दुःखवाद के माध्यम से समाधान दिया है और बौद्ध दर्शन भी दुःखवाद पर आश्रित है । बौद्ध दर्शन दुःख को आद्यरस मानता है, इसीलिये करुण रस में आनन्द है, क्योंकि सत्य की उपलब्धि में आनन्द होता है । पर यह करुणा का साकारात्मक रूप है, जबकि अरस्तू दुःख का अभाव ही आनन्द मानते हैं । हमारे यहाँ दुःख में भी सुख का क्षनुभव किया गया है । डा० नगेन्द्र के अनुसार—

"आनन्द की परिकल्पना हमारे यहाँ बड़े गम्भीर रूप में की गई है—वह मनोरंजन, लज्जत या प्लेजर का पर्याय नहीं है । इसीलिए भारतीय दर्शन में उसकी उपमा समुद्र से दी गई है । जीवन के सुख-दुख जिसकी लहरों के समान हैं । जिस प्रकार असंख्य लहरों को अपने वक्ष पर खिलाती हुई समुद्र की अन्तर्धारा आत्मस्थ बहती रहती है, इसी प्रकार अनेक करुण-मधुर अनुभूतियों से खेलती हुई आत्मा या चेतना की अन्तर्धारा अपने सुख में निरन्तर प्रवाहित रहती है । उदात्त काव्य, चाहे वह शृङ्गारमूलक हो या करुण-मूलक, सहृदय के मन को शृंगार और करुण की लौकिक अनुभूति से नीचे इसी अन्तर्धारा में निमज्जन का सुयोग प्रदान करता है । इसी अर्थ में रस अखण्ड है और उसमें आस्वाद-भेद नहीं है ।"

यही भारतीय और पाश्चात्य मत का भेद है ।

विरेचन-सिद्धान्त का महत्त्व—अरस्तू ऐसा प्रथम विचारक था जिसने काव्य पर अश्लीलता और अनैतिकता के लगाये गए आरोपों का विरेचन के सिद्धान्त द्वारा निराकरण किया । उसने स्पष्ट किया कि काव्य भावनाओं का परिष्कार करता है । उससे काव्य की इस समस्या का भी समाधान हुआ कि दुःखमूलक भावों द्वारा सुख कैसे प्राप्त होता है । यही कारण है कि अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त का परवर्ती मनोवैज्ञानिक समालोचकों तक पर प्रभाव पड़ा ।

प्रश्न ५—मैथ्यू आर्नाल्ड का पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के विकास में दिये गए योगदान का उल्लेख कीजिए ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षकों में मैथ्यू आर्नाल्ड का विशेष स्थान है । वह काव्य को जीवन की व्याख्या करने वाला एक माध्यम मानते थे ।

वह काव्य की व्यावहारिक उपयोगिता तथा आवश्यकता पर बल देते हैं और मानते हैं कि साहित्य तथा उसकी समस्याएँ जीवन की समस्याओं से अविछिन्न हैं। अतः साहित्य का मूल्यांकन भी जीवन के संदर्भ में ही होना चाहिये। जो साहित्य जीवन से असम्बद्ध है, वह व्यर्थ है और उसकी मीमांसा की भी कोई उपादेयता नहीं है। यही कारण है कि वह 'साहित्य आत्माभिव्यक्ति का साधन है', मानने की अपेक्षा 'साहित्य को जीवन की आलोचना' मानते हैं।

आर्नाल्ड ने काव्य को लोकमंगल की दृष्टि से देखा है, अतः उसका प्रयोजन भी आनन्द न होकर जीवन की पूर्णता का ज्ञान कराना, मानव का आत्म-विकास और समाज का उत्थान करना है। आर्नाल्ड के अनुसार किसी साहित्य की समीक्षा के समय समालोचक का दृष्टिकोण यह नहीं होना चाहिए कि वह कला की दृष्टि से कितना उत्कृष्ट है, अपितु यह होना चाहिए कि युग की सामाजिक आवश्यकताओं की वह कितनी पूर्ति करता है और उसमें नैतिक मान्यताओं का कहाँ तक समावेश हो सकता है।

उत्तम साहित्य की विशेषताएँ—मैथ्यू आर्नाल्ड ने साहित्य की तीन विशेषताएँ मानी हैं—(१) महान् कृत्य को काव्य का विषय बनाना, (२) स्पष्ट प्रणयन करना और (३) अभिव्यंजना को कम-से-कम स्थान देना। उपयुक्त शैली में रची गयी रचना ही उनके अनुसार आनन्द प्रदान करने में सक्षम होती है। अरस्तू की तरह आर्नाल्ड भी कथानक और कार्य को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं।

लोगों का विचार था कि विषय की अपेक्षा विषय-प्रतिपादन का अधिक महत्त्व है, पर आर्नाल्ड उससे सहमत नहीं। उन्होंने मनोदशा की अभिव्यक्ति को ही सर्वोत्कृष्ट काव्य नहीं माना और इसका उत्तर देते हुए स्पष्ट लिखा—

"No, assuredly, it is not, it never can be so."

वह कार्य, उसके चयन और निर्माण—तीनों को विशेष महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार 'सब कुछ विषय पर निर्भर है, उपयुक्त कार्य का चयन कर लो, उसकी स्थितियों के मूल में निहित भावना से तादात्म्य कर लो—यदि यह हो गया तो फिर सब अपने आप हो जायेगा।'

आर्नाल्ड, उत्कृष्ट कार्य-व्यापार कौन-से हैं, इसका भी उत्तर देते हुए लिखते हैं—"निश्चय ही वे (कार्य-व्यापार) उत्कृष्ट हैं जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें, उन मूलवर्ती भावनाओं को आन्दोलित करें

जिनका जातीय मानस में स्थायी वास होता है और जो काल-निरपेक्ष होते हैं।"

आर्नाल्ड काव्य के लिए 'सत्यं शिवं और सुन्दरं' का समावेश बहुत आवश्यक मानते हैं—सत्य और गम्भीर (High seriousness) को महत्त्व देते हैं—

"No one can deny that it is of advantage to a poet to deal with a beautiful world."

उनका विचार था कि काव्य में बाह्य तत्त्वों की अपेक्षा आन्तरिक तत्त्वों का अधिक महत्त्व है। यह आन्तरिक पक्ष सूक्ष्मता से चित्रित होना चाहिए और तभी काव्य स्थायी महत्त्व की वस्तु बन सकेगा और शाश्वतता, उसके अनुसार, प्राचीन विषयों में अधिक है, उनमें जिज्ञासा भी रहती है और उनके माध्यम से अधिकतम पूर्णता के साथ सत्य को उद्घाटित किया जा सकता है। वर्तमान तथा समसामयिक विषय अधूरे हैं। अतः उन्हें महान् काव्य के लिए वह अनुपयोगी मानते हैं। प्राचीन विषय ही सनातन मनोवेगों को उत्तेजित कर सकते हैं—उनमें भव्यता भी होती है। आधुनिक जीवन की घटनाएँ तो अस्थायी होती हैं।

आर्नाल्ड इस तरह कविता को महान् कार्य का प्रतिपादन मानते हैं और उसका उद्देश्य उच्चतम आनन्द प्रदान करना है। केवल मनोरंजन ही उसका लक्ष्य नहीं है, पाठक को स्फूर्ति व आनन्द देना और सहृदय के मन को सम्मोहित कर आह्लाद से भरने की शक्ति लाने का लक्ष्य हो। "वही कविता उत्तम है जिसमें निर्माण करने, पोषण करने और आनन्द प्रदान करने की शक्ति हो।"

उत्तम काव्य के लिए वह उत्कृष्ट शैली भी आवश्यक मानते हैं। उत्कृष्ट शैली क्या है, उसकी व्याख्या वह 'लास्ट वर्ड्स' में करते हैं, "यह शैली काव्य में तब आती है जब काव्यात्मक मनोवृत्ति वाला उच्चादर्श व्यक्ति किसी गम्भीर विषय का सरलता और स्वच्छता के साथ निरूपण करता है।"

उन्होंने उत्कृष्टता के लिए चार मानदण्ड निर्धारित किये हैं—(१) काव्यात्मकता, (२) उच्चादर्श, (३) सरसता और (४) सिद्धि।

उत्कृष्ट शैली काव्य के किसी विशेष अंश में अपेक्षित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण काव्य में उत्कृष्ट शैली होनी चाहिए। इसीलिए उन्हें कीट्स आदि

कवियों से शिकायत है कि वे काव्य के अंगों को तो समृद्ध बनाते हैं, परन्तु सम्पूर्ण कविता को बिम्बविधान आदि द्वारा उत्कृष्ट नहीं बनाते—

"We have peoms which seem to exist merely for the sake of single lines and passages; not for the sake of producing any total impression. We have critics who seem to direct their attention merely to detached expressions, to the language about the action, not to the action itself."

न्यूनताएँ—आर्नाल्ड ने काव्य के लिए जो प्राचीन विषयों को उच्चतम माना है, यह कुछ आलोचकों को सही नहीं लगता कि समसामयिक जीवन और उसकी समस्याएँ उदात्त नहीं होतीं। जब आर्नाल्ड यह स्वीकार करते हैं कि यह युग भौतिक उन्नति और विज्ञान की समृद्धि का युग है तो फिर वह इस युग की समस्याओं पर विचार करना क्यों नहीं चाहते। यदि शाश्वतता का प्रश्न है तो वह प्राणियों को अपने युग में ही खोजना होगा। फिर, एक ओर यह भी मानते हैं कि आधुनिक या प्राचीनता से काव्य-विषय की उपयुक्तता का कोई सम्बन्ध नहीं—

"Modernness or antiquity of an action....has nothing to do with its fitness for poetical reprersentation."

फिर यदि सामयिक जीवन को काव्य से बहिष्कृत कर दिया जायेगा तो मानव अपने युग से कट जायेगा, न तो उसे समझ ही पायेगा और न ही उसका कोई विश्लेषण ही कर पाएगा। अतः पुरातन के साथ आधुनिक विषयों को भी कविता में उचित स्थान देना आवश्यक है। आर्नाल्ड के सम्बन्ध में जेम्स का कथन है कि वह पुराने विषयों के आतंक के समक्ष नवीन विषयों की शक्ति व क्षमता पहचान ही नहीं पाए; यथा—

"His faith in the guidance of pre-eminent models........ tended to hide from him the potential excellence of the new and untried."

दूसरा दोष यह है कि आर्नाल्ड शैली में सरलता और स्वच्छता (Serenity) आवश्यक मानते हैं, पर उन्होंने यह नहीं बताया कि क्या कारण हैं जिनके कारण जटिल शैली का बहिष्कार किया जाना चाहिए। सच तो यह

है कि जटिल शैली में भी उत्तमोत्तम ग्रन्थों की रचना हुई है, जिनका बहिष्कार कथमेव सम्भव नहीं है।

आलोचक और आलोचना सम्बन्धी विचार—आर्नाल्ड ने बताया कि आलोचक का समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है, आलोचक में कौन-कौन-से गुण अपेक्षित हैं और वे क्या आधार हैं जिनसे श्रेष्ठ रचनाएँ चुनकर उनका प्रसार किया जा सकता है ?

वह जीवन की आलोचना को ही साहित्य मानते हैं। अतः उनके अनुसार आलोचक के लिए सर्वोच्च विचारों व ज्ञान की जानकारी आवश्यक है। वह उन्हें सोचे, समझे और फिर समन्वय करके साहित्य में प्रयोग करे। इस प्रकार आलोचक में तीन गुण होने चाहिए—(१) पढ़ने-समझने और वस्तुओं के यथार्थ रूप परखने की क्षमता; (२) सीखे हुए ज्ञान का दूसरों तक प्रसार करने का गुण, ताकि उत्तम भावनाएँ संसार में फैलकर उसे बदल सकें। आलोचक में इसलिए धर्म-प्रचारक जैसा उत्साह एवं कर्मठता होनी चाहिए। (३) रचना-शक्ति की क्रियाशीलता के लिए उपयुक्त वातावरण के निर्माण की क्षमता, ताकि उच्च भावनाओं के प्रेषण से रचनात्मक प्रतिभा को पोषण प्राप्त हो। इस प्रकार, एक ओर तो वह लेखक के नये आयाम को प्रस्तुत करता है—उन्हें सद्-साहित्य लिखने की प्रेरणा प्रदान करता है—तो दूसरी ओर वह सामाजिकता के प्रति भी उत्तरदायी है। वह समाज में स्वस्थ साहित्य और उच्चकोटि के ज्ञान का वाहक है।

आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह ऐसा वातावरण तैयार करे जिसमें उदात्त भावनाओं से युक्त रचनाएँ फल-फूल सकें। इस दृष्टि से आलोचक का दायित्व अधिक हो जाता है, उसमें धर्म-प्रचारक (Missionary spirit) जैसा उत्साह व कर्मठता भी अनिवार्य है।

आलोचकों के गुणों का उल्लेख करते हुए आर्नाल्ड ने उसे निष्पक्ष होना आवश्यक माना है। निष्पक्ष होने से तात्पर्य यहाँ पर यह नहीं है कि वह पूर्वाग्रहविहीन अथवा तटस्थ होकर रचना करे, वरन् उसके अनुसार निष्पक्ष का अर्थ है कि आलोचक उन बातों से मुक्त हो जो बौद्धिक तथा नैतिक पूर्णता के मार्ग में बाधक होती हैं। दूसरे, उसने आलोचक के लिए अन्धभावुकता से भी मुक्त होना आवश्यक माना है।

मध्य वर्ग के झूठे विचारों से भी बचे रहने की उसने आलोचकों को

प्रेरणा दी है। उसके अनुसार, इस वर्ग के लोग रूढ़िवादिता, धर्मान्धता व्यापार, धनार्जन तथा विलास में लिप्त रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते हैं। इस तरह निष्पक्ष का अर्थ आर्नाल्ड ने जो दिया है, वह यह हुआ कि असत्य और अर्ध-सत्य से दूर रहना, उन वस्तुओं से पृथक् रहना जो नगरों के यान्त्रिक जीवन से सम्बद्ध हैं और आध्यात्मिक मूल्यों की अवहेलना करती हैं।

आर्नाल्ड ने नैतिक और सामाजिक पूर्णता की बात कहकर आलोचक पर प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। इस प्रकार एक ओर तो वह आलोचक को पूर्वाग्रह से मुक्त रहने को कहते हैं, दूसरी ओर नैतिक बन्धनों में आविष्ट करके उन्हें पूर्वाग्रहों की सीमा में ला पटकते हैं और इससे उसकी विवेक शक्ति और धारणा शक्ति पर धुन्ध का आवरण चढ़ा देते हैं।

आर्नाल्ड के अनुसार आलोचक का एक गुण यह भी होना चाहिए कि वह कवि के लिए भाव-भूमि तैयार कर सके। इस सम्बन्ध में वह लिखते हैं—

"The element with which the creative power works are ideas: the best ideas on every matter which literature touches, current at the time."

अर्थात् सर्जनात्मक साहित्य जिन तत्त्वों पर आधारित होता है—वे हैं विचार—वे विचार जो अपने समय सर्वश्रेष्ठ होते हैं और इन तत्त्वों को, इन पौष्टिक विचारों को आलोचक ही कवि को प्रदान करता है।

समीक्षा का रूप—आर्नाल्ड वास्तविक समीक्षा में जिज्ञासा की वृत्ति निहित मानते हैं। वह समीक्षा की व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का समर्थन करते हैं। डा० प्रतापनारायण टंडन के अनुसार, "वह यह मानता था कि उच्च और महती वैचारिक परम्पराओं की जीवंतता का निर्वाह भी समीक्षा का ही कार्य है। यदि कोई समीक्षात्मक रूप इतना भी करने में समर्थ है, तो उसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है।" यही समीक्षा उनके अनुसार सर्वोत्कृष्ट है।

देन—आर्नाल्ड की अंग्रेजी समालोचना को सबसे बड़ी देन यह है कि उसने कविता में मिथ्यात्व, आडम्बरप्रियता और छद्म के विरुद्ध आवाज उठायी। डा० शान्तिस्वरूप गुप्त के अनुसार, "उसने इनके स्थान पर सत्य, उदात्त, विचार, गरिमा आदि सद्गुणों की प्रतिष्ठा की। उसी ने हमें सिखाया

कि हम अतिवादिता, आडम्बर तथा अर्धसत्य का तिरस्कार करें और केवल सत्य को अपनाएँ।"

वस्तुतः मैथ्यू आर्नाल्ड का योगदान, अंग्रेजी समीक्षा के क्षेत्र में अद्वितीय है। उसका प्रभाव काफी समय तक न केवल इंगलैण्ड में, वरन् अमरीका के इमर्सन और हेनरी जेम्स तक छा गया। एक आलोचक के शब्दों में, "वह अंग्रेजी साहित्य का अरस्तू है, आलोचना के इतिहास में उसका स्थान अमर है और कीर्ति अक्षय।"

प्रश्न ६—पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के विकास में वर्ड्सवर्थ का क्या योगदान है ? सिद्ध कीजिए।

अथवा

वर्ड्सवर्थ के काव्यकला सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

पाश्चात्य साहित्य में रोमानी युग के प्रवर्तक विलियम वर्ड्सवर्थ ने कविता और काव्य-भाषा के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं, उनका उल्लेख करते हुए 'कविता की रचना-प्रक्रिया' के सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ के विचारों को स्पष्ट कीजिए और उनके योगदान की समीक्षा कीजिए।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विलियम वर्ड्सवर्थ ने काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का नव-शास्त्रवाद (Neo-Classicism) से सम्बन्ध तोड़कर एक नयी विचारधारा का प्रवर्तन किया जो 'स्वच्छन्दतावाद' के नाम से अभिहित की जाती है। अपने काव्य-संग्रह 'लिरिकल बैलेड्स' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में उन्होंने कवि, कविता तथा काव्य-भाषा के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ स्पष्ट की हैं। किन्तु उनके यही विचार अन्तिम विचार नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इसके बाद के लेखों में अपनी इन मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर किया है और उनका संशोधन परिशोधन भी किया है।

वर्ड्सवर्थ से पूर्व दान्ते ने काव्य को भावनाओं का सहज उच्छलन न मानकर उसे श्रमसाध्य तथा अभ्यास के द्वारा सम्भव माना था। उसने सामान्यजन की भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा को अपनाने की प्रेरणा दी। दान्ते के विचार में भाषा तो केवल विचाराभिव्यक्ति का माध्यममात्र है, महत्ता तो विचारों की है, कवि के लिए भाषा की वही उपयोगिता है जो एक सैनिक के लिए अपने घोड़े की होती है। यथा—

'The best soldiers should have the best horses, and in like manner the best speech is that which is suited to the best thoughts."

यही कारण था कि अठारहवीं सदी के अन्त तक कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण भाषा प्रचलित हो गयी थी। वर्ड्सवर्थ ने इसका विरोध किया और स्वच्छन्द भाषा के प्रयोग की उपादेयता पर विशेष रूप से बल दिया।

काव्य-भाषा एवं शैली सम्बन्धी विचार—वर्ड्सवर्थ ने प्रचलित काव्य-शैली और रूढ़ भाषा को अनुपयोगी मानकर उसका विकास व्यक्तिवाद और भावात्मकता के आधार पर किया। उन्होंने परम्परागत शैली को विकृत, विरूप, मिश्रित तथा भावहीन माना। टी० एस० इलियट की तरह वर्ड्सवर्थ ने भी सामान्य भाषा को अधिक उपादेय माना और उसी का समर्थन किया है।

वर्ड्सवर्थ से पूर्व कृत्रिम भाषा के लिए जो नियम-उपनियम बनाये गए थे, वे उनके विरुद्ध थे और मानवीकरण, वक्रोक्ति आदि के भी विरोधी थे; यहाँ तक कि वह काव्य-रचना में विपर्यय और वैषम्य के प्रति भी अरुचि ही प्रकट करते थे। अनावश्यक रूप से ठूँसी गयी पौराणिक कथाएँ तथा दन्त-कथाएँ भी उन्हें रुचिकर न थीं। समग्रतः वह कृत्रिमता तथा सीमित काव्य-रूपों को मान्यता देने के विरुद्ध थे। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए स्कॉट जेम्स लिखते हैं—

"Disgusted by the gaudiness and inane phraseology of many modern writers' he castigates poets who separate themselves form the sympathies of men and indulge in arbitrary and capricious habits of expression."

यदि कवि इनका प्रयोग युग-प्रभाव अथवा युगानुकूल रुचि के कारण करता है और उनमें सच्चे भाव निहित हों तो वर्ड्सवर्थ ने उन्हें कुछ सीमा तक क्षम्य माना है। पर वह स्वयं ही उलझे विचार प्रस्तुत करते हैं। काव्य-शैली के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ उन्होंने उठाई हैं, उनकी भाषा अत्यन्त शिथिल है; दूसरे, अपने काव्य में वह उन्हीं अनेक काव्योक्तियों का प्रयोग करते हैं जिनका वह पहले विरोध कर चुके थे। उनकी वाक्य-रचना भी कहीं-कहीं बड़ी दुरूह तथा उलझी हुई है। भावाभास (Pathetic Fallacy) और वक्रोक्ति का भी

प्रयोग मिलता है। साथ ही, वह वास्तविक रूपक तथा कृत्रिम रूपक का भेद भी निरूपित नहीं कर सके।

फिर भी वर्ड्सवर्थ ने काव्य में कृत्रिमता की अपेक्षा सरल भाषा के प्रयोग पर ही बल दिया है। जहाँ दान्ते ग्राम्यभाषा से दूर रहने (Avoid rustic language) की बात लिखते हैं वहाँ वर्ड्सवर्थ सरल और ग्रामीण जीवन से ही विषय-चयन करने का स्पष्ट परामर्श देते हैं। उनकी दृष्टि में कवि का कर्तव्य यह है कि—

"He should keep the reader in the compeny of flesh and blood."

वर्ड्सवर्थ गद्य और पद्य की भाषा में विशेष अन्तर नहीं मानते। गद्य की भाषा पद्य में परिवर्तित हो सकती है—दोनों भाषाओं में भी वह अपेक्षाकृत गद्य की भाषा को ही महत्ता देते हैं—

"....That language of prose may yet be well adopted to poetry....... and that a large portion of the language of very good poem can in no respect differ from that of good prose."

इस गद्य भाषा के समर्थन में वर्ड्सवर्थ तर्क देते हैं कि दोनों भाषाओं की अभिव्यंजना करने वाली इन्द्रिय तथा दोनों को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय एक ही है और इनकी राग-रुचि भी परस्पर समान होती है।

जनसाधारण की भाषा से तात्पर्य—अब प्रश्न स्वतः यह उठ खड़ा होता है कि वर्ड्सवर्थ का जनसाधारण की भाषा से क्या तात्पर्य था। उसके ग्रन्थों में 'Lyrical Ballads' को छोड़कर किसी भी अन्य ग्रन्थ से ग्राम्यभाषा का प्रयोग नहीं मिलता। उन्होंने बाद में सुधार और परिवर्द्धन की बात जो कही है कि भाषा 'Selection of the real language of men', होनी चाहिये, इससे स्पष्ट होता है कि वह सामान्य भाषा को ज्यों-का-त्यों अपनाने के पक्ष में नहीं हैं, वरन् उसमें चुनाव करना आवश्यक समझते हैं। अतः सरल भाषा से वर्ड्सवर्थ का तात्पर्य, अभिव्यक्ति की सरलता से है जो आडम्बरहीन, स्वाभाविक और सजीव हो तथा पाठक के मन में उलझन अथवा अरुचि उत्पन्न न कर आह्लाद उत्पन्न करे। इसीलिए वह भाषा में चुनाव की बात करते हैं, जिससे ग्राम्यत्व एवं शैथिल्य आदि दोषों से यथासम्भव बचा जा सके।

वस्तुत: वर्ड्सवर्थ का भाषा-शैली सम्बन्धी मत काव्य-सम्बन्धी विचारों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। वह कविता को तीव्रतम भावावेग का उच्छलन (Spontaneous overflow of powerful feelings) मानते हैं और यह सदा सत्य है कि भावावेग के समय हृदय से जो भाषा निष्पन्न होती है उसमें स्वाभाविकता, सरलता एवं सजीवता होती है, वहाँ आडम्बर नहीं होता—वह प्रसाद गुण से ओतप्रोत होती है। पर द्रष्टव्य यह है कि ग्राम्यत्व आदि दोषों से बचने के लिए ही, वर्ड्सवर्थ ने विवेकहीन व्यक्ति का भावोच्छलन न मानकर कविता को विचारवान व्यक्ति का भावोच्छलन माना है। कॉलरिज भी कवि को विवेकयुक्त प्राणी मानते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि तीव्र भावावेग के समय भी भाषा में कवित्व-शक्ति के प्रभाव से अनेक अलंकारों, वक्रोक्ति आदि का समावेश हो जाता है, तो वर्ड्सवर्थ उसे कृत्रिमता नहीं मानते। कृत्रिमता वह है जो ऊपर से चिंतन आदि द्वारा लादी गयी हो और जो भाषा को बोझिल बनाये। उनके अनुसार कवि जितना भाषा के निकट पहुँचेगा, उसकी भाषा-शैली उतनी ही सच्ची होगी और कवि-कर्म में सफलता प्राप्त होगी—

"The Language of the poets falls short of that which is uttered by men in real life, under the actual pressure of those passions."

भाषा में छन्द का प्रयोग—वर्ड्सवर्थ भाषा को छन्दमयी मानते हैं, छन्द के कारण ही कवि एक विशिष्ट भाषा का प्रयोग करता है और भाषा के चुनाव की ओर ध्यान देता है। उनका मत है, "वह नियमित और एक रूप होना चाहिए—काव्यसरणि (पोएटिक डिक्शन) के अनुसार मनमाना, अपरिमित मानसिक कल्पनाओं का विषय न होना चाहिए जिसका कुछ हिसाब-किताब ही न लगाया जा सके। एक अवस्था में पाठक को पूर्ण रूप से कवि की दया का पात्र रहना पड़ता है; जिस किसी बिम्ब अथवा शैली से वह मनोभावों का सम्बन्ध स्थापित करे, उसके प्रति उसे सम्मान का भाव प्रदर्शित करना होता है। दूसरी अवस्था में, छन्द कतिपय नियमों में बँधकर चलता है, जिसे कवि और पाठक—दोनों स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे निश्चित होते हैं तथा उनकी ओर से मनोभावों में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं किया जा सकता।"

यद्यपि कॉलरिज आदि ने वर्ड्सवर्थ की पद्य-गद्य की भाषा में तात्त्विक समानता का खण्डन किया है; फिर भी यह निर्विवाद है कि वर्ड्सवर्थ का उद्देश्य भाषा से कृत्रिमता का बहिष्कार करना था। उन्होंने कृत्रिम वागाडम्बर के विरुद्ध आवाज उठायी और काव्य-भाषा को एक नवीन दृष्टि प्रदान की। पुरानी बातों के परिवेश में काव्य को नया रूप दिया और काव्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की आवश्यकता पर बल दिया।

काव्य के गुण—'सत्यं, शिवं सुन्दरं' के आधार पर ही वर्ड्सवर्थ ने काव्य के लिए भावों का सहज उच्छलन आवश्यक माना है और कहा है, "काव्य के द्वारा पाठक का मस्तिष्क प्रबुद्ध होना चाहिए और भाव सशक्त व शुद्ध बनाये जाने चाहिए।" भावनाओं को महत्त्व देने के कारण ही कविता के लिए वह सामान्य जीवन की सहज घटनाओं के चयन की बात कहते हैं; क्योंकि सामान्य जीवन में भावों की तीव्रता के लिए विशेष स्थान है। इसी आधार पर वह काव्य की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि काव्य मानव-मन की तीव्रतम भावनाओं का सहज उच्छलन है तथा उसका उद्भव शान्त अवस्था में भाव के स्मरण से होता है—

"All good poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquility."

इसमें वर्ड्सवर्थ ने सहजता पर विशेष बल दिया है। वह काव्य-रचना के समय सहज भावावेग के साथ-साथ यह भी मानते हैं कि कवि का मानस उस प्रेरणा-क्षण से पूर्व ही गहन-चिन्तन, मनन और अध्ययन कर चुका होता है और उसकी वृत्तियाँ सद् हो जाती हैं। उन्होंने कलात्मक सौन्दर्य को आवश्यक माना है, पर उसमें कृत्रिमता को आवश्यक बताया है। भावावेग में अनायास ही जो सौन्दर्य-रत्न आजाये, काव्य में उन्हीं का समावेश हो और ये कितने आते हैं, यह कवि की कौशल-क्षमता पर ही निर्भर करता है।

काव्य-प्रयोजनों पर विचार—वर्ड्सवर्थ के अनुसार काव्य की उपयोगिता यही है कि वह या तो पाठकों के हृदय पर सद्प्रभाव डाले, उनका ज्ञान-वर्द्धन करे या उनकी मानसिक व नैतिक भावनाओं का परिष्कार करे। सद्काव्य पाठकों की भावनाओं को सन्तुलित, विवेकपूर्ण, शुद्ध, स्थायी तथा प्रकृति के अनुरूप बनाता है। कविता पढ़कर पाठक के मन की उदासीनता तथा भावना-

त्मक जड़ता समाप्त हो जाये और वह जगत् के रहस्य व मूलप्रकृति को समझ सके—

Readers must be humbled and humanised, in order that they may be purified and exalted."

समय के साथ-साथ वर्ड्सवर्थ काव्य में नैतिकता के समावेश की बात भी कहते हैं कि काव्य एक अध्यापक के समान शिक्षा भी देता है—

"Every great poet is a teacher, I wish either to be considered as a teacher or as nothing."

फिर भी वर्ड्सवर्थ काव्य को नैतिक सत्यों का प्रचारक मात्र नहीं मानते, उसका एक आवश्यक प्रयोजन आनन्द प्रदान करना भी है—

"We have no sympathy but what is propagated by pleasure."

योगदान—उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ड्सवर्थ ने विज्ञान और काव्य—दोनों को सौन्दर्य-बोध में सहायक मानते हुए भी कवि के ज्ञान को विशेष महत्त्व दिया है, क्योंकि वह प्रकृतज्ञान है जबकि वैज्ञानिक का उपलब्ध ज्ञान है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को कृत्रिमता तथा वागाडम्बर की सीमित परिधि से निकाल कर भावोच्छ्वासों की विशद् भूमि पर ला खड़ा किया और उसमें भाव-तत्त्व की प्रतिष्ठा की है। उनका सबसे बड़ा योनदान यही है कि उन्होंने काव्य-भाषा में जन-साधारण के भावों को महत्त्व दिया।

प्रश्न ७—टी० एस० इलियट की आलोचना-प्रणाली का विश्लेषण करते हुए पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के विकास में उसके योगदान का निरूपण कीजिए।

टी० एस० इलियट के समीक्षात्मक विचार प्रासंगिक रूप से उन्हीं स्थलों पर मिलते हैं, जहाँ उन्होंने यूरोपीय साहित्य के विविध अङ्गों पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है। इलियट ने काव्यालोचन के सम्बन्ध में कारयित्री और भावयित्री और—दोनों शक्तियों को एक-दूसरे का पूरक माना है। इसी से उनके समीक्षा-सम्बन्धी विचारों के अध्ययन के लिए उनकी कविताओं का अध्ययन आवश्यक है और कविताओं के अध्ययन के लिए उनके काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन आवश्यक है।

आजकल ऐसा देखा जाता है कि एक ओर तो वैशिष्ट्य की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है तो दूसरी ओर विविधता की ओर भी साहित्यकारों का झुकाव है। इसी से उसने परम्परानुगामिता की प्रवृत्ति की दुरूहता की ओर संकेत किया है। इस सन्दर्भ में उसने बताया है कि किसी कवि द्वारा प्रतिपादित समीक्षात्मक सिद्धान्त वैचारिक पूर्णता तथा स्वतन्त्रता की दृष्टि से तो महत्त्व रखते ही हैं, साथ ही उस विशिष्ट कवि द्वारा रचे गये क्रियात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भी महत्त्वहीन नहीं होते।

साहित्य और कवि—कवि के विचारों की अपनी भावभूमि होती है; यह निजी आधार ही साहित्य का सर्जक होता है। इस प्रकार कवि का दृष्टिकोण उसके साहित्य के द्वारा ही देखा और परखा जा सकता है। इस प्रकार जब कवि किसी समीक्षात्मक अंश की रचना करता है तो उसमें भी उसके विशिष्ट दृष्टिकोण की ही प्रमुखता होती है। डा० प्रतापनारायण टण्डन ने इसे दूसरे दृष्टिकोण से समझाया है। वह लिखते हैं, "जब काव्य तथा समीक्षा—इन दोनों माध्यमों से साहित्यकार अपने एक ही विशिष्ट दृष्टिकोण को अभिव्यक्त तथा पुष्ट करता है, तो उसे एक ही रूप में अधिक मान्यता नहीं मिलती, वरन् दोनों रूपों से उसका महत्त्व समान रहता है। इस प्रकार कोई भी जागरूक साहित्यकार अपने युग की चेतना की निर्मिति में यदि अपनी कविता द्वारा योग देता है तो उसका समीक्षात्मक साहित्य भी उसे अनिवार्य रूप से प्रभावित करता है।"

और सच तो यह है कि यह दृष्टिकोण स्वयं इलियट पर भी उसी रूप में लागू होता है, क्योंकि, इलियट ने आधुनिक साहित्य जगत् को अपने काव्य से जितना प्रभावित किया है, कम-से-कम उतना ही अपने समीक्षात्मक विचारों से भी अनुप्रेरित किया है।

इससे एक और तथ्य तथा समस्या का समाधान मिलता है कि आजकल प्रत्येक कवि किसी-न-किसी मत का समर्थक होता है और उसी का अपने काव्य में प्रचार-प्रसार—वैचारिक रूप से—करता है। इन मतों में कभी-कभी एक-दूसरे का रुचि-वैभिन्य के कारण विरोध भी रहता है—कोई कवि किसी मत का समर्थन करता है और दूसरा कवि किसी दूसरे मत का। इसके साथ ही, समीक्षक की भी अपनी रुचि होती है। यदि किसी कवि के मत से समीक्षक की रुचि नहीं मिलती तो वह अपनी रुचि विशेष के कारण साहित्य का आकलन

निष्पक्ष रूप से नहीं कर पाता और ऐसी स्थिति में खण्डन-मण्डन रूपी वैचारिक युद्ध-सा आरम्भ हो जायेगा। इस वैचारिक युद्ध से बचने के लिए इलियट ने कवियों को यह सुझाव दिया है कि वे अपने साहित्य में युगीन चेतना लाने वाले विचारों की भावयित्री प्रतिभा से समाविष्ट करें तो साथ ही उन विचारों की कारयित्री प्रतिभा से समीक्षा भी प्रस्तुत करें।

आलोचना की समस्याएँ—आलोचना के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए इलियट उन्हें दो सैद्धान्तिक सीमाओं में आबद्ध करते हैं—कविता क्या है, और क्या कविता उत्कृष्ट वस्तु है—इन दोनों पर विचार करते हुए इलियट ने स्वयं कहा है—"कोई भी सैद्धान्तिक कौशल दूसरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए पर्याप्त नहीं होगा, क्योंकि किसी भी ऐसे सिद्धान्त का कोई विशेष महत्त्व नहीं जो उत्कृष्ट कविता के प्रत्यक्ष अनुभव पर अवलम्बित न हो। कविता का हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बहुत दूर तक विवेचन के सामान्यीकरण पर आश्रित रहता है।"

इलियट ने आलोचना को सीमाबद्ध करते हुए इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि आलोचना द्वारा परम्परा का अनुगमन करना रूढ़िवाद नहीं है। क्योंकि प्राचीन परम्पराएँ मानव के भावी जीवन के विकास की आधारभूमि होती हैं और इस प्रकार वे प्राचीन परम्पराएँ वर्तमान को भी प्रभावित करती हैं। वर्तमान के आधार पर ही अतीत का मूल्यांकन होता है। इसलिए अतीत की परम्पराओं की उपेक्षा सर्वथा सम्भव नहीं है। हाँ, इनका पूर्ण आशय लेना भी अयुक्ति-संगत है; क्योंकि नवीन विचारों और स्थितियों के सन्दर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में ही आलोचना को देखना चाहिए। कारण, आलोचना दो दृष्टिकोणों से होती है—(१) कवि के तात्कालिक समय की पुष्टि से कवि का मूल्यांकन करने के लिए—इसके लिए कवि-युगीन दृष्टि की अनिवार्यता है; और (२) वर्तमान समय में उसकी उपादेयता—वर्तमान पर दृष्टि केन्द्रित करके इस प्रकार की आलोचना की जाती है।

उत्कृष्ट आलोचना-प्रणाली—'द फंक्शंस ऑफ क्रिटिसिज्म' नामक निबन्ध में इलियट ने बताया है कि समीक्षा की कौन-सी प्रणाली उत्कृष्ट है और कौन-सी निकृष्ट। इलियट का विचार है कि उत्कृष्ट आलोचना का प्रमुख उद्देश्य सहृदय में एक ऐसी दृष्टि निर्मित करना है जिससे वह साहित्य के

अध्ययन तथा रसास्वादन की क्षमता उत्पन्न कर सके, अर्थात् अध्येता को रसास्वादन करने की क्षमता देना अथवा उसकी दृष्टि को समझ-बूझ का माद्दा देना ही उनके अनुसार आलोचना का उद्देश्य है, और वही आलोचना-प्रणाली उत्कृष्ट होगी जो ऐसी दृष्टि प्रदान करे। इलियट ने यह बात समग्रता के आधार पर कही है और खण्डन-मण्डन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। यही बात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि आलोचना का दृष्टिकोण लोक-दृष्टि होना चाहिए।

काव्य एवं नाटक की भाषा के सम्बन्ध में विचार—इलियट ने बताया है कि नाटक की रचना करते समय गद्य का ही प्रयोग करना चाहिए, पद्य का नहीं। इसका कारण यह है कि नाटक के प्रयोजन और विश्लेषण के संदर्भ में भाषा का प्रश्न गौण है, वह तो एक माध्यम है। अतः अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए गद्य की भाषा का प्रयोग ही उत्तम है। यदि कवि पद्य ही प्रयोग करना चाहे तो कर ले, पर गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण नहीं होना चाहिए। साथ ही, जहाँ तक कविता की भाषा का प्रश्न है, उसमें उच्चता का गुण अति-आवश्यक है। काव्य में कल्पना का प्रयोग भी होता ही है, पर उसकी अति-शयता न हो, वह यथार्थ के धरातल से बिलकुल दूर न चली जाएँ; कल्पना के उन्मुक्त आकाश में विचरण भले ही करे पर छाया पृथ्वी पर ही आये अथवा विश्राम के लिए आश्रय-स्थल धरती का ही हो। इसी से वह विचारों की तीव्रता की अपेक्षा कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता पर विशेष बल देते हैं। डॉ० कृष्णवल्लभ जोशी ने इलियट के योगदान का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"आज वह पाश्चात्य साहित्य के क्षेत्र में युगान्तरकारी और नवीन धारा का प्रवर्त्तक माना जाता है। उसके काव्य-चिन्तन और कविता दोनों ने ही न केवल यूरोपीय और अमरीकी साहित्य को प्रभावित किया, अपितु जापान और भारत आदि देशों का आधुनिक साहित्य भी इलियट के काव्य-चिन्तन के प्रभाव से मुक्त नहीं है।"

प्रश्न ८—पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के विकास में होरेस के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

रोमीय आलोचक होरेस (६५ से ८ ई० पू०) ने अपने ग्रन्थ 'आर्स पोएतिका' में काव्य, नाटक, औचित्य आदि काव्यशास्त्र सम्बन्धी अपने विचार दिये हैं। इनके विवेचन में सूक्ष्मता तो इतनी नहीं है, पर वह व्यावहारिक

दृष्टि से अधिक विचार करते हैं। इन्हें चिन्तन-प्रधान न मानकर विद्वानों ने व्यवहार-प्रधान माना है। इसीलिए ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्त्व बहुत अधिक है और साथ ही नूतनता की दृष्टि से भी।

काव्य-सम्बन्धी विचार—होरेस पर अरस्तू का काफी प्रभाव था। इसलिए काव्य के स्वरूप, काव्य की प्रकृति आदि के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ अरस्तू से प्रभावित हैं। अरस्तू की तरह होरेस भी काव्य को जीवन का अनुकरण मानते हैं। नाटक को तो वह स्पष्ट ही जीवन का अनुकरण मानते हैं, पर यह अनुकरण पुनरावृत्ति न होकर होरेस के अनुसार पुनःसृजन (Re-creation) है।

होरेस कविता का सम्बन्ध नवीन उद्भावना और प्रक्रिया से मानते हैं। अतः अनुकरण के अतिरिक्त कवि अपनी प्रतिभा के बल पर भी काव्य की सर्जना कर सकता है। इसीलिए काव्य हेतुओं में उन्होंने अन्तर्दृष्टि और शास्त्रज्ञान दोनों को महत्त्व दिया है। अन्तर्दृष्टि से उनका तात्पर्य प्रतिभा से है और शास्त्रज्ञान का सम्बन्ध अभ्यास तथा प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन और मनन है। होरेस इन दोनों के समीकरण पर विशेष बल देते हैं और दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं—

"For my part I fail to see the use of study without wit, or without training: so true is it that each requires the other's aid in helpful union."

अर्थात् बिना प्रतिभा के अध्ययन का और बिना अभ्यास के प्रतिभा का कोई उपयोग नहीं। अतः सत्य तो यह है कि दोनों को एक-दूसरे का सहयोग अपेक्षित होता है।

होरेस के अनुसार कवि की काव्य-रचना का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है या आह्लाद; या फिर दोनों ही। इससे पाठकों को आह्लाद और शिक्षा दोनों की ही प्राप्ति होती है। जो कवि उपयोगिता और आनन्द का संश्लेषण करता है वही सफल कवि होता है। अतः होरेस पाठकों के भावों का उद्वेलन और उनकी आत्मा पर विजय, कविता का आवश्यक गुण मानते हैं।

कविता या तो उदात्त होती है अथवा दूषित और घृणित ही होती है। अतः उत्कृष्ट काव्य के लिए वह सहज विवेकशक्ति तथा सही चिन्तन को

परम आवश्यक मानते हैं। यथा : "The secret of all good writing is sound judgment."

होरेस काव्य की क्षमता का वर्णन करते हुए उसे शिवं एव सुन्दरं से युक्त ही नहीं, रसोत्पादन की क्षमता से युक्त—मन को लुभाने की शक्ति से युक्त मानते हैं। विषय चाहे कैसा भी क्यों न हो, वह सरल और संगत होना चाहिए तथा इसमें पाठक के मन को रमाने की शक्ति होनी चाहिए।[1]

काव्य का लक्ष्य राष्ट्र की संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखना है और उसे समाज की बर्बरता से मुक्त करना है; सभ्य समाज की नींव डालना है, वीर-हृदयों में शौर्य का संचार करना है; साथ ही श्रम तथा कुण्ठा आदि से परिक्लान्त मनुष्य को आह्लाद प्रदान करना भी है।

होरेस आडम्बरपूर्ण शैली के विरुद्ध हैं। वह सरल शैली के समर्थक हैं। उनका विचार है कि उदात्त शैली का प्रायः अन्त तक निर्वाह नहीं हो पाता, इससे पाठक को निराशा होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि कथा को धीरे-धीरे उठाया-बढ़ाया जाये और तदनुसार पाठक के उद्रेक को भी शनैः शनैः चरमोत्कर्ष पर लाया जाये। काव्य के आरम्भ, मध्य और अन्त—तीनों में एक ही सी अन्वित और संगति आवश्यक है। यद्यपि होरेस काव्य में कल्पना का प्रयोग आवश्यक मानते हैं, क्योंकि इससे काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि होती है और वह आकर्षक लगता है, पर उनके अनुसार यह कल्पना इतनी अधिक अस्वाभाविक नहीं होनी चाहिए कि वह यथार्थ से दूर चली जाये; अर्थात् कल्पना काव्य के लिए आवश्यक है पर वह अत्यधिक असीमित नहीं होनी चाहिए—

"Fictions made to pleasc should keep closc to the truth of things; your play should not demand an unlimited credence."

डा० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, "आनन्दात्मकता तथा शिक्षात्मकता दोनों को ही उसने काव्य के उद्देश्य के रूप में मान्य किया है। अपने निजी काव्य में होरेस सशक्त अभिव्यक्ति के लिए विख्यात है। उसका

---

1. "It is not enough for poems to be fine; they must charm and draw the mind of Listener at will."

मत है कि यह विशेषता पाठक के मन में तद्रूप भावोद्रेक में सहायक होती है।"

होरेस ने काव्य की दो कोटियाँ मानी हैं—एक तो श्रेष्ठकाव्य और दूसरा हीनकाव्य। उनका विचार है कि जो काव्य श्रेष्ठ न होगा वह निश्चित रूप से हीन और निम्नकोटि का काव्य होगा।

काव्य का वर्गीकरण—काव्य का वर्गीकरण करते समय उन्होंने उच्चकाव्य और हीनकाव्य के अतिरिक्त काव्य के दो भेद और किये हैं—व्यंग्य-काव्य और प्रहसन। उनके विचार से व्यंग्य-काव्य का प्रयोजन व्यक्ति या समाज के दोषों का निराकरण करता है। और ये दोष, होरेस के अनुसार, व्यंग्य-काव्य ही दूर कर सकता है। इसका फल तात्कालिक होता है। जो कार्य तर्क से नहीं हो सकता वह व्यंग्य से सरलता से हो जाता है। इसलिए उन्होंने व्यंग्य को विशेष महत्त्व दिया है पर साथ ही व्यंग्य की सीमा भी बतायी है कि उसमें तीव्रता तथा कटुता की अपेक्षा मिष्टता और मधुरता होनी चाहिए। मिष्ट व्यंग्य जहाँ मनुष्य की सद्वृत्तियों को प्रेरित करता है, वहाँ कटु व्यंग्य उसे क्रुद्ध भी बना सकता है।

व्यंग्य-काव्य तथा प्रहसन के भेद का स्पष्टीकरण करते हुए होरेस ने लिखा है कि व्यंग्य-काव्य के पात्रों का हास्य सन्तुलित तथा शिष्ट होता है और प्रहसन के पात्रों में इसका अभाव होता है। व्यंग्य-काव्य सोद्देश्य होता है, जबकि प्रहसन मात्र मनोरंजनार्थ या निरा निरुद्देश्य भी हो सकता है।

काव्य की शैली—उच्चकोटि के काव्य के लिए होरेस ने शैली सम्बन्धी तीन गुण माने हैं—उपयुक्त शब्द चयन; सशक्त पर संक्षिप्त अभिव्यक्ति और स्पष्टता। वह मिश्रित शैली के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार शैली का स्वतन्त्र रूप से महत्त्व होता है; भाषा की प्रभावात्मकता-वृद्धि के लिए भी उनका प्रयोग आवश्यक है। सामान्य शब्दावली भी उत्कृष्ट शैली में सजीव हो उठती है। सुन्दर काव्य के लिए केवल शब्दों का उपयुक्त प्रयोग ही आवश्यक नहीं है, वरन् शब्दों की कुशल तथा सुरुचिपूर्ण योजना भी उतनी ही आवश्यक है। यदि भाषा चामत्कारिक न होकर सामान्य है, तब भी स्पष्टता के कारण ग्राह्य होती है। होरेस ने कभी वागाडम्बर को प्रश्रय नहीं दिया; स्पष्टता काव्य का, उसके अनुसार, परमगुण है, जब तक काव्य में स्पष्टता नहीं होगी, तब तक विषय समझ में नहीं आयेगा और पाठक या श्रोता को आह्लाद का अनुभव

नहीं होगा। होरेस ने छन्दों को विशेष रूप से महिमान्वित किया है। जो विषय एक विशेष छन्द में व्यंजित हो सकता है वह दूसरे प्रकार के छन्द में नहीं। महाकाव्य के लिए उसने षट्पदी, दुखपूर्ण विषय के लिए करुणगीत (Elegy), व्यंग्य लेख के लिए व्यंग्य (Satire), कामदी तथा त्रासदी के लिए द्विमात्रिक छन्द (Imbic), विजयगीत के लिए सम्बोधन गीत (ODE) तथा प्रेमगीत अथवा विरह-काव्य के लिए गीति (Lyric) को श्रेष्ठ बतलाया है।

औचित्य सम्बन्धी विचार—होरेस ने औचित्य पर विस्तार से विचार किया है। वह प्रत्येक विधा में तद्नुरूप वस्तु का उचित अनुपात आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक रूप की अपनी स्वतन्त्र इकाई होती है। उसका स्वतन्त्र रूप से निखार भी आवश्यक है। यदि कोई कलाकार किसी ऐसे प्राणी का चित्र खींचे जिसका सिर स्त्री का, शरीर पक्षी का और पूँछ मछली की-सी हो तो उसे जीवन से परे की वस्तु मानकर काल्पनिक कहा जायेगा और चूँकि ऐसा चित्र जीवन से सम्बद्ध न होगा, इसलिए या तो वह उपेक्षित होगा या उसका उपहास उड़ाया जायेगा।

होरेस के औचित्य सम्बन्धी विचार काव्य के प्रत्येक अंग-उपांग से सम्बद्ध हैं। अब हम प्रत्येक पर संक्षेप में विचार करेंगे।

विषय-औचित्य—होरेस ने परम्परागत सिद्धान्तों के संरक्षण पर बल दिया है। वह मानते हैं कि कथावस्तु परम्परागत होनी चाहिए और उनमें नवीन उद्भावनाएँ (Original treatment) करनी चाहिए। विषय भी ऐसा होना चाहिए जो कवि की सीमा और सामर्थ्य के अन्तर्गत हो—

'You act more wisely by dramatizing the Iliad than by introducing a subject unknown and hither to unsung."

परिचित कथानक में भी मौलिकता का समावेश हो सकता है, पर वह होना यथार्थ के धरातल पर ही चाहिए। उसे कथानक के वे अंश छोड़ देने चाहिए जो उसके द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति न पा सकें।

चरित्र-औचित्य—यथास्थिति के अनुसार पात्रों का चित्रण करना चरित्र-औचित्य है। यदि पात्र परम्परागत है तो उनकी चाल-ढाल, वेश-विन्यास, बोल-चाल सभी उसी स्थिति के अनुकूल होने चाहिए। चरित्र की प्रकृति के अनुरूप ही पात्र का चित्रण भी होना चाहिए। इस चित्रण के समय यह ध्यान

रखना चाहिए कि पात्र के कार्य, उसकी रुचि और उसके गुणावगुण उसकी वय और अवस्था के अनुकूल हों ।

होरेस ने चरित्र औचित्य के सम्बन्ध में जो विचार दिये हैं, वे उनके समय में ठीक थे और स्वयं अपने में ही पूर्ण हैं, पर बाद के समीक्षकों तथा काव्य-कलाकारों ने इसका अंधानुकरण करके चरित्रों को यांत्रिक बना दिया । फलतः चरित्र रूढ़ और स्थिर बनने लगे ।

अभिनय-औचित्य—होरेस अभिनय की औचित्यता पर भी बल देते हैं । अभिनय ऐसा होना चाहिए कि दर्शक पर उसका अनुकूल प्रभाव पड़े ! दर्शक उसमें तल्लीन हो जाये—न तो वह ऊबे और न ही उसकी खिल्ली उड़ाये । अभिनेता का अंग-प्रयंग संचालन, कथन की स्थिति और मनोदशा—सभी में सामंजस्य होना चाहिए ।

"Sad words suit a gloomy countenance, menacing words on angry; sportive words a merry look, stern words a grim one."

अर्थात् शोकग्रस्त व्यक्ति के द्वारा दुखपूर्ण शब्दों का उच्चारण उपयुक्त है, क्रुद्ध व्यक्ति के मुख से रोषपूर्ण शब्दों का प्रयोग, सुखी तथा प्रफुल्ल व्यक्ति द्वारा हास-परिहास के शब्दों का प्रयोग तथा गम्भीर व्यक्ति के द्वारा गम्भीर तथा शिष्ट शब्दों का प्रयोग उपयुक्त होता है ।

घटना-औचित्य—घटना ऐसी होनी चाहिए कि उससे पात्र, घटना, प्रसंग, आदि सभी सजीव हो जायें । यदि घटना के औचित्य पर ध्यान रखा जायेगा तो नाटक या काव्य—सभी में प्रभाव-क्षमता आ जाती है । वह इसीलिए हास्य और करुण—दोनों के समन्वय को अनुचित मानते हैं ।

भाषा-औचित्य—भाषा शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, अतः शब्दों का कृत्रिम या आडम्बरपूर्ण न होकर सरल व स्पष्ट होना अपेक्षित है । जो शब्द रूखे हों, कठोर हों, ग्राम्यत्व लिये हुए हों, उनका भी काव्य में प्रयोग नहीं होना चाहिए । आवश्यकता पड़ने पर कवि नवीन शब्दों का भी निर्माण कर सकता है, इससे भाषा के शब्द-भण्डार में भी निरन्तर विकास होता रहता है ।

अभिव्यक्ति को और शक्तिशाली तथा प्रभावपूर्ण बनाने के लिए शब्दों की योजना बड़ी कुशलता से होनी चाहिए । शैली भी इसीलिए घटना तथा विषय

के अनुरूप होनी चाहिए। उसमें प्रसंग तथा विषय के अनुसार प्रसाद, ओज तथा माधुर्य गुण होने चाहिए। इसी प्रकार विषय के अनुरूप छन्द का प्रयोग आवश्यक है। ये छन्द ही कवि को उपयुक्तता प्रदान करते हैं।

निष्कर्ष—होरेस का औचित्य-सिद्धान्त कृतियों की समग्रता से व्याख्या करता है। वह काव्य की सफलता-असफलता औचित्य के आधार पर ही मानते हैं। यद्यपि होरेस का यह सिद्धान्त बहिरंग आलोचना का अंग है, क्योंकि उनकी दृष्टि वस्तुपरक थी, पर वह इससे काव्य के कलापक्ष का उचित विवेचन कर देते हैं। फिर भी यह निर्विवाद है कि होरेस के सिद्धान्त तथा काव्य सम्बन्धी विचारों ने तत्कालीन तथा परवर्ती आलोचकों तथा साहित्यकारों को नवीन दिशा प्रदान की।

प्रश्न ६—लोंजाइनस को पश्चिम का प्रथम स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहा गया है। उसके समीक्षा-सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण कीजिए और बताइये कि उसे स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहना कहाँ तक संगत है।

पुराने संस्कारों के स्थान पर यथार्थ का ग्रहण और कल्पना की उड़ान भरकर स्वप्न-सौन्दर्य में उन्मुक्त विचरण करना ही स्वच्छन्दतावाद माना गया है। इसमें व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। लोंजाइनस ने भी अपने समीक्षा-सिद्धान्तों द्वारा व्यक्तिपरक चेतना का समर्थन किया है। लोंजाइनस ने अपने समय में फैली काव्य सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन किया और काव्य को नवीन रूप से स्थापित किया।

लोंजाइनस से पूर्व काव्य को शिक्षा के आधार पर देखा जाता था। कवि का कर्म आह्लाद से भी अधिक पाठकों को नैतिकता की शिक्षा देना होता था। एरिस्टोफैंसे कवि का कर्त्तव्य पाठकों को सुधारना मानता था और उसकी सफलता तभी समझी जाती थी, जब पाठक काव्य की शिक्षा को मान ले। लोंजाइनस ने इसके स्थान पर भावात्मकता पर विशेष बल दिया और काव्य का लक्ष्य आनन्द प्रदान करना माना।

लोंजाइनस के काव्य सम्बन्धी विचार—लोंजाइनस ने काव्य का उद्देश्य आह्लाद माना और आनन्दानुभूति को काव्य की एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया। डा० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, "लोंजाइनस की समीक्षा का प्रयोजन श्रेष्ठता की खोज करना स्वीकार किया जा सकता है और यही कारण है कि उसने कला या काव्य में श्रेष्ठता पर बल दिया है।"

उसने यह कभी नहीं विचारा कि भावोत्कर्ष या उल्लास का मूलस्रोत क्या है। उसने तो काव्य का मूल प्रयोजन आनन्द ही स्वीकार किया, पाठक को तर्क द्वारा अपनी बात मनवाना नहीं।

लोंजाइनस ने साहित्य का सम्बन्ध तर्क से न मानकर कल्पना से माना है जो पाठकों को अभिभूत कर लेती है। डा० शान्तिस्वरूप गुप्त के अनुसार, "वह अत्यन्त सन्तुलित विचार वाले समन्वयवादी विचारक तथा आलोचक थे, अतः उन्होंने काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों पक्षों में औदात्य का समर्थन किया।"

साहित्य समीक्षा-विषयक सिद्धान्त—लोंजाइनस ने स्पष्ट यह माना है कि साहित्य को उत्कृष्टता की एकमात्र कसौटी आनन्दात्मकता है। इसीलिए समीक्षक के रूप में वह काव्य का रसास्वादन की दृष्टि से परीक्षण आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि साहित्य श्रेष्ठ तभी होगा, जब उसमें कवि के विचार उच्च होंगे, क्योंकि उच्च विचार ही श्रेष्ठ अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम हैं।

लोंजाइनस ने काव्य की लयगत अनुरूपता पर भी विचार किया है और साहित्यकार के लिए परम्परा का पूर्ण निषेध भी नहीं माना। वह यह मानते हैं कि साहित्यकार अथवा कलाकार के लिए परम्परानुगामी होना कई अर्थों में लाभदायक है, अतः सर्वत्र ही परम्परा का उल्लंघन आवश्यक नहीं है। नवीनता और परम्परा का उचित समन्वय ही श्रेष्ठ है।

समीक्षक की योजनाएँ—समीक्षा करना प्रत्येक का कार्य नहीं, उसके लिए लोंजाइनस ने समीक्षक की कुछ महत्त्वपूर्ण योग्यताओं का निर्धारण किया है। लोंजाइनस का विचार है कि समीक्षक के लिए समीक्षा करते समय विषय का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है और इसके अतिरिक्त कला, दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र, समालोचना आदि का भी पूर्ण अध्ययन होना चाहिए और इन पर काफी चिन्तन-मनन होना आवश्यक है। इस ज्ञान के कारण ही समीक्षक में आत्म-विश्वास जागेगा और तब वह उन मानदण्डों का अधिक विश्वासपूर्वक निर्धारण कर सकेगा, जिनकी उसके समय में आवश्यकता है।

यद्यपि लोंजाइनस ने साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी आनन्दवाद को माना है, पर इसमें कल्पनातत्त्व की भी मुख्यता उन्होंने स्वीकार की है और यह समीक्षक की योग्यता है कि वह साहित्य में निहित आनन्दवादी तत्त्व का

कहाँ तक उद्घाटन करता है। लोंजाइनस ने प्रसंगतः यह भी बतलाया है कि काव्य में कल्पना-तत्त्व का योग इसलिए आवश्यक है कि जिससे कवि इच्छित दृश्य का सुन्दरतम चित्रण करके पाठकों को उसका पूर्ण आभास करा सके।

लोंजाइनस : क्या वह स्वच्छन्दतावादी विचारक है ?—यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि लोंजाइनस क्या वास्तव में स्वच्छन्दतावादी विचारक है। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उसने काव्य में आनन्दतत्त्व को प्रधानता दी है जो निश्चय ही एक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति है। इसके अतिरिक्त वह पुरानी सड़ी-गली परम्पराओं का भी विरोध करती हैं और कवि को युग के यथार्थ को अपनाने की प्रेरणा देते हैं; साथ ही वह साहित्य में कल्पनातत्त्व की भी प्रधानता स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि जब तक काव्य या साहित्य में कल्पना नहीं होगी, वह अधिक प्रभावशाली बन ही नहीं सकता। कल्पनातत्त्व के कारण काव्य वास्तविक एवं सहज लगने लगता है। वास्तव में कल्पना ही वह वस्तु होती है, जिसके माध्यम से कवि के अनुभवों को पाठक अनुभूत करता है और कवि की अपनी मनःस्थिति में पाठक विचरण कर सकता है। प्राचीन परम्पराओं के विपरीत उसने काव्य का उद्देश्य नैतिकता तथा सुधार की शिक्षा देना न मानकर आनन्द प्रदान करना माना है। इस दृष्टि से अनेक विद्वान् लोंजाइनस को स्वच्छन्दतावादी विचारक कहते हैं।

स्वच्छन्दतावाद का विरोधी—परन्तु कुछ विचारक उसके कथनों में विरोध देखकर उसे स्वच्छन्दतावाद का विरोधी मानते हैं। उसने कवियों को परम्परा का पालन करने की भी प्रेरणा दी है और कहा है कि परम्परा का पालन अनेक अर्थों में लाभप्रद सिद्ध होता है, अतः परम्परा का उल्लंघन भी नहीं करना चाहिए।

दूसरे, वह काव्य में रूमानी तत्त्वों की अधिकता के विरोधी और उच्चता के समर्थक हैं। लोंजाइनस का स्पष्ट विचार है कि रूमानी तत्त्वों के आधिक्य से काव्य की उच्चता में बाधा पड़ती है। वह स्वच्छन्दतावादी तत्त्वों से भी उसी प्रकार घृणा करते हैं, जैसे पुरातनवादी तत्त्वों से। उन्होंने कहीं भी चामत्कारिकता और साहित्यिकता का समर्थन नहीं किया। इससे अनेक विद्वान् उन्हें स्वच्छन्दतावादी विचारक नहीं मानते।

विवेचन—लोंजाइनस के स्वच्छन्दतावादी होने अथवा न होने के सम्बन्ध में आलोचकों के जो विचार हैं, उनका विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि वह न तो अति प्राचीनता के समर्थक हैं और न अति स्वच्छन्दता के। उनका मार्ग मध्यम है। उदात्त तत्त्व के माध्यम से उन्होंने दोनों का समुचित समन्वय किया है, वह प्रत्येक पक्ष का विवेचन उदात्त के आधार पर ही करते हैं। यही कारण है कि एक ओर वह कवियों को परम्परा का पालन करने की प्रेरणा देते हैं, तो दूसरी ओर नवीनता तथा युगानुकूलता के समर्थन को भी कहते हैं। डा० प्रतापनारायण टण्डन ने इसीलिए लिखा है, "लोंजाइनस ने यह प्रतिपादित किया है कि एक कलाकार अथवा साहित्यकार के लिए परम्परानुगामी होना कई अर्थों में लाभप्रद सिद्ध होता है। इसीलिए उसे रूढ़िगत काव्य-नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। पर साथ ही, यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि लोंजाइनस के साहित्य-सिद्धान्त विभिन्न ग्रन्थों के उसके निजीपन पर आश्रित हैं और उनमें परम्परागत तथा प्रचलित नियमों की उपेक्षा की गयी है।"

इससे यह स्पष्ट है कि लोंजाइनस ने औचित्य के आधार पर दोनों को ही उपादेय माना है और इसी आधार पर उन्होंने रूमानी तत्त्वों के बहुत अधिक समावेश का निषेध किया है। उदात्त तत्त्व की रक्षा के लिये ही कल्पना तत्त्व की उन्होंने उपादेयता स्वीकार की है।

लोंजाइनस ने काव्य का प्रयोजन शिक्षा या नैतिक सुधार न मानकर आनन्द माना है। डा० नगेन्द्र ने भी लोकमंगल की अपेक्षा आनन्द को अधिक समुन्नत माना है, इसी प्रकार लोंजाइनस ने भी आनन्द को विशेष महत्त्व दिया है। वस्तुतः लोंजाइनस समन्वयवादी विचारक हैं और उन्होंने काव्य-साहित्य के प्रत्येक पक्ष को सीमाबद्ध कर दिया है। इसीलिए स्कॉट जेम्स लोंजाइनस को स्वच्छन्दतावादी विचारक मानते हुए भी यह लिखते हैं :

"Though he was the first to expound doctrines upon which romanticism rests, he turned and tempered them with what is sanest in classicism."

यद्यपि लोंजाइनस ने ऐसे विचारों को जन्म दिया जिनसे स्वच्छन्दतावाद को गति मिली; फिर भी वह अपने युग की समीक्षा-पद्धति के पूर्ण विपरीत नहीं जा सके। उन्होंने उदात्त के माध्यम से दोनों का समन्वय ही किया है। यही

कारण है कि उन्होंने विचार तत्त्व और पद-विन्यास को एक-दूसरे से सम्बद्ध माना है। अतः उनके अनुसार भव्य कविता वही है जो पाठक को आनन्दातिरेक में इतना निमग्न करदे कि वह उसी ऊँची भावभूमि पर पहुँच जाय, जहाँ बौद्धिकता का नहीं, हृदय का ही अनहद नाद होता रहता है। इस दृष्टि से वह स्वच्छन्दतावादी विचारों के पोषक होते हुए भी उसकी अति के विरोधी हैं।

निष्कर्ष—निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोंजाइनस सुन्दरता पर विशेष बल देते थे और उन्होंने काव्य में आनन्दवाद को खोजने की चेष्टा की है, तथा इसी आधार पर उन्होंने काव्य की उत्कृष्टता को आँका है। अतः एटकिन्स के शब्दों में कहा जा सकता है :

There are things in its pages that can never grow old, while its freshness and light will continue to charm all ages."

लोंजाइनस भी ऐसे ही एक विचारक हैं जिनकी प्रतिभा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में सदैव प्रदीप्त है और युग-युग तक साहित्य शास्त्रियों का मार्ग दर्शन करती रहेगी।

प्रश्न १०—काव्य तथा उसकी रचना के सम्बन्ध में फ्रायड के विचारों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

फ्रायड ने काव्य का सम्बन्ध मानव-मन की कुण्ठाओं से जोड़ा है। मानव की दमित इच्छाएँ काव्य या साहित्य के माध्यम से परिष्कृत होकर अभिव्यक्त होती हैं। इसलिए वह काव्य का मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध मानते हैं। वह मनोविश्लेषण के आधार पर साहित्य-रचना के तत्त्वों की व्याख्या करते हैं और मानव-मन की गुत्थियों को ही काव्य-सर्जना की मूलप्रेरणा मानते हैं। फ्रायड का विचार है कि मन की दमित इच्छाएँ, कुण्ठाएँ तथा उलझी ग्रन्थियाँ साहित्य के माध्यम से सुलझकर और परिष्कृत होकर सामने आती हैं और विवेचन की पद्धति के द्वारा उनका काव्य में आस्वादन होता है।

काव्य : मानव कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति—फ्रायड का निश्चित विचार है कि साहित्य मानव-मन की कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति का ही माध्यम है। मानव-मन में अनेक इच्छाएँ ऐसी होती हैं जो वास्तविक रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पातीं, और अवसर आने पर साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हो जाती हैं। इनकी अभिव्यक्ति से मनुष्य को आन्तरिक रूप से अपार आनन्द की प्राप्ति होती है

और तब जो शान्ति प्राप्त होती है, वही साहित्य का आस्वाद्य है—आनन्द है। साहित्य की सर्जना में कवि को और सर्जना के पश्चात् उसके अध्ययन या श्रवण में पाठक अथवा श्रोता को जो आनन्द मिलता है, वह अपनी दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति के कारण ही प्राप्त होता है।

फ्रायड ने काव्य-रचना की समस्या को मूल से पकड़ा है। वह काव्य की मानव-मन से तादात्म्य होने वाली शक्ति की भी विवेचना करते हैं। उन्होंने काम-भावना को ही वह मूल-शक्ति माना है जो सहृदय तथा साहित्य के मध्य तादात्म्य स्थापित करती है। उन्होंने मानव की काम-क्रिया को खोजा है और उसे कल्पनात्मक साहित्य की सर्जना का आधार माना है। काम-भावना एक ऐसी इच्छा है जो प्रत्येक के मन में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है, पर इसका पूर्णरूपेण प्रकाशन नहीं हो पाता—और न यह सम्भव ही है, अतः कवि या साहित्यकार अपनी कल्पना के द्वारा उस भावना को परिष्कृत करके प्रस्तुत करता है और उसकी अभिव्यक्ति में उसे विशेष आनन्द प्राप्त होता है। प्रत्येक काव्य की सर्जना में, अतः, यह काम ही मुख्य है।

फ्रायड अपने मत को स्पष्ट करने के लिए एक बालक का उदाहरण देते हैं कि बाल्यावस्था में उसके सीमित ज्ञान के कारण उसके मन में अनेक कल्पनाएँ उठती हैं और मानसिक सृष्टि नित्य बनती-बिगड़ती है। वह अपनी उन्हीं कल्पनाओं में लीन रहता है, पर वयस्क होने पर जब वह संसार की वास्तविकता से भलीभाँति परिचित होता है तो शैशव की कल्पना छोड़कर वह जीवन की वास्तविकताओं को गम्भीर भाव से ग्रहण करता है; फिर भी उसके अवचेतन मन में शैशवकालीन कल्पनाएँ बनी ही रहती हैं—

'Of these sustained childhood reminisoences seme appear to readily comperhensible, while others seem strange of unintelligible....some of the memory pictures are surtely flasified and incomplete or displace in point time and place."

यही नहीं, वयस्क होने पर भी उसकी कल्पना से अनेक ऐसे चित्र बनते हैं जो सहज बोधगम्य नहीं होते। इन चित्रों में अनेक ऐसे होते हैं जिन्हें वह चाहकर भी अभिव्यक्ति नहीं कर पाता; वह सोचता है कि शायद तब वह उपहास अथवा घृणा का पात्र बन जायेगा। पर वे चित्र उसके मन में जमे रहते हैं और कुछ समय पश्चात् मन में कुण्ठा उत्पन्न कर देते हैं। ये कुण्ठाएँ ही

अतृप्त इच्छाएँ कहलाती हैं और वे मनुष्य को अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती हैं। यह अभिव्यक्ति की प्रेरणा ही साहित्य-सर्जना की मूल प्रेरणा है जिसमें मूल में दमित इच्छाएँ, कुण्ठाएँ अथवा अतृप्त विद्यमान हैं और उनकी अभिव्यक्ति से कवि को सहज तुष्टि प्राप्त होती है और सहृदय भी उनसे इसीलिए आनन्द प्राप्त करता है कि वह साहित्य उसके मन की कुण्ठाओं और यौन लिप्साओं की सहज अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार दोनों की काल्पनिक तुष्टि होती है।

कुण्ठाओं के प्रकार—फ्रायड ने कुण्ठाओं और दमित इच्छाओं को दो प्रकार का माना है—

(१) वे कुण्ठाएँ जो महत्त्वाकांक्षा से सम्बद्ध हैं।

(२) वे कुण्ठाएँ जो काम-वासना के तृप्त न होने से उत्पन्न होती हैं।

यद्यपि दोनों ही प्रकार की कुण्ठाएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं; फिर भी स्थूल रूप से इनके ये दो भेद किये जा सकते हैं। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि ये कुण्ठाएँ प्रत्येक मनुष्य में समान नहीं होतीं; इनकी तीव्रता, गति और रूप व्यक्ति की अवस्था, रुचि, परिस्थिति, कल्पना-शक्ति की तीव्रता, स्वप्नों की गति तथा सम्पर्क आदि के आधार पर सदैव परिवर्तित होते रहते हैं।

मनुष्य की कल्पना उसके शैशवकाल के चित्र से कालान्तर में सम्बद्ध हो जाती है और फिर वह इच्छा ऐसा रूप धारण कर लेती है, जिससे भविष्य में कभी उसकी पूर्ति सम्भव हो सके। इस प्रकार कवि के कल्पना-चित्र भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों से सम्बद्ध होते हैं।

कल्पना की तीव्रता के आधार पर ही फ्रायड ने कवि के काव्य में भावना की तीव्रता को माना है। अर्थात् कवि की कल्पना-शक्ति जितनी तीव्र होगी, उसके काव्य का अनुभूति-पक्ष भी उतना ही तीव्र होगा। इस प्रकार काव्य कवि की अन्तःवृत्ति का परिचायक है और फ्रायड के अनुसार उसमें कवि की वैयक्तिक भावनाओं का ही निदर्शन होता है। इस प्रकार की कल्पना से कल्पना-प्रधान वृत्ति की सर्जना होती है। दूसरी ओर वे कलाकार भी होते हैं जो साहित्य में नवीन कल्पनाओं की स्फूर्त करने की अपेक्षा प्रस्तुत सामग्री का ही अपनी रुचि और कल्पना से पुनः संस्कार करते हैं और उसका परिष्कृत रूप श्रोता व पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार के कलाकार

पौराणिक कथानकों के आधार पर साहित्य का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार लोक-साहित्य भी कल्पना और परम्परा का सुन्दर समन्वय है।

फ्रायड ने साहित्य की रचना के मूल में काम और कल्पना को मुख्य माना अवश्य है, पर वह उन दोनों का सम्मिलित रूप ही सर्वत्र देखते हैं। यहाँ उनकी कल्पना नितान्त बौद्धिक नहीं है, उसमें हृदय-पक्ष का भी सुन्दर समन्वय है और मनुष्य के दिवास्वप्नों (Daydreams) का भी विशेष स्थान है।

निष्कर्ष—समग्रतः कहा जा सकता है कि फ्रायड ने साहित्य-रचना का मनुष्य के दिवा-स्वप्नों (Daydreams) से सम्बन्ध बताया है और काव्य-सर्जना की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का वर्णन किया है। उन्होंने कवि का कौशल इस विशिष्टता में माना है कि वह अपनी वैयक्तिक चेतना और कुण्ठा की काव्य में अभिव्यक्ति इस प्रकार करे जिससे प्रत्येक सहृदय को आनन्द प्राप्त हो अर्थात् वह कुण्ठा व्यक्ति-विशेष की कुण्ठा न रहकर सार्वजनीय, सार्वदेशीय तथा सार्वकालिक हो जाये। इस आनन्द की सृष्टि करना ही कलाकार की अपनी कुशलता है। वह कुण्ठा को परिष्कृत कर सबके सामने लाता है और इसीलिए सुन्दर कृति सभी को आह्लाद प्रदान करती है।

प्रश्न ११—ज्यां पाल सार्त्र के समीक्षा-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए और उसके द्वारा प्रतिपादित काव्यकला के उपादानों का उल्लेख कीजिए।

आधुनिक युग के अस्तित्ववादी चिन्तकों में ज्यां पाल सार्त्र का नाम अन्यतम है। इसके विचारों का आधुनिक विश्व साहित्य पर जितना अधिक प्रभाव पड़ा है, उससे इनके महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। इन्होंने समीक्षा पर विशदतापूर्वक विचार किया है और साथ ही कला पर भी। उनके विचार संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत हैं।

लेखक और कवि का कार्य-साम्य—सार्त्र ने लेखक और कवि दोनों के कर्म को समान माना है। वह लिखते हैं, "यह यथार्थ है कि गद्यकार और पद्यकार दोनों ही लेखन-कार्य करते हैं, किन्तु उनके लेखन-कार्य में इसके अतिरिक्त और कोई अभिन्नता नहीं है कि दोनों के हाथ समान रूप से गतिशील रहते हैं और दोनों से ही अक्षर-रचना होती है। अन्यथा इन दोनों के संसार इतने भिन्न हैं कि इनमें कोई संयोग सम्भव नहीं है और एक के

लिए जो उत्तम है, वह दूसरे के लिए नहीं। गद्य स्वाभाविक रूप से उपयोगितावादी होता है। मैं सहर्ष पद्यकार की शब्दों के उपयोग करने वाले के रूप में, परिभाषा करूँगा।"

गद्य की कला—सार्त्र गद्यकला का संवाद में प्रयोग मानते हैं। उनके अनुसार शब्द वस्तुएँ नहीं हैं, मात्र उनके संकेत हैं। इसीलिए सार्त्र का कहना है कि किसी भाषा के विषय में यह देखने की आवश्यकता नहीं है कि वह हर्ष की सृष्टि करती है या विषाद की, अपितु देखना यह चाहिए कि वह वस्तु या विचार का यथार्थ रूप में संकेत देने में समर्थ है या नहीं। बहुधा ऐसा होता है कि हमें शब्दों द्वारा कोई विचार मिलता है और हम उसे ग्रहण कर लेते हैं, फिर वह विचार हमारे मस्तिष्क में सदैव वर्तमान रहता है—भले ही कहे गये वे शब्द, जिनसे वह विचार मिला, विस्मृत हो जायें।

गद्य के शब्दों को सार्त्र एक उदाहरण द्वारा सिद्ध करते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति आकस्मिक विपत्ति से रक्षा के लिए सामने पड़ा हुआ कोई भी हथियार उठा लेता है और अपनी रक्षा करता है, पर बाद में, विपत्ति टलने के बाद, उसे ध्यान ही नहीं रहता कि आत्मरक्षार्थ उठाया गया वह हथियार कौन-सा था; उस समय तो उसे एक अतिरिक्त शरीर की आवश्यकता थी जिससे वह स्वरक्षा कर सके, उसे एक तरह से तीसरा पैर भी कहा जा सकता है जिसे उस समय वह अङ्गीकार करता है, उसी तरह किसी विचार को ग्रहण करते समय शब्द हथियार की तरह हो जाते हैं। मनुष्य भाषा के अन्तर्गत भी उसी प्रकार है जैसे अपने शरीर के। जब कोई व्यक्ति भाषा का प्रयोग करता है तो व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों (श्रवणेन्द्रियों) के माध्यम से रक्षा को तैयार हो जाता है। अतः शब्द क्रिया-विशेष का विशिष्ट क्षण होता है, जो अलग से पूर्ण निरर्थक है।

इसीलिए, सार्त्र के अनुसार लेखक वह है जो अपने विचारों को विशिष्ट ढङ्ग से कह सके। केवल कहने का निश्चय करने वाला लेखक नहीं हो सकता, उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है।

लेखन-कार्य की आवश्यकता—सार्त्र ने इस पर विचार किया है कि 'लेखन-कार्य क्यों किया जाये'। इस पर विचार करते समय वह लिखते हैं कि इस विषय में प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने कारण होते हैं। किसी के लिये लेखन-कला पलायन है तो किसी के लिए विजय का साधन। पर इस उद्देश्य

में प्रत्येक सफल नहीं हो सकता। कोई-कोई तो विजय प्राप्त करता है और कोई मृत्यु के मुख में चला जाता है। विजय प्राप्त करने वाला लेखक वीरता और उत्साह के साहित्य की सर्जना करता है और मृत्यु की ओर उन्मुख कवि निराशावादी साहित्य की।

कलात्मक रचना के विषय में सार्त्र का विचार है कि उसके मुख्य उद्देश्यों में यह भावना आवश्यक है कि हम सांसारिक सम्बन्धों में अनिवार्य हैं। उनका स्पष्ट कथन है, "मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपनी रचना के लिए अनिवार्य हूँ। मैं एक साथ रचना और भेदन नहीं कर सकता।" वह रचनात्मक कार्यों के लिए सृजन को आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि साहित्य का अस्तित्व केवल उसकी गतिशीलता में ही निहित है।

सार्त्र और अस्तित्ववाद—प्रत्येक आत्मवादी तथा अस्तित्ववादी विचारक की तरह सार्त्र भी आत्मचेतना को प्रमुखता देते हैं जिसे वह आन्तरिकता कहते हैं। अस्तित्ववाद पर विचार करते समय सार्त्र का विचार है कि इस महा-शून्य में क्षुद्र मानव अपनी असीम प्रतीति के साथ अपना पूर्ण अस्तित्व रखता है। इस क्षुद्रता की ओर ध्यान देने से वह डर जाता है और यह भय की भावना ही अस्तित्ववाद की मूल-भावना है। इस मूल-भावना—भय के प्रति उसकी दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं—

(१) भय मिश्रित, रक्षात्मक, विरोध की प्रतिक्रिया।

(२) धार्मिक, ईशपरक स्वीकृति।

सार्त्र ने प्रथम को ही माना है। उनका विचार है कि मानव अपनी हीनता प्रमाणित हो जाने पर रक्षात्मक रूप से प्रतिक्रियाशील होकर विरोध करता है। यह बात दूसरी है कि इस निस्सीम विशालता में उसकी विद्रोहात्मकता कितनी छोटी है। क्षुद्र होते हुए भी वह विद्रोह उसकी चेतना तथा मानस की स्वतन्त्रता का उद्घोष तो करता ही है। यही रक्षात्मक विद्रोह भय के निराकरण के लिए मानव करता है, इससे फल यह होता है कि जीवन का कोई भी अर्थ न होने पर भी जब तक व्यक्ति रहता है, अपने उत्तरदायित्व को समझता है और उसका पूर्ण निर्वाह करता है। उत्तरदायित्व की भावना आने से उसके कार्यों में एक प्रकार का संगठन-सा आ जाता है और उसके कार्य उच्छृङ्खलता की सीमा तक नहीं पहुँच पाते।

सीमाएँ—सार्त्र के इस सिद्धान्त में सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें यह माना गया है कि अस्तित्ववादी चेतन व्यक्ति की बात सभी मानेंगे। व्यावहारिक रूप से यह सही नहीं है। उन्होंने इसका कोई निदान नहीं दिया कि यदि उस व्यक्ति की बात अन्य व्यक्ति नहीं मानते तो उस दशा में यह स्वतन्त्रता समाज को जो विशृंखलित करेगी, उसका क्या उपाय होगा। वह व्यर्थ ही इस पर विश्वास करते हैं कि यदि व्यक्तियों को अपने अस्तित्व का ज्ञान हो जाएगा तो संगठित होकर एक स्वतन्त्र प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यशील हो जायेंगे। व्यवहार में यह कथमेव सम्भव दिखाई नहीं देता।

सार्त्र के अनुसार किसी व्यक्ति को एक स्थिति से निकाल कर उसी स्थिति पर विचारणीय दृष्टिकोण प्रदान करने वाली सम्भाव्यता की संज्ञा ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता एक आवश्यकता है तथा उसकी आवश्यकता से उसका जन्म होता है। इसी स्वतन्त्रता से हमारा समाज भी शासित होकर परिवर्तनशीलता ग्रहण करता है। यह परिवर्तनशीलता प्रायः उन्नति की ओर अग्रसर होती है पर इसे भौतिकवादी तुला पर नहीं तौला जा सकता; क्योंकि यह व्यक्ति को इस योग्य नही बना पाती कि वह अपनी स्थिति से अलग होकर अपनी ही स्थिति पर निरपेक्ष रूप से विचार कर सके।

निष्कर्ष—सार्त्र दर्शन के क्षेत्र में क्रियाशील आन्दोलन तथा साहित्य के क्षेत्र में सृजनशील व्यक्ति के रूप में अस्तित्ववाद को गतिमय करने वाले विचारक हैं। इनके सिद्धान्त में मानवीय स्वरूप का गम्भीर विवेचन दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने काव्य, कला, गद्य, भाषा तथा अस्तित्ववाद आदि पर अपने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, उनका परवर्ती साहित्यिकों पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। अतः इनका महत्त्व निर्विवाद है।

प्रश्न १२—समीक्षा का मार्क्सवादी दृष्टि से क्या अभिप्राय है? साहित्य की समीक्षा में उसका किस सीमा तक प्रयोग किया जा सकता है? क्या वह सर्वाङ्गीण समीक्षा-सिद्धान्त है?

अथवा

मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्त क्या हैं? क्या इस सिद्धान्त से साहित्य की समस्त विशेषताओं का आकलन हो जाता है? स्पष्ट करें।

वर्तमान साहित्य और आलोचना पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रगतिशीलता की दृष्टि से अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। कार्लमार्क्स के बाद के प्रायः

सभी साहित्यकारों और समीक्षकों ने साहित्य पर मार्क्सवादी छाप डाली है। उन्होंने भौतिकवादी दृष्टि से साहित्य की जो व्याख्या की, उसने साहित्य का यथार्थरूप सामने रखा और उसके सन्दर्भ में जीवन-मूल्यों को पहचाना। मार्क्स के विचार नितान्त मौलिक पर व्यावहारिक हैं तथा उनमें जीवन की वास्तविकता के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि कार्लमार्क्स की प्रमुख विचारकों तथा दार्शनिकों में गणना होती है। यद्यपि कार्लमार्क्स ने जीवन की अर्थवादी दृष्टि से विवेचना की है और उसका साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है; फिर भी उन्होंने जिस अर्थ-प्रधान दर्शन की इस अर्थवादी युग में स्थापना की है, उसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है और इसीलिए जीवन से घनिष्ठ साहित्य पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

मार्क्सवाद का दर्शन समाजवाद (Socialism) है और इसका मूल आधार वर्ग-संघर्ष है। मार्क्स ने सभी आदर्शवादी वृत्तियों का विरोध किया है और उन्हें व्यर्थ का भटकाव कहा है। उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) की वैज्ञानिक पद्धति को प्रतिपादित किया है। उन्होंने कला के सामाजिक तत्त्व को अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक प्रधानता दी है।

साहित्य का स्वरूप—कार्लमार्क्स के अनुसार साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है और समस्त सामाजिक व्यवस्था का मूल-आधार अर्थ होने के कारण साहित्य का मूल-आधार भी आर्थिक व्यवस्था है। साहित्य में भी कार्लमार्क्स ने वर्ग-संघर्ष तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मुख्यता दी है।

वास्तव में मार्क्स ने लोकमंगल तथा उपयोगितावाद के सामाजिक दृष्टिकोण को अपने चिन्तन का विषय बनाया है। उनका पूर्ण सिद्धान्त **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** पर आधारित है। उन्होंने आनन्दवाद के विरुद्ध भौतिकवाद की स्थापना की है। मार्क्स का स्पष्ट विचार है कि संसार में सभी कार्य अर्थवाद से प्रभावित होते हैं और जिस कार्य में जितना धन मिलता है, उसी अनुपात में उससे आनन्द भी प्राप्त होता है। इस प्रकार उन्होंने उपयोगितावादी मूल्यों की स्थापना पर विशेष बल दिया है और इसी का यह प्रभाव था कि काव्य अथवा साहित्य में लोकमंगल की भावना का उन्मेष हुआ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का साहित्य पर प्रभाव—मार्क्स के वर्ग-संघर्ष तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का परवर्ती लेखकों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। आगे

चलकर तो यह साहित्य का आधार बन गया। भारतीय लेखकों में इसका परिष्कृत रूप 'प्रगतिवाद' के रूप में मुखर हुआ। इन लेखकों की रचनाओ के पात्र युग-संघर्ष के प्रति अत्यधिक सजग हैं और भाग्य से ही उनका सोद्देश्य संघर्ष रहा है। ये लेखक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को ही बदल देना चाहते हैं। वास्तव में मार्क्स का विचार था कि सन्तुलन होने पर ही, विषमता का नाश होने पर ही, समाज मैं शांति स्थापित हो सकती है। जब तक एक शोषक रहेगा और दूसरा शोषित तब तक अशांति, असन्तोष और वर्ग-संघर्ष रहेगा ही। इस सबके नाश के लिए आवश्यक है कि वर्गभेद पूर्णरूपेण समाप्त हो जाए और धनी-निर्धन का भेद भी समाप्त हो जाए। परवर्ती साहित्यकारों ने इसके समर्थन में अपनी साहित्यिक रचनाओं में भरपूर आवाज उठाई है।

साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टि की व्याख्या—मार्क्स की इस चिंतनधारा को सुव्यवस्थित रूप में सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय कास्टांकर कॉडवेल को है। उन्होंने मार्क्स के विचारों के अनुसार माना है कि साहित्य और जीवन का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह आर्थिक व्यवस्था पर स्थिर है। क्योंकि, साहित्य सामाजिक जीवन से अनुप्रेरित है और सामाजिक जीवन पर आर्थिक स्थिति का स्पष्ट प्रभाव है। इस प्रकार मनुष्य की सारी जीवन व्यवस्था और उसकी साहित्य-सम्बन्धी धारणा आर्थिक ढाँचे पर अवलम्बित है। मानव की प्रगति में कला और साहित्य दोनों ही सहायक हैं, अतः साहित्य समाज और मानव-जीवन में परस्पर सामूहिक सहयोग की भावना को उत्पन्न करता है और इसी में उसकी सार्थकता निहित है। इस तरह साहित्य की स्वयं में कोई भी उपयोगिना नहीं है, कला की तरह उसका उपयोग भी समाज के लिए ही है और उसकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है।

इसे मार्क्स ने साम्यवाद के आधार पर लिया है। आदिमकाल से साहित्य में साम्यवादी भावना है, कला भी आरम्भ से ही मानव-जीवन में समन्वय करती रही है। परन्तु जब-जब भी समाज-व्यवस्था विकृत हो गयी, तब-तब कला जन-सामान्य की वस्तु न रहकर शासक वर्ग के हाथों की कठपुतली बन गयी। इसी तरह साहित्य भी उस समय शासक वर्ग की इच्छा का दास हो गया। बाद में पूँजीपतियों ने भी उसे अपने संकेतों पर नचाना आरम्भ किया। कालान्तर में समाज के दो भेद हो गये—शोषक और शोषित। जो

वर्ग निर्धनों और असहायों का अपने धन के बल पर शोषण करता, वह शोषक कहलाया और जिसका शोषण होता रहा हो, वह वर्ग शोषित कहलाया।

मार्क्स के अनुसार जो साहित्य लोकमंगल तथा मानव की स्वतन्त्रता के लिए था, वह शोषक वर्ग का अस्त्र बन गया और उसका दुरुपयोग होने लगा; क्योंकि समाज की आर्थिक अवस्था और व्यवस्था के अनुरूप साहित्य की रूप-रेखा निर्धारित होती है। इसका कारण है कि शोषक वर्ग अपने धन से निर्धन साहित्यकारों को खरीद कर अपनी इच्छानुसार प्रोपेगेंडा करता है; फलतः उसमें धनियों की प्रशंसा और उनके मत का ही पूर्ण समर्थन होता है। जनता में पाप-पुण्य की भावना का प्रचलन भी इस कारण हुआ, क्योंकि साहित्य शोषक वर्ग का मुखापेक्षी था और पूँजीपतियों ने शोषितों को अपने अधिकार में रखने के लिए ही सन्तोष का उपदेश दिया। इसी कारण आगे चलकर संघर्ष का आरम्भ हुआ।

विवेचन—अब प्रश्न यह है कि मार्क्स के इस साहित्य-सिद्धान्त से क्या वास्तव में साहित्य का समग्रता से समाकलन हो सकता है अथवा इसे क्या सर्वांगीण सिद्धान्त माना जा सकता है। इस प्रश्न पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स की दृष्टि व्यावहारिक अधिक है और उन्होंने प्रत्येक कार्य को आर्थिक दृष्टि से देखा है, यद्यपि उनका यह दृष्टिकोण सही है, क्योंकि सर्वत्र अर्थ की प्रधानता होने से प्रत्येक साहित्यकार अपने परिश्रम का फल अर्थरूप में चाहता ही है, पर इसका आशय यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि साहित्यकार पूर्णरूपेण शोषक वर्ग का दास हो गया। साहित्य की यह दृष्टि एकांगी ही है, क्योंकि सर्वांगीण रूप से विवेचन करने पर तो साहित्य का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है और इसके लिए अर्थ का प्रभुत्व व्यर्थ है। साहित्य का अपना क्षेत्र है, यद्यपि जीवन से सम्बद्ध होने के कारण उसका अर्थ से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर मार्क्स की यह दृष्टि एकांगी ही कही जायेगी और यही कहा जायेगा कि मार्क्स मात्र वस्तुपरक होकर ही रह गये हैं।

प्रश्न १३—पोप के काव्य-सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

नव्यशास्त्रवादी कलाकारों में पोप का स्थान अन्यतम है। इनके समालोचना सम्बन्धी विचार 'ऐसेज ऑन क्रिटिसिज्म' (Essays on Criticism) में प्राप्त होते हैं। इसके तीन भाग हैं। प्रथम भाग में जिन सिद्धान्तों की

चर्चा की गयी है, वे अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त पर आधारित हैं; दूसरे भाग में प्रतिभा की विवेचना की गयी है और तीसरे भाग में सफल आलोचक के गुणों का विद्वत्तापूर्ण वर्णन है।

पोप के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों पर पूर्ववर्ती आचार्यों का पर्याप्त प्रभाव है। पर उन्होंने उनके विचारों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण न करके उन्हें वर्तमान दृष्टिकोण से परखा और शाश्वत सिद्धान्तों को ही ग्रहण किया।

समालोचना का महत्त्व—पोप की कृति 'ऐसेज ऑन क्रिटिसिज्म' में सर्व प्रथम समालोचना के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इसमें उन्होंने यत्र-तत्र आलोचक के गुण-दोषों का भी वर्णन किया है। उन्होंने सबसे पहले यह प्रश्न उठाया है कि दोष-रहित रचना का परीक्षण कौशल है अथवा दोषपूर्ण रचना के परीक्षण में—अर्थात् कौशल का अभाव किसमें है—सदोष रचना में अथवा दोषपूर्ण काव्य-परीक्षण में। पोप ने लिखा है कि यद्यपि प्रत्येक आलोचक की आलोचना पृथक्-पृथक् होती है; फिर भी प्रत्येक को अपनी समालोचना पर विश्वास होता है और वह अपनी ही समालोचना को शुद्ध मानता है। इसका कारण यह है कि **यह अन्तर रसबोध की मात्रा के कारण होता है**, क्योंकि सभी आलोचकों का रसबोध समान नहीं होता। सच्चे कवियों की प्रतिभा में जैसे विविधता पायी जाती है, उसी तरह आलोचक के भाव में रसबोध कम ही आता है। अतः जो कवि-प्रतिभा तथा आलोचना-शक्ति दोनों से सम्पन्न होगी, वह समाज एवं साहित्य के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त करेगा तथा समालोचना के क्षेत्र का विस्तार करेगा।

प्रत्येक व्यक्ति (समालोचक) के लिए, किसी कृति की समीक्षा करते समय यह आवश्यक है कि वह अपेक्षित ज्ञान प्राप्त कर ले। आलोचना के लिए पोप ने पूर्वाग्रह को व्यर्थ माना है और न वह यही स्वीकार करते हैं कि आलोचना किसी पक्ष के समर्थन या खण्डन के लिए ही होनी चाहिए।

कवि और आलोचक का क्षेत्र—कवि का क्षेत्र काव्य की रचना करना है और आलोचक का काम उसकी आलोचना करके उसके स्वरूप का सम्यक् विवेचन करना। पोप इस आधार पर समालोचक के कार्य को अधिक दायित्वपूर्ण मानता है। कारण, यदि कोई रचना सदोष है तो आलोचक को उसका दोषपूर्ण परीक्षण नहीं करना चाहिए; अन्यथा दोनों ही दोष के भागीदार होते हैं और इस दोष का प्रभाव कवि पर इतना नहीं पड़ता, जितना

समालोचक पर पड़ता है। आलोचक को तो कविकृत रचना का सही-सही मूल्यांकन करना होता है। साधारण पाठक तो उस आलोचना के आधार पर ही अपनी धारणाएँ बनाता है, इसलिए यदि समालोचना दोषपूर्ण हो गई तो समाज में गलत धारणाएँ प्रचलित हो जाती हैं।

पोप के अनुसार, इसलिए आलोचक का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह काव्य-रचना के सम्बन्ध में अपेक्षित ज्ञान का अर्जन करे, फिर उसकी समालोचना तटस्थ भाव से करे। कवि तो सिद्धान्तवादी होता है, वह अपनी रचना में अपने मत की व्याख्या व पुष्टि करता है, पर समालोचक को मतवादों से तटस्थ एवं निरपेक्ष होना चाहिए, जिससे वह किसी भी आग्रह से मुक्त रह कर काव्य का सही-सही आकलन कर सके। उसे अपनी शक्ति व सीमा के आधार पर ही किसी कृति की समालोचना के लिए प्रवृत्त होना चाहिए।

समालोचक के गुण—पर साथ ही पोप समालोचक में आत्मविश्वास की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनका विचार है कि समालोचक को अपनी प्रतिभा या विवेचना को 'इदमित्थं' नहीं समझ लेना चाहिए; बल्कि साथ ही दूसरों की समालोचनाओं का भी अध्ययन और मनन करना चाहिए; फिर उसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए। ज्ञान की परिपक्वता आलोचक का एक महत्त्वपूर्ण गुण है। पोप ने माना है कि समालोचक को काव्य के भावपक्ष पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए तथा इसी आधार पर किसी भी काव्य का मूल्यांकन करना चाहिए।

पोप ने आलोचक के लिए निम्नलिखित नियमों का अनुसरण फलप्रद बताया है—

(१) प्रकृति तथा जीवन के नियमों का पालन।

(२) गर्वहीनता।

(३) कलाकार के उद्देश्य तथा भावों का ज्ञान।

(४) सम्पूर्ण काव्य को हृदयंगम करना।

(५) कलाकार के ध्येय का ध्यान करना।

(६) श्रेष्ठ काव्य के लिए बौद्धिक तत्त्वों की आवश्यकता।

(७) कला की आलोचना में केवल भाषा पर ही ध्यान न रखना।

(८) विभिन्न विषयों के लिए विभिन्न शैलियों का प्रयोग।

(९) केवल छंद या तुकान्त शैली को ही श्रेष्ठ न मानना ।

(१०) शब्दों को भावों का प्रतीक मानना ।

(११) अतिशयोक्ति तथा अति का अनुसंधान ।

(१२) प्राचीन-नवीन में भेद न करना ।

(१३) नियमानुकूल काव्य-निर्माण को ही श्रेष्ठ न मानना ।

(१४) स्वतन्त्र रूप में विचार करना ।

(१५) व्यक्तित्व का ध्यान न रखकर काव्य को परखना ।

(१६) केवल नवीनता से ही आकृष्ट न होना ।

(१७) समरूप से आलोचना करना ।

(१८) काव्यालोचन में दलबंदी में सहयोग न देना ।

(१९) द्वैत तथा अहम् को निर्मूल करने के बाद निर्णय देना ।

(२०) केवल नियम, बुद्धि और ज्ञान का सहारा लेकर मनुष्यत्व तथा सत्य को न भुलाना ।

समालोचक का कार्य—पोप के अनुसार समालोचक का कार्य काव्य को आकर्षक बनाना तथा साधारण जनता को मार्गदर्शन देना है। समालोचना कविता की सहचरी है, इसलिए समालोचक कविता की वस्तुस्थिति का उद्घाटन कर देता है और उसे जन-सामान्य के लिए सुगम तथा सुबोध बना देता है। किसी पूर्वाग्रह से युक्त होकर कवि की आलोचना करना समालोचक का कार्य नहीं है। प्राचीन आलोचकों ने काव्य की व्यवस्था सम्बन्धी जो शुष्क नियम बना दिये थे, पोप ने उनका भी विरोध किया।

समालोचक अपने पथ से, कर्त्तव्य-कर्म से च्युत न हो, इसके लिए पोप ने बताया है कि उसे प्राचीन लेखकों की धारणाओं तथा उनकी स्थितियों से परिचित होना आवश्यक है। उनके, गुण, रुचि, देशकाल-सीमा तथा व्याप्त धर्म आदि का सूक्ष्म अध्ययन, मनन और चिन्तन करने के पश्चात् ही किसी कवि की कृति की समालोचना करनी चाहिए।

काव्यकला—पोप का विचार है कि काव्य में चाहे कितने ही गुण क्यों न हों, यदि वह भावावेश से पूर्ण नहीं है तो वह काव्य हेय और निम्नकोटि का है। इसीसे काव्य और कला में पृथक्ता ज्ञात होती है; अन्यथा दोनों में एकसा ही सौन्दर्य है और दोनों में ही आह्लाद और विवाद के तत्त्व निहित रहते हैं। "परन्तु ऐसी रचनाओं में जिनमें न ज्वार आता है न भाट, जो, शुद्ध होते हुए

भी भावविहीन होती हैं, जो एक ही गति से मन्द-मन्द प्रवाहित होती रहती हैं, और दोषों से बचती हुई एक ही रूप में आबद्ध रहती हैं, उनमें दोष भले ही न मिलें, पर उनमें ऊब काफी रहती है।"

पोप काव्य को बँधी-बँधाई लीक पर चलने की प्रेरणा नहीं देते, अपितु वह, उसमें नवीनता का द्योतन भी चाहते हैं। वह अन्धरूढ़िवादिता को सत्काव्य के मार्ग में बाधक मानते हैं। अतः कवि को अनिर्वचनीय सौंदर्य का पालन करना आवश्यक है। जब काव्य में सौन्दर्य की मात्रा होती है तो वह काव्य समालोचकों द्वारा दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

ऐसे साहित्यकारों को, जिन्हें प्राचीन परम्पराओं में दोष ही दोष दिखाई देते हैं, पोप ने भ्रमित माना है। पोप का विचार है कि काव्य-स्रोत में गहरे पैठकर ही रसास्वादन किया जा सकता है। अतः परम्परा का पालन भी अत्यावश्यक है।

कविता का प्रभाव—पोप का विचार है कि प्रकृति की भाँति कविता भी मानव-मन को निश्चय ही प्रभावित करती है, वरन् कभी-कभी तो कविता प्रकृति से भी अधिक प्रभाव डालती है। प्रत्येक कृति को कृतिकार अपनी भावनाओं के आधार पर सर्वोत्तमरूप प्रदान करता है, इसलिए यदि उसकी अनुभूति में प्रभावात्मकता है तथा उसका ध्यान ठीक व पूर्ण हो और आचरण सत्य हो तो वह कृति कुछ दोषों के होते हुए भी कवि को यश का भागी बना देती है। इसीलिए पोप समालोचक को कलापारखी होना आवश्यक बतलाते हैं। इससे कविता का प्रभाव और भी बढ़ जाता है।

बहुत-से समालोचक कवि की रचना को छन्दों के आधार पर देखते हैं। यदि छन्दों में प्रगति है तो कविता सुन्दर है और छन्द-विधान के शिथिल होने पर वे कविता को भी असुन्दर और हेय बना देते हैं। पर छन्द ही कविता की एकमात्र कसौटी नहीं है। अनावश्यक छन्द-विधान भी कविता की प्रभावमयता को नष्ट कर देता है। छन्द-विधान ऐसा होना चाहिए जो भावों को और भी वृद्धि प्रदान कर उसे सरस बना सके। अतः वही कविता अधिक प्रभावशाली होगी, जो कवि के भावों को प्रत्येक दृष्टि से पूर्णता, सभ्यता व स्वाभाविकता प्रदान करे।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप में पोप ने समालोचक को कविता का व्याख्याता तथा उसके गुण-दोषों का उद्घाटनकर्ता माना है। उसके लिए मुख्य रूप से

यह आवश्यक है कि वह व्यक्तिगत परम्पराओं से सर्वथा मुक्त रहे। उसका काम यही है कि अपेक्षित ज्ञान का अर्जन करके कृति की वास्तविकता से जन-सामान्य को अवगत करा दे। यद्यपि उसमें भी उसका उद्देश्य कृति की प्रशंसा ही होना चाहिए और उसे छोटे-छोटे दोषों की उपेक्षा कर देनी चाहिए।

प्रश्न १४—नव्यशास्त्रवाद (Neo-Classicism) किसे कहते हैं? इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों के विचार देते हुए उसकी समीक्षा कीजिए।

यूरोप में ईसाई धर्म के प्रचार और प्रसार के कारण साहित्य-रचना में भी उपदेशात्मकता तथा नीतिवाद आदि का प्राबल्य होने लगा। आनन्दवादी दृष्टिकोण पर प्रतिबन्ध लगा और 'कला, कला के लिए' न रहकर 'कला, जीवन के लिए' तक ही सीमित हो गयी। कालान्तर में इसके विपरीत प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और लेखकों ने सब प्रकार के बन्धन तोड़ने के प्रयत्न किये। १५ वीं शताब्दी में ग्रीक साम्राज्य के पतन के पश्चात् भागकर इटली आये विद्वानों के साथ वाले ग्रन्थों को पढ़कर इटली में भी जाग्रति आई और एक नये युग का सूत्रपात हुआ। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि वह समय ही एसा था, जहाँ सर्वत्र जागरण की लहर उठ रही थी और मध्ययुग की दासता से मुक्ति पाने के आन्दोलन हो रहे थे। यह जाग्रति राजनीतिक और साहित्यिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से आयी। साहित्य के क्षेत्र में इसी जागरणकाल को 'नव्यशास्त्रवाद' कहा जाता है। इस युग में दो प्रसिद्ध विचारक हुए—सर फिलिप सिडनी और बैन जानसन। सर फिलिप सिडनी ने प्लेटो के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों पर विचार किया और बैन जानसन ने कवि के लिए आवश्यक गुणों की मीमांसा की तथा काव्य के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत किए।

नव्यशास्त्रवाद का प्रारम्भ—नव्यशास्त्रवाद का आरम्भ सर्वप्रथम फ्रांस में हुआ। वहाँ रोन्सार कवि की कल्पनामयी प्रतिभा को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में था, इसलिए इससे व्याप्त अव्यवस्था को रोकने के लिये बुअलो, रापें तथा ला बोस्यू ने जो स्थापनाएँ कीं, वे ही नव्यशास्त्रवाद के नाम से विख्यात हुईं। इन्होंने प्राचीन परम्पराओं को आवश्यक और उत्तम बताया तथा उनके अनुकरण पर बल दिया; साथ ही अरस्तू तथा होरेस आदि के नियमों पर भी चलने को आवश्यक बताया। इसी आधार पर इन लेखकों

ने साहित्य में विशुद्धता, भव्यता, अनुपात आदि तत्त्वों पर जोर दिया। आधुनिकता को इन विचारकों ने मात्र अव्यवस्थित मस्तिष्क की उड़ान बताया।

नव्यशास्त्रवाद के प्रसिद्ध विचारक और उनके मत—नव्यशास्त्रवाद का प्रमुख विचारक बुअलो को माना जाता है। उन्होंने साहित्य के लिए कुछ नियम बनाये और उनके पालन पर उसी प्रकार जोर दिया जैसे एक सैनिक अपने नियम और अनुशासन का पालन करता है। उसका उल्लंघन उन्होंने अपराध माना है। कोई भी रचना तब तक उच्चकोटि की नहीं हो सकती, जब तक उसमें बनाये गए नियमों का पालन पूर्ण रूप से न हो। बुअलो का कहना था कि प्रत्येक साहित्य विधा के पृथक्-पृथक् नियम हैं और उनके पालन करने से ही रचना सफल होती है। ये नियम प्राचीन ग्रीक विद्वानों—होमर, वर्जिल, होरेस, थियोक्रिटस, ओविड आदि की कृतियों के आधार पर बनाये गए थे। बुअलो ने ग्राम्य काव्य-संवादों (eclogue) के लिए थियोक्रिटस और वर्जिल को, शोक-गीति के लिए ओविड को, व्यंग्य-काव्य (Satire) के लिए होरेस तथा ल्यूसिलियस को और त्रासदी, महाकाव्य एवं कामदी के लिए अरस्तू तथा होरेस के सिद्धान्तों को आदर्श तथा अनुकरणीय माना है। रैन बैलक ने भी इसकी पुष्टि की है और लिखा है—

"Neo-classicism is a fusion of Aristotle and Horace, a restatement of their principles and views which underwent only comparatively minor changes during almost three countries.'

नव्यशास्त्रवादी विचारकों का यह स्पष्ट मत है कि उनके द्वारा बनाये गए नियम सार्वदेशीय और सार्वकालिक हैं, अतः उनका पालन सभी के द्वारा होना चाहिए। राइमर के सिद्धान्त भी इसी तर्क पर आधारित हैं और ड्राइडन व डैनिस की तरह उसने भी अरस्तू, होरेस आदि से प्रेरणा ग्रहण की है। डेनिस ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"The rules of Aristole are nothing but nature and good sense reduced to a method."

नव्यशास्त्रवाद के सिद्धान्त—नव्यशास्त्रवादी विचारक कला-सर्जना में कल्पना, भावना आदि का पूर्ण बहिष्कार नहीं करते और उन्हें अचेतन की प्रक्रिया भी नहीं मानते; वरन् वे विवेक, लक्ष्य और चुनाव पर बल देते हैं।

उनका विचार है कि कल्पनाशक्ति विवेकशक्ति पर आधृत है और इसके लिए वे अभ्यास, पठन-पाठन व अध्ययन को आवश्यक मानते हैं।

नव्यशास्त्रवादियों का केन्द्रीय सिद्धान्त है—प्रकृति का अनुकरण। यहाँ प्रकृति से उनका अभिप्राय अरस्तू की तरह मानव-प्रकृति से है न कि जड़-प्रकृति से। वरन् कहा जा सकता है कि इन्होंने उसका और भी विस्तृत अर्थ लिया। इन्होंने प्रकृति के अनुकरण में जड़-प्रकृति तथा यथार्थवाद को भी समाहित कर लिया। इसी यथार्थवाद के कारण उन्होंने संकलन-त्रय पर बल दिया है और इसी कारण इन्होंने कल्पना तथा असम्भाव्य घटनाओं के बहिष्कार की बात कही है। इन्होंने उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण काव्य-रचना की प्रेरणा दी और ऐसे नायक को चुनने पर बल दिया जो शक्ति व गुणों में श्रेष्ठ हो। अतिमानवीय (Super-natural) तत्त्व भी इन नव्यशास्त्रवादियों की दृष्टि से हेय है।

मानव-प्रकृति का चित्रण—नव्यशास्त्रवादियों ने ऐसे मानव-चरित्रों के चयन पर बल दिया जो सर्वत्र और सर्वकाल में पाया जाय। उसको उन्होंने किसी देश, काल व स्थान की सीमा से आबद्ध नहीं किया है। उनका विचार था कि ऐसी कृतियाँ ही सर्वत्र सम्माननीय होंगी जिनमें ऐसी मानव-प्रकृति का चित्रण किया जाय जो सर्वत्र व्याप्त हो, अर्थात् ऋत-सत्यों पर आधारित हो। इसी तरह के प्रकृति-चित्रण के कारण आदर्शवाद का भी जन्म हुआ। सामाजिक आदर्शों के अनुरूप पात्रों की रचना करने की प्रेरणा देने के कारण ही प्रकृति से तात्पर्य 'आदर्श प्रकृति' से लिया गया और कला का उद्देश्य भी सुन्दर प्रकृति का चित्रण समझा गया। जो कुरूप है, भौंड़ा है, भद्दा है, वीभत्स है—उसे साहित्य से वर्जित किया गया और सद्वृत्तियों का उद्घाटन ही कवि-कर्म माना गया।

नव्यशास्त्रवादियों ने यद्यपि काव्य का लक्ष्य आनन्द भी माना है, पर अधिकतर आचार्यों ने उसकी नीति पर ही बल दिया है। ला बोस्यू ने स्पष्ट ही उपदेशात्मकता को काव्य का प्रयोजन माना है—"The aim of the Epic is moral instruction disguised under the allegory of Action."

ला बोस्यू ने साफ-साफ कहा कि कवि पहले उन उपदेशों पर विचार करे, जो वह देना चाहता है और फिर उसी के अनुरूप विषय का चयन करे।

नव्यशास्त्रवाद और विरेचन—भावुक किस प्रकार काव्य का आनन्द प्राप्त करे और विरोधी रसों में भी आनन्द प्राप्त करे, इस पर भी उन्होंने विचार किया है और विवेचन का अर्थ भय और करुणा के भावों का कठोर हो जाना, उनसे अप्रभावित रहने से लिया है। इसको उन्होंने एक उदाहरण से पुष्ट किया है कि जैसे कोई डाक्टर भयानक घावों को देखते-देखते और रोगी की चीख-पुकारों को सुनते-सुनते इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उस पर उनका कोई प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार त्रासदी में पाठक भी करुणा और भय के भावों का अभ्यस्त हो जाता है।

रचना-विधान सम्बन्धी विचार—नव्यशास्त्रवादियों ने कोई भी बात कवि की रुचि पर नहीं छोड़ी। उन्होंने रचना-विधान के सम्बन्ध में भी विविध नियमों का निर्धारण किया। उन्होंने लेखक को संयम से काम लेने को कहा और अति से बचने का परामर्श दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा—

"Restraint is the first lesson of writing. Avoid sterile abundance. Nothing too much, Let everything be in its place and the beginning and end respond to the middle."

समीक्षा—यद्यपि इन नवशास्त्रवादियों ने रचना के सम्बन्ध में सभी प्रकार के नियम एवं बन्धन बनाये तथा उसकी सीमाएँ भी निर्धारित कीं, पर उनकी विषय-वस्तु और रचना-विधान के परस्पर सम्बन्ध-विषयक कल्पना बड़ी अस्वाभाविक और भौंडी रही। उन्होंने केवल बाह्याकार से सम्बन्धित स्थूल नियमों की ही व्याख्या की। रचना को वे खण्ड-खण्ड कर देखते रहे, उन्होंने समग्रता से कृति की समालोचना के नियम नहीं बनाए और अलंकारों आदि से प्रभावित होने के कारण ये लोग काव्य के अनुभूतिपक्ष का विवेचन भी नहीं कर सके। वे काव्य की बाह्यालंकार साज-सज्जा पर विशेष बल देते रहे।

दूसरे, इनके नियमों आदि ने काव्य के क्षेत्र में इतनी सीमाएँ संकुचित कर दीं कि काव्य में मौलिकता का ह्रास होने लगा और काव्य एक पद्धति-विशेष में बँधकर रह गया, परिणामतः कवियों की प्रतिभा नष्ट होने लगी। यथा—

"The rules... had also a cramping influence even on the greatest writers."

इस प्रकार काव्य में उपदेश की प्रधानता से काव्य का मनोरंजन पक्ष क्षीण होने लगा और काव्य का पक्ष दुर्बल पड़ने लगा। रैने बैलक ने लिखा है—

"But on the whole neo-classicism suffered mostly from the excesses of literal-minded moralists who thought of art as a mere intellectual statement of moral precepts."

नव्यशास्त्रवादियों ने विधाओं का वर्गीकरण करते हुए उनका परस्पर भेद बताया और प्रत्येक विधा के पृथक्-पृथक् नियम बताए जिनका पालन अनिवार्य समझा गया। संक्षेप में, नव्यशास्त्रवाद के प्रमुख सिद्धान्त हैं :

प्रथम, कलाकृति में कल्पना या भाव के स्थान पर बुद्धितत्त्व को प्रमुखता मिलनी चाहिए।

द्वितीय, साहित्यकार को सामाजिक मानव-मन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए और साहित्य का विषय नगर या राजदरबार से लिया जाना चाहिए।

तृतीय, कवि का विषय प्रतिपादन निर्वैयक्तिक होना चाहिए।

चतुर्थ, कला-कृति की परख भावोत्पादन की क्षमता पर नहीं, शिल्पगत पूर्णता पर होनी चाहिए।

और अन्त में, साहित्य का उद्देश्य आनन्द देना और शिक्षा देना होना चाहिए।

नव्यशास्त्रवाद के सिद्धान्त अपने में वस्तुतः इतने असंगत नहीं थे, जितना इनका अंधानुकरण करने से हो गये। पर इसमें तथा दूसरे सिद्धान्तों में परिस्थिति तथा काल का अन्तर ही मुख्य है।

प्रश्न १५—"स्वच्छन्दतावाद का उदय तत्कालीन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था और उसने युगान्तर उपस्थित कर दिया।" स्वच्छन्दतावाद के मूल सिद्धान्तों का परिचय देते हुए, उसकी समीक्षा कीजिए।

अथवा

'स्वच्छन्दतावाद नव्यशास्त्रवाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ और इसकी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति ने काव्य को कृत्रिमता के बन्धन से मुक्त किया। 'स्वच्छंदतावाद का परिचय देते हुए उसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

१८वीं शताब्दी के अन्तिम दशक तथा १९वीं शताब्दी के आरम्भ में

नव्यशास्त्रवाद के द्वारा जकड़े गये काव्य नियमों के विद्रोहस्वरूप यूरोप में एक नवीन साहित्यधारा का अभ्युदय हुआ जिसे विद्वानों ने स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) की संज्ञा दी। इस विचारधारा का प्रतिनिधि रूसो था, उसने परम्परागत संस्कारों को बदलने में क्रान्तिकारी भावनाओं का उन्मेष किया। सन् १७८९ की फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति से उत्पन्न विचारों ने स्वच्छन्दतावाद के जन्म की पृष्ठभूमि तैयार की और राजनीतिक क्षेत्र की तरह साहित्य के क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता की चाह, बंधनों को काट फेंकने का उत्साह तथा प्रकृति के प्रति अदम्य अनुराग दिखायी दिया।

स्वच्छन्दतावाद का अभ्युदय तत्कालीन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने यूरोप में जो राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न की, उसने साहित्य को भी प्रभावित किया और जैसे, जनता प्राचीन परम्परागत बन्धन काट फेंकने को सन्नद्ध थी, उसी प्रकार साहित्यकार भी नव्यशास्त्रवादिदों द्वारा काव्य को नियमों के बंधनों में जकड़े जाने के विरुद्ध विद्रोह कर उठे। यह वाद नवशास्त्रवाद के प्रति विद्रोह का परिणाम था। नव्यशास्त्रवादियों ने ग्रीक साहित्य को अपना आदर्श मानकर काव्य को शास्त्रीय नियमों में जकड़ दिया था, इससे साहित्य की आत्मा उपेक्षित-सी हो गई थी। नव्यशास्त्रवादी छन्दगत नियम, शिल्प, बाह्य अलङ्कार तथा भाषा-वैदग्ध्य के मोह में फँसकर उसके उद्देश्य को सुधारवादी मानने लगे थे। ये लोग विलक्षण, व्यक्तिगत तथा स्थानीय के विरुद्ध सामान्य पर बल देते थे। वे प्रकृति को सर्वत्र एक समान मानकर काव्य का उद्देश्य भी समान रूप से पाठकों को प्रभावित कर नीति की शिक्षा देना मानते थे। उनका स्पष्ट विचार था—

"Natural reason and natural goodness were the same in Modern Paris or Ancient Athens."

इसी नव्यशास्त्रवाद के प्रतिक्रियास्वरूप स्वच्छन्दतावाद का जन्म हुआ। साहित्यकारों ने नियमबद्धता, परम्परानुगामिता तथा आडम्बरप्रियता का डटकर विरोध किया। उन्होंने साहित्य को नियम, आदर्श और सीमा आदि के बन्धन से निकाल कर आन्तरिक्त प्रेरणा के उन्मुक्त धरातल पर स्थिर किया। उन्होंने शृंखलाओं से जकड़े जीवन को मुक्त करके उसे नये आयाम

प्रदान किये। स्वच्छन्दतावाद, इस प्रकार एक ओर तो नव्यशास्त्रवाद के विरोध में उत्पन्न हुआ, दूसरी ओर नव्यशास्त्रवाद के विरोध की भावना का उदय तत्कालीन परिस्थितियों के कारण हुआ। राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में हॉब्स, लॉक और रूसो द्वारा की जाने वाली क्रान्ति का प्रभाव जो वैचारिक था; फ्रांस की राज्यक्रान्ति से हुई उलटफेर जो समय के परिवर्तन की द्योतक थी, इससे साहित्यकारों की विचारधारा में भी परिवर्तन की भावना उद्बुद्ध हुई और जिसका स्वाभाविक परिणाम स्वच्छन्दतावाद का उदय था। J. T. Shipley ने स्पष्ट लिखा है—

"With the Renaissance had sprung an arousal of personality, a sense of individual right and power....Long chafing in such bondage, life in a sudden rush renewed its efforts to shake of all yokes, Reason ? The lest refuge to a barren mind ! convention, rule ? Enchaining devices of city and court, far form the truth and the beauty of nature, frigid schemes of an empty heart ! This is new birth, start the calender anew."

अतः कहा जा सकता है कि स्वच्छन्दतावाद एक ऐसी सामान्य प्रवृत्ति है जो किसी भी काल या देश में इन परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हो सकती है। इसी से स्वच्छन्दतावाद पर विरोधी मतों का प्राचुर्य है।

स्वछन्दतावाद का अर्थ और स्वरूप—स्वच्छन्दतावाद एक अंग्रेजी शब्द 'Romanticism' का हिन्दी रूपान्तर है। इस शब्द को प्राचीन फ्रांसीसी शब्द रोमान्ज (Romanz) या रोमांस (Romance) से लिया गया है। इसका अर्थ सदैव परिवर्तित होता रहा है। १७वीं शताब्दी में इसका अर्थ 'काल्पनिक और असत्य' से था। १६वीं शताब्दी में इसके अर्थ में उत्कर्ष हुआ। जर्मनी में इस शब्द का प्रयोग 'उपन्यास' के अर्थ में हुआ; फिर प्राकृतिक दृश्यों के अर्थ में आगे चलकर इस शब्द में प्रेम और विषाद का मेल हो गया और इसकी अनेक व्याख्याएँ चल निकलीं। साहित्यिक रूप में इसका प्रयोग सर्वप्रथम 'फ्रांस' में हुआ। इसका अर्थ था—'साहसशील, भावनाशील और कल्पनाशील। बाद में रोमाण्टिसिज्म के साथ जुड़कर इसके अर्थ में उन्मुक्तता का समावेश हुआ जो राज्यक्रान्ति के बाद विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों का व्याख्याता हो गया।

इस समय इसका अर्थ हो गया—"काव्य की मुक्त एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति-प्रणाली ।" इसमें स्वतन्त्रता की लालसा तथा बन्धनों का त्याग मुख्य हो गया । साहित्य में इसके द्वारा प्रकृति को प्रमुखता दी गयी और व्यक्ति की महत्ता भी बढ़ गयी । यथा—

"This was a time to emphasis upon the individual, with sublime confidence in the supreme will of an earnest and dedicate man."

स्वच्छन्दतावादी इस जगत् से दूर रहकर आत्मानन्द देना चाहता है । वह दुःखवाद से प्रभावित होकर अपने को दुखी देखने में ही सुख का अनुभव करता है । यही कारण है कि उसमें व्यक्ति की प्रधानता हो जाती है । स्वच्छन्दतावादी कवि नियमों और परम्पराओं का उल्लंघन करता है और यथार्थ व समाज के प्रति विद्रोह करता है । वह अनियन्त्रित भावनाओं में ही विहार करता है और सभी वस्तुओं को अपनी ही दृष्टि से देखता है ।

स्वच्छदतावादी कवि इसलिए व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से काव्य को देखता है और स्वच्छन्दतावाद में कल्पना का प्राचुर्य मिलता है ।

स्वच्छन्दतावाद की विशेषताएँ—यहाँ हम संक्षेप में स्वच्छन्दतावाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे, जिनसे उनका स्वरूप—विशेषकर अंग्रेजी काव्य की स्वच्छन्दतावादी विचारधारा का स्वरूप स्पष्ट हो सके ।

(१) **विद्रोह की प्रवृत्ति**—फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति से सम्बन्ध होने के कारण राजनीतिक प्रभाव से स्वच्छन्दतावाद में भी विद्रोहात्मकता है । स्वच्छन्दतावादी कवि न केवल भौतिक शक्तियों के अत्याचार और अनाचार के विरुद्ध है, अपितु वह नीति, धर्म, साहित्यिक परम्पराओं तथा शास्त्रीय नियमों के प्रति भी विद्रोही है । स्वच्छन्दतावाद भाषा-शैली और विषय—सभी क्षेत्रों में विद्रोह करता है । उसने साहित्य के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किये हैं और सफलता प्राप्त की है । छन्दों के विविध स्वरूपों का उद्घाटन किया है । इस धारा के कवियों ने कुलीन वर्ग के पात्रों की अपेक्षा सामान्य पात्रों को अपना काव्य-विषय बनाया और बुद्धिवाद की अतिशयता का भी विरोध किया । वड्‌सवर्थ ने उसके बारे में लिखा है—That false secondary power by which

we multiply distinction." यही स्वच्छन्दतावादी विद्रोहवाद छायावाद और भारतीय प्रगतिवाद में भी दिखाई देता है।

(२) **कृत्रिमता से मुक्ति**—स्वच्छन्दतावाद ने कवियों को आडम्बर तथा कृत्रिमता से मुक्ति दिलायी और सरलता, सहजता तथा प्रकृति की ओर आने का आग्रह किया। लिरिकल बैलेड्स (Lyrical Ballads) की रचना भी इसीलिए हुई, क्योंकि इसमें सहज तथा सरल भावों को चित्रित किया गया। ये कविताएँ इसलिए लिखी गयीं, क्योंकि इनकी भाषा आनन्द की प्राप्ति के लिए उपयोगी होती थी। स्वच्छन्दतावादी कवि मिथ्या अहंकार और दम्भ से मुक्त होकर अकृत्रिम शब्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त कर देता है।

(३) **कल्पना की प्रधानता**—स्वच्छन्दतावादी कविता में कल्पना का प्राधान्य उसकी एक अन्य विशेषता है। कवि कल्पना को प्रेरणादायक तत्त्व मानता है। इसीलिए वह वास्तविक जगत् की यथार्थता तथा कठोरता से दूर कल्पना के मनोरम ऐन्द्रिय जगत् में विचरण करता है। सभी रोमाण्टिक कवियों ने कल्पना को स्वीकार किया है। यह कल्पना ही उन्हें बाह्य लोक की ओर ले जाती है और वह सौन्दर्य के काल्पनिक सौन्दर्य के उपासक बन जाते हैं।

इसी कल्पना के कारण कवि ने प्रकृति की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया और कल्पना ने उसे रहस्यवादी बना दिया। वह प्रकृति की सत्ता में ईश्वरीय सत्ता का भी अनुभव करने लगा। एवरक्रोम्बी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

"The life which progresses direct intution of the pure truth being wholly independent of the faculties by which it takes hold of the illusory contaminations of this present word."

यह कल्पना का ही प्रभाव था कि उसने काव्य को अद्‌भुत और मनोरम बना दिया। इन्होंने स्थूल के लिए सूक्ष्म उपमानों का प्रयोग किया है और इसीलिए इनका काव्य अमूर्त, सूक्ष्म और मादक हो उठा है। इसीलिए मैथ्यू आर्नाल्ड स्वच्छन्दतावादी कवि शैली के लिए लिखता है कि वह ऐसा देवदूत है जो अपने चमकीले पंखों को शून्य में फड़फड़ाता है। (He is ineffectual angel veating is puminous wings in void in vain.)

(४) **जगत् से पलायन**—स्वच्छन्दतावाद की एक अन्य प्रवृत्ति, वास्तविक जगत् से पलायन करने की प्रवृत्ति है। स्वच्छन्दतावादी कवि संसार की संकीर्णताओं और कठोरताओं से ऊबकर एक ऐसे स्वप्नलोक में विचरण करता है, जहाँ इस संसार की कोई बाधा-व्याधा नहीं होती है। वह इस जगत् को छोड़कर ऐन्द्रिय जगत् में घूमने लगता है और इसी ऐन्द्रियजन्य जगत् का सौन्दर्य लुभाता रहता है—उसी से वह प्रेरणा ग्रहण करता है और प्रकृति की मनोरमता में खो जाता है—इन्द्रधनुष के विविध रंगों से स्फूर्ति ग्रहण करता है।

(५) **अद्भुत तथा आश्चर्य के प्रति मोह**—स्वच्छन्दता में कल्पना के प्राचुर्य तथा वास्तविक जगत् से पलायन होने के कारण अद्भुत तथा आश्चर्य का भी पर्याप्त समावेश हो गया है। स्वच्छन्दतावादी कवि यान्त्रिकता तथा भदेसपन को छोड़कर अद्भुत के प्रति आग्रहशील हो उठा। इसी प्रवृत्ति ने रहस्यवाद को जन्म दिया और काव्य में अतिमानवीय (**Super natural**) तत्त्वों का समावेश हो गया। इसके द्वारा काव्य में ऐसी सांकेतिकता आ गयी जो उसे अधिक प्रभावशाली बना देती है और पाठक की कल्पना को स्पर्श करती है। वाट्स डण्टन ने इस प्रवृत्ति को 'अद्भुत' का पुनर्जागरण कहा है।

(६) **वैयक्तिकता की भावना**—स्वच्छन्दतावाद में व्यक्तिवाद को भी प्रमुखता दी गई है। इसमें कवि अपनी रुचि, अपनी भावना और अपनी दृष्टि को ही प्रधानता देता है। अतः इसके प्रबंध काव्य में नायक आत्म-केन्द्रित व्यक्ति होता है। सर्वत्र कवि की दृष्टि से ही काव्य की सर्जना होती है, इसी काव्य का सम्बन्ध वैयक्तिक भावनाओं से हो गया—जीवन से स्वच्छन्दता-वादी कवि कोई सम्बन्ध नहीं मानता। इसी आत्मानुभूति के कारण कवि विवेक के स्थान पर काव्य में अपनी आकांक्षा, आदर्शमयता, भावुकता, अतृप्ति और वेदना का चित्रण करता है। वह अरूप की भावना में रमता है, स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को अधिक महत्त्व देता है और भावों में लीन रहता है।

(७) **स्वदुःखानुभूति की भावना**—स्वच्छन्दतावाद का कवि पर-पीड़न से उत्पन्न क्लेश को अपने में समाविष्ट देखता है, वह अपने को संसार के संघर्षों से थका हुआ तथा परास्त मानता है, इससे उसके मन में वेदना व्याप्त हो जाती है। कवि को इस दुःख में ही सुख का अनुभव होता है और काव्य के माध्यम से वह अपनी वेदना, व्यथा, कुण्ठा, उदासी, निराशा, हताशा, अतृप्त

आकांक्षा, अपूर्ण प्रेम, प्रिय की निष्ठुरता और अपनी सहृदयता आदि का चित्रण करता है। अपने प्रति वह सहानुभूतिशील होकर सोचता है और जीवन को दुःखों से भरा हुआ पाता है। पहले वह अपने प्रिय को दुःख पहुँचाने की कामना करता है और बाद में स्वपीड़नरति की ओर मुड़ जाता है और तब उसे अपने को ही कष्ट पहुँचाने में आनन्द का अनुभव होता है। यह दुःख वास्तविक न होकर काल्पनिक ही होता है—मात्र अभिव्यक्ति के लिए होता है। यही कारण है कि व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में विषाद की प्रधानता होने पर भी कल्पना का पलड़ा ही सदैव भारी रहता है। स्वच्छन्दतावाद में, इसीलिए, इसकी अतिशयता से क्षुब्ध होकर गेटे ने कहा था—"Romanticism was diseased."

(८) **सौन्दर्यमयी भावना और ऐन्द्रियता**—स्वच्छन्दतावाद में कल्पना के प्राचुर्य के कारण ही सौन्दर्य-भावना का सर्वत्र प्रचार-प्रसार मिलता है। शैली ने सम्पूर्ण सृष्टि को ही सौन्दर्यमयी माना है और वह प्रकृति का सर्वत्र सौंदर्यमय चित्रण ही करता है। कीट्स भी सौन्दर्य को ही शाश्वत सत्य मानता है—

"Beauty is truth, truth is beauty that is all,
We know no earth and all we need to know."

यह सौन्दर्य व्यक्ति-सापेक्ष होता है, इसलिए सौन्दर्य में संवेगों का और इसलिए व्यक्तिपरक ऐन्द्रियता का पर्याप्त समावेश हो जाता है। कवि अपनी कुण्ठाओं और अतृप्त आकांक्षाओं की उसके माध्यम से तृप्ति करना चाहता है।

(९) **प्रकृति-प्रियता**—यद्यपि प्रकृति की सत्ता का स्वीकरण प्रत्येक कवि ने किया है और प्राय: प्रत्येक युग के प्रत्येक कवि ने प्रकृति से प्रेरणा ली है, पर स्वच्छन्दतावादी कवि प्रकृति के मुक्त प्रांगण में विहार करता है, जबकि अन्य कवियों ने उससे सुव्यवस्था और शिक्षा भी ग्रहण की है। रोमाण्टिक कवियों ने प्रकृति को अपने सुख-दुख से अनुप्राणित माना है। वह आह्लादमयी ही अधिक है।

(१०) **संगीतात्मकता**—स्वच्छन्दतावादी कवि ने काव्य में गीतिमयता पर भी विशेष जोर दिया। संगीतमयता और गीतिमयता के समावेश का कारण यह है कि ये कवि अपने हृदयोद्गारों की निष्कपट अभिव्यक्ति करते थे और जिसके परिणामस्वरूप कविता भावों का सहज उच्छलन हो गयी। इसीलिए

स्वच्छन्दतावादी कविता में अन्त:प्रेरणा (intution) है, भावमयता है, निर्बाध प्रवाह (spontaniaty) है और है अन्तः-स्फूर्ति ।

निष्कर्ष—समग्रत: कहा जा सकता है कि रोमाण्टिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) ने काव्य को प्राचीन जर्जर कारा से निकालकर मुक्त आकाश के नीचे विस्तीर्ण जगत् में विचरने की प्रेरणा दी । यद्यपि इसने परम्परा, रूढ़ि और नियमों को तोड़ा तथा स्वतन्त्र भावाभिव्यक्ति का अवसर दिया तथा प्रकृति के स्वच्छन्द स्वरूप को अपनाया, लेकिन स्वयं में यह इतना संकुचित हो गया और दुःख, व्यक्तिपरक कष्ट आदि के आरण इतना एकांगी हो गया कि इसमें से उदात्तता पूर्णरूपेण चली गयी । काव्य वैयक्तिक भावनाओं का प्रस्फुटनमात्र होकर रह गया—यही इसकी न्यूनता है ।

प्रश्न १६—अस्तित्ववाद किसे कहते हैं ? पश्चिम में इसका उदय किन कारणों से हुआ ? इसकी समीक्षा करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

अस्तित्ववाद संसार की आधुनिकतम विचारधारा के रूप में एक विशिष्टता रखता है । यह मूलतः दार्शनिक प्रणाली है पर साहित्य में भी इसका विशेष प्रभाव लक्षित होता है । इसका समग्र विवेचन फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक ज्यां-पाल सार्त्र ने किया है और इसे जर्मनी के हृमरेल, हेडेगर तथा डेनमार्क के कीर्कगार्ड ने और आगे बढ़ाया है । अस्तित्ववादी विचारधारा किसी स्थान अथवा देश तक सीमित न रहकर समग्र विश्व के विचारकों द्वारा मान्य हो चुकी है ।

अस्तित्ववाद का स्वरूप—अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट, गतिरोध अथवा संक्रांति का दर्शन है । यह संकटापन्न स्थिति ही इस विचारधारा के प्रति अन्यान्य विचारकों के आकर्षण का कारण है । इसके अनुसार हमारी आध्यात्मिक स्थिति के मूल में संकट विद्यमान है । प्रत्येक सत्य जो अनेक अनुभवों से ज्ञात होता है, वह भी सहस्त्रों अनावश्यक असत्यों से आवेष्टित रहता है, परिणामत: वह जल्दी ही लुप्त हो जाता है । फलतः लक्ष्यविहीन अन्तश्चेतना अशान्त रहती है और आन्तरिक ज्ञान अंधकारपूर्ण हो जाता है । इसका फल यह होता है कि अन्ध श्रद्धा को कार्य का आधार मान लिया जाता है । अस्तित्ववाद इस आध्यात्मिक संकट की व्याख्या कर प्रतिभा से दूर करने का प्रयत्न करता है । इसे पराभववाद का नाम भी दिया जाता है । यह एक

आध्यात्मिक मनःस्थिति का वातावरण है। यह दर्शन काव्यात्मक दर्शन है। इसके प्रभाव से लिखा गया काव्य भावात्मकता की ओर अधिक झुका होता है—यद्यपि प्रधानता तर्क की भी होती है।

अस्तित्ववाद अस्तित्व को सारतत्त्व से भी अधिक प्रधानता देता है। सारतत्त्व दो प्रकार का होता है—(१) समष्टिगत (Universal) तथा (२) व्यष्टिगत (Individual)। समष्टिगत सारतत्त्व एक ही जाति के सभी पदार्थों में पाये जाते हैं और व्यष्टिगत सारतत्त्व किसी विशिष्ट पदार्थ में ही पाये जाते हैं। पहले प्रकार के तत्त्वों में विवेक रहता है और उन्हीं तत्त्वों के कारण एक जाति दूसरी जाति से भिन्नता ग्रहण करती है, जैसे मानव-जगत् के समष्टिगत सारतत्त्व ही उसे पशुजगत् से भिन्न करते हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व बाद में होता है, पहले उसकी कल्पना कर ली जाती है। यदि ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना मानी जाये, तो यह सिद्ध होता है कि उसने पहले इस जगत् की कोई कल्पना अवश्य की होगी। इस सारतत्त्व को अस्तित्व से भी अधिक महत्ता दी गयी है। कारण, मनुष्य पहले निम्न धरातल पर रहता है और उस समय तक प्रकृति के निम्न अस्तित्वों के जगत् में रहता है। पर जब वह उच्च धरातल पर पहुँच जाता है तो अस्तित्वों से निकल कर सारजगत् में पहुँच जाता है और फिर वहाँ कोई कामना नहीं रहती।

अस्तित्ववाद में यह क्रम विपरीत हो जाता है। अस्तित्ववादियों ने सार-तत्त्व के स्थान पर अस्तित्व को प्रधानता दी है। कारण, व्यक्ति को रुचि तो केवल उन पदार्थों में ही रहती है जिनका अस्तित्व है। अस्तित्ववादियों का विचार है कि जो सत्य है उसका अस्तित्व है; अतः जिसका भी अस्तित्व है, वह सार है। अतः अस्तित्ववादी विचारक प्रत्येक प्रत्यक्ष सत्ता का अस्तित्व मानता है और उसे सत्य मानता है।

अस्तित्ववाद का विकास—अस्तित्ववाद का विकास पराभववाद से हुआ है। सारतत्त्व की विवेचना करते समय दार्शनिकों ने जीवन को उसी के अन्तर्गत माना है। आध्यात्मिक संकट के परिष्करण के लिए १९वीं शताब्दी में दो मार्गों का आश्रय लिया—आदर्शवाद और निश्चितवाद का। आदर्शवाद एक ऐसे दर्शन का निर्माण करता है जो अपने में निहित विचारों के अतिरिक्त किसी अन्य बाह्य सत्ता को स्वीकार नहीं करता। पर निश्चितवाद ज्ञान तथा

दैवी कृपा के स्थान पर संसार के सामाजिक व प्राकृतिक वास्तविक तथ्यों की सत्ता मानता है। इन दोनों विचारों से दो नये रूपों का जन्म हुआ—पहले से उत्कट मानववाद की सृष्टि हुई तथा दूसरे से आकर्षक वस्तुवाद का जन्म हुआ। कला के क्षेत्र में यही धारणाएँ स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद के रूप में प्रस्फुटित हुईं।

बाद में स्वच्छन्दतावादी विचारधारा इतनी प्रबल हो गई कि पुनः दर्शन के क्षेत्र में संक्रान्तिकाल आया जो बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक रहा। इस समय अनास्था का जन्म हुआ और अराजकता की स्थिति बनी रही। इस समय अस्तित्ववादी विचारधारा एक फैशन के रूप में आयी, जिसे लोगों ने पराभववाद के रूप में स्वीकार किया।

आरम्भ में यह पराभववाद साहित्य के क्षेत्र में साहसिकता के रूप में उदित हुआ और इसी से जर्मनी में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। अस्तित्ववाद आशा के स्थान पर, इसीलिए, निराशा को महत्त्व दिया करता है और यह मानता है कि कोई भी स्थिति तभी तक रह सकती है जब उसके साथ अस्तित्व का भी आनन्द हो। डा० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, "यह दर्शन विभिन्न विरोधों का दर्शन है तथा युग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।"

अस्तित्ववादी विचारधारा युग-संस्कृति में आये हुए पराभव के तत्त्वों की सैद्धान्तिक व्याख्या करती है। यह मानव तथा उसके अस्तित्व के अतिरिक्त किसी अन्य बात पर ध्यान नहीं देती।

इसकी शैली व भाषा काव्य में प्रयुक्त होने के कारण सौन्दर्यवादी है। इसके साहित्यिक प्रभाव का भी अनेक ग्रन्थों में वर्णन हो चुका है। विशेष रूप से, अस्तित्ववादी मृत्यु के विषय को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। लियोपैड ने इटली की साहित्यिक तथा आध्यात्मिक परम्परा में अस्तित्ववाद का प्रभाव दिखाने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त हेडेगर ने मानव-अस्तित्व के वे जीवित चित्र प्रदर्शित किये हैं, जो साहित्य के अधिक निकट हैं।

अस्तित्ववाद का साहित्यिक स्वरूप—अस्तित्ववाद के साहित्यिक स्वरूप को समझने के लिए उसके दार्शनिक स्वरूप को समझना आवश्यक है। दर्शन में प्रत्येक अस्तित्ववादी इसे आत्मचेतना से आरम्भ करता है, जिसे वह

आन्तरिकता कहता है। वह अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखकर देखता है और पाता है कि इस असीम जगत् के विस्तार में उसका अंश कितना सीमित और हेय है। इस विशाल शून्य के समक्ष यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अत्यन्त क्षुद्र है। इसे असीम कहकर नहीं टाला जा सकता, यह मानवीय कल्पना से परे है। इसके एक छोर पर क्षुद्रता है और दूसरे छोर पर निस्सीमता है। एक ओर मानव की स्थिति है और दूसरी ओर निस्सीम शून्य की—इन दोनों ही छोरों में अस्तित्व विद्यमान है।

पर मनुष्य अपनी क्षुद्रता के साथ असीम की प्रतीति से सम्बन्ध रखता है—जहाँ निस्सीमता है वहाँ क्षुद्रता भी है, पर अस्तित्व दोनों का ही है। लेकिन मानव अपनी सीमा को स्थिर रखने के लिए, अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए रक्षात्मक प्रतिक्रिया करता है, जो भय की भावना पर आधृत होती है। प्रतिक्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—

(१) **भयमिश्रित, रक्षात्मक विरोध की प्रतिक्रिया**—इसका विवेचन सार्त्र ने किया है कि उसके विद्रोह चाहे कितने ही हीन और क्षुद्र क्यों न हों, पर उसकी चेतना का उद्‌घोष तो करते ही हैं।

(२) **धार्मिक और ईशपरक स्वीकृति**—भय की भावना से इसकी प्रतिक्रिया होती है, इसका स्वीकरण कालरिज, कीर्कगार्ड व शेलिंग ने किया है। इस प्रतिक्रिया में मानव-विद्रोह नहीं करता, उसे स्वीकार करके अपने विचारों को धार्मिकता की ओर मोड़ देता है। उस असीम विस्तार से डरकर अपने को उसी असीम के प्रति समर्पित कर देता है और ऐसी दशा में वह एक ऐसी शक्ति की कल्पना कर लेता है, जो इस महान् यन्त्र को संचालित करती है।

अस्तित्ववाद के विचारों की समीक्षा—अस्तित्ववादी विचारकों का विचार है कि मनुष्य सार्वभौम तत्त्व का निर्माण नहीं कर सकता, परन्तु अपने व्यक्तिगत सारतत्त्व के द्वारा वह एक विशिष्ट मानव अवश्य बन जाता है। सार्त्र का तो यहाँ तक कहना है कि व्यक्ति की जाति, चेतना, कार्य का स्वरूप, उसके विचार और भाव भी उसके निर्माण के हेतु हैं। मनुष्य आज जो कुछ भी है, उसका भविष्य इसी पर निर्भर करता है। अस्तित्ववादी दृष्टि आशावादिता और प्रगतिशीलता पर निर्भर करती है। मनुष्य के भावावेग भी स्वतन्त्र हैं; उसके कार्य बिना किसी उद्देश्य के किये जाते हैं।

अस्तित्ववादियों के अनुसार मृत्यु, संघर्ष, दुःख आदि मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमाएँ हैं। इनमें से मृत्यु संयोगात्मक है, जिसे मनुष्य भूला रहता है तथा इससे बचने की चेष्टा करता है, यद्यपि यह जीवन का अनिवार्य अंग है। पर मृत्यु से वैयक्तिक अस्तित्व की सम्भावनाएँ समाप्त नहीं होतीं, केवल बुझ जाती हैं; क्योंकि किसी जीवन की मृत्यु उसके शरीर को प्रियजनों से भले ही छीन ले, चेतनागत भावनाओं को नहीं मिटा सकती। अतः मृत्यु भी जन्म की तरह एक तथ्यमात्र है। इसीलिए वह मानव-शरीर को अस्तित्व का अनिवार्य हेतु स्वीकार करते हैं और मानव-चेतना के लिए शरीर आवश्यक मानते हैं। मानव में एक चेतना ही ऐसा तत्त्व है जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्नता प्रदान करता है।

सार्त्र ने ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार नहीं की है। वह इसका कारण बताते हुए लिखते हैं—

"All existing being are born without reason, continue through weakness and die by accident."

महत्त्व—अन्त में, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद में व्यक्ति का चित्रण साधारण की अपेक्षा विशेष है और यह आत्मगत विवेक पर विशेष बल देता है। लेकिन साथ ही इसमें जो उत्तरदायित्वहीनता पाई जाती है, उसके कारण यह उच्छृंखलता को ही जन्म देता है। फिर भी यह निर्विवाद है कि इस दार्शनिक सिद्धान्त ने साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और अपने शुद्ध रूप में यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि यह व्यक्ति को अपने निर्माण और आदर्श-निर्धारण के लिए स्वतन्त्र छोड़ देता है।

प्रश्न १७—'काव्य में उदात्त-तत्त्व' विषय पर एक निबन्ध लिखिये।

काव्य में उदात्त-तत्त्व पर पाश्चात्य विचारकों ने विस्तार से विचार किया है। उदात्तता पर मुख्य रूप से विचार लोंजाइनस ने किया है, पर कैंकिलिडस तथा ब्रेडले आदि ने भी इस पर विचार किया है। यद्यपि प्रत्येक के विचार एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं; फिर भी प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। कैंकिलिडस ने इस पर अपने विचार समग्रता से नहीं दिये हैं और न ही उन्होंने आधारभूत तत्त्वों को ही ठीक से पकड़ा है; उन्होंने तो अनेकानेक उदाहरणों द्वारा 'उदात्त' के स्वरूप का ही विवेचन किया है। "उन्होंने इस बात का विवेचन कि हम अपनी स्वाभाविक क्षमता को औदात्य के किसी

निश्चित स्तर तक किस प्रकार उन्मादित कर सकते हैं, अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है।"

लोंजाइनस और ब्रेडले ने उदात्त तत्त्व पर विस्तार से विचार किया है। अब हम इनके आधार पर उदात्त के स्वरूप और तत्त्वों पर विचार करेंगे।

उदात्त का स्वरूप—लोंजाइनस ने उदात्त को स्वत: स्पष्ट मानकर वैसे ही छोड़ दिया है, उसकी परिभाषा नहीं दी है। मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक—दोनों ही प्रकार की दृष्टि होने के कारण उन्होंने उदात्त के अन्तर्गत और बहिरंग दोनों ही पक्षों पर विचार किया है। लोंजाइनस के अनुसार, अभिव्यंजना की श्रेष्ठता और विष्टिता का नाम उदात्तता है—

"Sublimity is a certain distinction and excellence in expression."

उदात्त के आधार पर ही कवियों को यश और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इसलिए उन्होंने उदात्त के लिए पाँच बातों को आवश्यक माना है—(१) महान् धारणाओं की क्षमता या विषय की गरिमा; (२) भावावेश की तीव्रता; (३) समुचित अलंकार-योजना; (४) उत्कृष्ट भाषा तथा (५) गरिमामय रचना-विधान। इनमें से प्रथम दो तो जन्मजात हैं और तीन कलागत। प्रथम दो तो उदात्त के अंतरंग पक्ष के अन्तर्गत आती हैं और जो कलागत हैं, वे काव्य के बहिरंग पक्ष में आती हैं। इसके साथ ही उन्होंने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उन तत्त्वों का भी उल्लेख किया है, जो औदात्य के विरोधी हैं। इस प्रकार उदात्त के स्वरूप विवेचन के तीन पक्ष हो जाते हैं—(१) अन्तरंग तत्त्व, (२) बहिरंग तत्त्व और (३) विरोधी तत्त्व।

(१) अन्तरंग तत्त्व—उदात्त के स्वरूप का विवेचन करते समय जिन पाँच बातों को आवश्यक माना है, उनमें महान् धारणाओं की गरिमा और भावावेश की तीव्रता को अन्तरंग तत्त्व के अन्तर्गत लिया गया है, क्योंकि इनका सम्बन्ध काव्य की भावनाओं से है।

(क) उदात्त विचार या धारणाओं की गरिमा—कवि की कोई भी कृति तब तक महान् नहीं हो सकती, जब तक उसमें महान् धारणाओं की क्षमता नहीं होती। उदात्त विचारों का पोषण आत्मा के द्वारा होता है। अत: यह गुण अर्जित न होकर स्वाभाविक ही होता है। इसे प्रतिभा द्वारा सिद्ध भी कह सकते हैं। कवि को क्षुद्र और हीन विचारों से मुक्त होकर महान् व

उदात्त भावों का निस्सरण ही करना चाहिए। श्रेष्ठ रचना के लिए विषय का विस्तृत होना आवश्यक है। डा० नगेन्द्र ने भी इसके विषय में लिखा है—"विषय ऐसा होना चाहिए जो पाठक-श्रोता पर स्थायी प्रभाव डाले, जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव हो जाये और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे।"

(ख) **उदात्त भावावेग अथवा भावों की तीव्रता**—उदात्त का दूसरा तत्त्व जो उसके अन्तर्गंग तत्त्व से सम्बद्ध है, वह उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत-भव्य आवेग है। कोई रचना तभी महान् होगी जब उसमें आवेगों की भव्यता होगी। लोंजाइनस का इस सम्बन्ध में स्पष्ट विचार है, "जो आवेग उन्मद उत्साह के साथ उद्दाम वेग से फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों में विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथा-स्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्य आता है, वह अत्यन्त दुर्लभ है।"

आवेग के दो भाग किये गए हैं—(१) भव्य आवेग और (२) निम्न आवेग। जिस आवेग से आत्मा ऊपर उठकर हर्ष और उल्लास से भर जाती है, वह भव्य आवेग होता है और जिस आवेग से आत्मा में करुणाजन्य निराशा, हताशा आदि आती है, वह निम्न आवेग होता है। इसमें दया, शोक, भय आदि विकार आते हैं और पहले में ओज, शौर्य, रति, हास्य आदि भाव आते हैं। पहले प्रकार के आवेग से आत्मा का उत्कर्ष होता है और दूसरे प्रकार के आवेग से आत्मा का अपकर्ष होता है। उदात्त के लिए भव्य आवेग को आवश्यक माना गया है।

लोंजाइनस हर्ष, उल्लास, आदर और विस्मय को उदात्त के लिए बहुत आवश्यक मानते हैं। इनसे पाठक की चेतना अभिभूत हो जाती है।

(२) **बहिरंग तत्त्व**—उदात्त तत्त्व के अन्तर्गत लोंजाइनस ने भाषा-शैली आदि पर विचार किया है। ये तत्त्व-भाषा-शैली, रचना-विधान आदि के द्वारा पुष्ट होते हैं। इन्हें लोंजाइनस ने 'कला की उपज' माना है। ये तत्त्व तीन हैं—(क) समुचित अलङ्कार-योजना, (ख) उत्कृष्ट भाषा और (ग) गरिमामय रचना-विधान।

(क) **समुचित अलंकार-योजना** (Formation of Figures)—उदात्त शैली के लिए अलङ्कारों का प्रयोग आवश्यक माना गया है, इसलिए उस युग में अलङ्कारों का निर्बाध प्रयोग होता था। पर इसे कोई मनोवैज्ञानिक आधार

प्राप्त नहीं था। परन्तु अलंकारों का प्रयोग उचित होना चाहिए, अतः मात्र चमत्कार-प्रदर्शन के लिए उनका प्रयोग उन्हें मान्य न था। वह अलंकार को तभी उपयोगी मानते थे, जब वह जहाँ प्रयुक्त हुआ है, पाठक को वहाँ मात्र चमत्कृत ही न करे, अपितु आनन्द भी प्रदान करे। अलंकारों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होनी चाहिए, सप्रयास तथा ठूँसी हुई वह ज्ञात न होनी चाहिए। लोंजाइनस ने स्पष्ट लिखा है कि अलंकारों का प्रयोग इस कुशलता से होना चाहिए कि इस बात पर किसी का ध्यान न जाये कि वह अलंकार है। इससे स्पष्ट है कि वह अलंकारों को काव्य के उत्कर्ष का हेतु मानते हैं, अर्थात् अलंकार साधन हैं, साध्य नहीं।

जहाँ तक उदात्त के पोषक अलंकारों के निर्देश का प्रश्न है, लोंजाइनस ने अनेक अलंकारों का विवेचन किया है, जिनमें विस्तारणा, शपथोक्ति, प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति, छिन्नवाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन, सार, रूपपरिवर्तन, पर्यायोक्ति रूपक आदि मुख्य हैं।

(ख) उत्कृष्ट भाषा (Noble Diction)—उदात्त की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है, अतः भाषा ही उदात्त का मूलाधार है। लोंजाइनस ने भाषा के उत्कृष्ट होने पर विशेष बल दिया है। वह उत्कृष्ट भाषा के अन्तर्गत रूपक, शब्द-चयन, भाषा की सज्जा आदि लेते हैं। पद-विन्यास और विचार एक-दूसरे के आश्रित हैं, इससे स्पष्ट हो जाता है कि उदात्त गरिमामयी भाषा से ही अभिव्यक्त हो जाता है। इसलिए शब्द-विन्यास का सुन्दर होना बहुत आवश्यक है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में, "सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।" शब्द-विन्यास के दो पक्ष होते हैं—ध्वनिपक्ष और अर्थपक्ष। इन दोनों के उचित समन्वय से ही काव्य में मोहकता, आकर्षण व माधुर्य उत्पन्न होता है। अनुकूल ध्वनि के शब्दों का चयन करने से मोहकता और मार्दवता आ जाती है। वह अनुभूति की तीव्रता की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही मानते हैं। भाषा के लिए साथ में यह भी ध्यान में रखना है कि वह सर्वत्र गरिमामयी हो और शब्द-योजना भी संगीतात्मक प्रभाव के अनुरूप होनी चाहिए।

(ग) गरिमामय रचना-विधान (Dignified & elevated Composition)—रचना-विधान के अन्तर्गत शब्दों, विचारों, कार्यों, सुन्दरता तथा राग के अनेक रूप आदि आते हैं। इसका मूलाधार सामंजस्य है, अर्थात् भाषा

का सामंजस्य। इससे उदात्त शैली की सृष्टि होती है। लोंजाइनस इन सबके समन्वय से ही रचना-विधान की पूर्णता मानते हैं। इनके लिए वह शरीर-विधान से रचना-विधान की तुलना करते हैं कि जैसे शरीर के विभिन्न अवयवों के अकेले रहने पर कोई महत्त्व नहीं, सबके मिलने पर ही सम्पूर्ण शरीर की रचना होती है, वैसे ही उदात्त शैली के सभी तत्त्व मिलकर कृति को गरिमामय बनाते हैं।

(घ) कल्पना तत्त्व (Element of Imagination)—इन तत्त्वों के साथ ही लोंजाइनस ने एक और तत्त्व कल्पना तत्त्व की ओर भी संकेत करते हुए कहा है कि कल्पना तत्त्व की भी उदात्त में अत्यधिक उपादेयता है—यद्यपि इसकी उन्होंने प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की है, केवल बिम्बों का वर्णन किया है, पर बिम्बों से उनका अभिप्राय कल्पना से ही है। उनके अनुसार कल्पना वह शक्ति है जो पहले कवि को मानसिक रूप में वर्ण्य-विषय का साक्षात्कार करा देती है और फिर उसकी सहायता से कवि की भाषा में चित्रात्मकता द्वारा वर्ण्य-विषय को इस तरह प्रस्तुत करता है कि वह सहृदय के समक्ष और जीवन्त प्रत्यक्ष हो उठता है। लोंजाइनस की कल्पना सम्बन्धी यह धारणा आजकल की कल्पना सम्बन्धी धारणा से पृथक् नहीं है।

(३) विरोधी तत्त्व—उदात्त के स्पष्टीकरण के लिए लोंजाइनस ने उदात्त के विरोधी तत्त्वों पर भी विचार किया है, जिससे श्रेष्ठ कलाकार इनसे बचकर अपने काव्य की सर्जना कर सके। लोंजाइनस ने बालेयता (Childishness) को उदात्त का प्रथम विरोधी तत्त्व माना है। असंयत वाग्विस्तार, अस्त-व्यस्त पद-रचना तथा हीन अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग वह उदात्त शैली के अपकर्ष का कारक मानते हैं। वागाडम्बर भी उदात्त का अन्य विरोधी तत्त्व है। भावाडम्बर तथा शब्दाडम्बर भी उदात्त के लिए हानिकारक है। इसी तरह भाषा का असंयत प्रयोग भी विरोधी तत्त्व है; साथ ही अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, अत्यन्त संक्षिप्तता, अनावश्यक साज-सज्जा संगीत व लय की अधिकता से भी भाषा की गरिमा चली जाती है। कुत्सित व क्षुद्र अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग से भाषा हीन हो जाती है और तब विषय की गरिमा जाती रहती है। वह लिखते हैं—

"Extreme conciseness cramps and cripples the thought;

whereas brevity in the true sense is effective because of its economy and directness."

पाश्चात्य विचारकों ने सौन्दर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र में उदात्त को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होंने चार रस माने हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ रस उदात्त को ही माना है। शेष तीन रस—सुन्दर, करुण और हास्य हैं।

ब्रेडले ने 'On the sublime' में उदात्त की व्याख्या करते हुए उसे बहुत विराट् माना है और असीम क्षमता को इसका प्रमुख तत्त्व माना है। उदात्त के आधार पर ब्रेडले ने सुन्दर के पाँच भेद किए हैं—उदात्त, भव्य, सुन्दर, मनोरम और ललित। इनमें सुन्दर की स्थिति मध्यवर्ती है।

निष्कर्ष—इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उदात्त का स्वरूप जो पाश्चात्य आलोचकों ने दिया है, उनमें लोंजाइनस का विशेष महत्त्व है। उसका ही अनुसरण परवर्ती आलोचकों ने भी किया है। डा० शान्तिस्वरूप गुप्त के अनुसार, "भावोत्कटता, अलौकिक कल्पना-ऐश्वर्य और उत्कट प्रभाव-क्षमता आदि जिन गुणों का उल्लेख लोंजाइनस ने किया है, ब्रेडले ने भी, असीम शक्ति, के अन्तर्गत उन्हें स्वीकार किया है।"

बेनजानसन भी विचार और भाषा के सम्बन्ध में इसी तरह के विचार अभिव्यक्त करते हैं; यथा—

"In all speech words and sense are as the body and soul."

डा० नगेन्द्र भी 'काव्य में उदात्त तत्त्व' में उदात्त के स्वरूप और उसके औचित्य पर विचार करते समय लिखते हैं कि भाषा का प्रयोग संयत होना आवश्यक है; अन्यथा "असंगत भाषा का प्रयोग छोटी-छोटी बातों को बड़ी-बड़ी और भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे से बालक के मुँह पर पूरे आकार वाला त्रासद अभिनय का मुखौटा लगा देने के समान है।"

इस उदात्त के लिए सुन्दर का समावेश आवश्यक होता है, क्योंकि तभी पाठक की भावना का किसी कृतिकार की रचना से तादात्म्य हो पाता है।

प्रश्न १८—क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का संक्षेप में उल्लेख करते हुए उसकी सीमाओं का निर्धारण कीजिए और इसके सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण की समीक्षा का इसकी उपयोगिता पर विचार कीजिए।

अभिव्यंजनावाद का मूल स्रोत उस स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से है जो परम्परा, रूढ़ि, नियम आदि का विरोध करती है। इसी वाद के परिणामस्वरूप

'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त का अभ्युदय हुआ और उसकी व्यक्तिवादी प्रतिष्ठा को मान्यता दी गई। अभिव्यंजनावादियों का विचार है कि आत्मा के आलोक से ही वास्तविक सत्य का दर्शन हो सकता है। अतः कलाकार को अपनी व्यक्तिगत दृष्टि अभिव्यक्त करनी चाहिए। सत्य की यथार्थपरक व्याख्या न करके उसकी व्याख्या आत्मा के सत्य के आलोक में करनी चाहिए।

अभिव्यंजनावाद का अभ्युदय क्रोचे के दार्शनिक विचारों से माना जाता है। उन्होंने सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से साहित्य और कला की समस्याओं पर विचार किया। इस दृष्टि से उसकी कृति 'एस्थेटिक्स' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

क्रोचे के दार्शनिक विचार—अभिव्यंजनावाद को समझने के लिए क्रोचे के दार्शनिक विचारों को समझना आवश्यक है। क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक होने के कारण, आत्मा की दो क्रियाएँ मानते हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। प्रथम के द्वारा मानव ज्ञानार्जन करता है और दूसरी के द्वारा उसका व्यवहार करता है। इस प्रकार वह ज्ञान के भी दो प्रकार मानते हैं—(१) स्वयं प्रकाश अथवा प्रतिभा ज्ञान (Intutive knowledge) और (२) तर्क ज्ञान (Concept knowledge)। इनमें से प्रथम प्रकार का ज्ञान व्यष्टि-परक होता है और दूसरा समष्टिपरक। व्यष्टिपरक ज्ञान का जन्म स्वयं-सिद्ध होता है, जो प्रतिभा से उत्पन्न होता है, इसका उदय कल्पना से होता है और दूसरा ज्ञान-बुद्धि से होता है। पहला कला का उत्पादक होता है और दूसरा दर्शन व विज्ञान को जन्म देता है। स्वयं-प्रकाश ज्ञान से ही बिम्बों की कल्पना होती है और तर्क-ज्ञान से हम ज्ञान का बोध करते हैं। स्वयं-प्रकाश ज्ञान को ही क्रोचे ने सहजज्ञान कहा है।

यह सहज-प्रकाश-ज्ञान प्रभाव और संवेदना से भिन्न है। क्रोचे का मत है—"जब हम किसी वस्तु की प्रत्यक्ष अनुभूति या संवेदन प्राप्त करते हैं, तब हमारा अन्तर्मन निष्क्रिय रहता है। बाह्यवस्तु की प्रतीति के निर्माण में अन्तर्मन का सहयोग नहीं होता।" ये संवेदन जब अन्तर्मन में खप जाते हैं, तो वे आत्मानुभूति बन जाते हैं और कल्पना की सृष्टि बन जाते हैं। इसी प्रभाव को क्रोचे ने अभिव्यंजना कहा है। अभिव्यंजना की सहायता से कलाकार अपनी सहजानुभूति को प्राप्त करता है। इस तरह सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है सौन्दर्य तत्त्व को जन्म देती है—

"It is impossible to distinguish intution from expression in this cognitive process. The one appears with the other at the same instant, because they are not two, but one."

कल्पना और अभिव्यक्ति—क्रोचे का यह विचार है कि कवि के हृदय में कल्पना की स्थिति प्रतिभा के समान ही होती है, दोनों ही जन्मजात होती हैं, क्योंकि कल्पना-शक्ति के कारण ही कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। अतः इसे कवि का मौलिक धर्म भी कहा जा सकता है। वह काव्य में जो कोई भी भाव अभिव्यंजित करता है, वह इसी कल्पना की अभिव्यक्ति होती है।

क्रोचे ने इस तरह, काव्य अथवा कला में कल्पना का बहुत महत्त्व बताया है। क्रोचे के विचार से मूल वस्तु की यही कल्पना है जो अभिव्यक्तिगत कलात्मकता को प्राप्त होती है। उन्होंने 'ऐस्थिटिक' ग्रन्थ में अभिव्यंजना को बाह्य तत्त्व के रूप में और कल्पना को आन्तरिक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। जो कुछ बाह्य है, वह काव्य नहीं है।

"The work of art (the aesthetic work) is always internal; and that which is called external is no longer a work of art."

ये बाह्य अभिव्यक्तियाँ—चित्र, मूर्ति, कला, कविता आदि कला नहीं हैं, स्मृति की सहायक हैं। इनकी सहायता से कलाकार अपनी सहजानुभूति को पुनः प्रस्तुत कर लेता है। अतः क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना बाह्य होकर भी आन्तरिक होती है, जिसे कवि अपने शब्दों में व्यक्त करता है।

कला का आनन्द—क्रोचे के अनुसार कला का आनन्द सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म-मुक्ति जैसा आनन्द है। जैसे आत्मा की मुक्तावस्था में साधक को असीम आनन्द की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार अभिव्यक्ति के बाद कलाकार को भी अपार आनन्द की उपलब्धि होती है। अभिव्यक्ति में कोई भेद-विभेद भी नहीं है—या तो अभिव्यक्ति है नहीं और यदि है तो वह सफल अभिव्यक्ति है। उसमें किसी तरह का विभेद नहीं है।

"Beauty is successful expression, or better expression and nothing more, because expression when it is not successful, is not expression."

अभिव्यंजना का स्वरूप—अभिव्यंजनावाद या एक्सप्रेशनिज्म कलात्मक अभिव्यक्ति के स्वरूप को कहते हैं। अभिव्यंजना किसी परिस्थिति के मूल

आवेग की बाह्याकृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है। डा० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, 'एक्सप्रेशन' का अर्थ या तो "किसी आन्तरिक तथ्य का बाह्याकार प्रकट या स्पष्ट करना या प्रतिनिधित्व करना, और, या सामान्य रूप से एक वस्तु द्वारा दूसरी की ओर संकेत करना होता है।"

अभिव्यंजनावाद का आरम्भ—यद्यपि इसके मूल १९वीं सदी के अन्तिम चरण में ही मिलने लगते हैं—पर प्रथम महायुद्ध के बाद इसका विकसित रूप जर्मन साहित्य में, विशेष रूप से नाटकों में मिलता है। फ्रेंक बैडकाइण्ड के 'अवेकनिंग ऑव स्प्रिग' तथा आगस्ट स्टिडबर्ड के 'द स्पूक सोनॉटा' आदि नाटकों में यह बीज रूप में मिलता है। पर इसका विशदता से वर्णन क्रोचे के 'एस्थेटिक्स' में ही प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त लिसरो, होरेस, क्विंटेलियन और आविड आदि ने भी इसका विवेचन किया है। इनके उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति तीन प्रकार की होती है—

(१) उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति।
(२) समान रूप से उद्देश्यपूर्ण प्रदर्शन अथवा संकेत।
(३) मनोवैज्ञानिक आन्तरिक स्थिति।

इस अभिव्यंजना को पहचानने के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं, इनसे अभिव्यंजना का स्वरूप बताया जा सकता है—

(१) जिसे अभिव्यक्त किया जाता है।
(२) जो अभिव्यक्त करता है।
(३) जिसके माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है।

सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण—क्रोचे ने इसका स्पष्ट व्याख्यान किया है कि कला सदैव आत्माभिव्यक्ति का एक रूप है। क्रोचे की दृष्टि सौंदर्यवादी थी। अभिव्यक्ति की क्षमता ही सौंदर्यवादी दृष्टिकोण है—जो कुछ भी है उसे सुन्दर रूप में प्रस्तुत करना ही सौंदर्यवादी दृष्टि है। अभिव्यंजना सुन्दर होती है, उसे आन्तरिक रूप से सजग एवं शुद्ध बनाना होता है।

अभिव्यंजनावाद पर आरोप—क्रोचे का अभिव्यंजनावाद यद्यपि मूलतः दार्शनिक सिद्धान्त है, पर साहित्य-क्षेत्र में भी इसका पर्याप्त प्रभाव है। इस पर विद्वानों ने अनेक आरोप लगाये। क्रोचे बाह्य अभिव्यंजना को आवश्यक मानकर कलाकार को ऐसी स्वच्छन्दता दे देता है जो अराजकता और

अव्यवस्था में परिणत हो सकती है। यदि सौंदर्य की अभिव्यंजना आन्तरिक होती है, तो फिर प्रश्न यह उठता है कि वह बाह्याकार कैसे धारण करता है। और जब तक बाह्याकार धारण नहीं करेगा, तब तक आलोचक उसका मूल्यांकन कैसे करेगा ? और ऐसी दशा में अभिव्यंजना की सुन्दरता-असुन्दरता का वर्णन कैसे होगा ?

इसके साथ ही एक आरोप यह भी लगाया जाता है कि कला सहजानुभूति है। क्रोचे सहजानुभूति को वैयक्तिक मानते हैं और वैयक्तिक अनुभूति का कभी पुनर्भाव नहीं होता—जब कोई पुनर्भाव नहीं होता तो उसका भावन कैसे होगा ? क्रोचे इसका कोई उत्तर नहीं दे पाते। फिर, साथ ही यह भी विचारणीय है कि कलाकार की सहजानुभूति जब वैयक्तिक और अभूतपूर्व होती है, तो फिर आलोचक उसकी कलाकृति को देखकर वैसी ही सहजानुभूति कैसे प्राप्त कर सकेगा ?

क्रोचे ने इस पर ध्यान नहीं दिया कि कलाकार का काम दूसरों तक अपने भावों को पहुँचाना है और कलाकृति दूसरों को प्रभावित करने—उनको आनन्द प्रदान करने, शिक्षा देने या उनका भावोत्कर्ष करने के लिए निर्मित होती है। अतः क्रोचे ने जिस प्रकार के आदर्श कलाकार की कल्पना की है, वह यथार्थ जगत् में मिलना असम्भव ही है।

क्रोचे ने अपने सिद्धान्त में जीवन के प्रति उपेक्षा प्रकट की है। पर, सच तो यह है कि जीवन और कला का अटूट सम्बन्ध है। कलाकार को जीवन की वास्तविकता पर ही कला का निर्माण करना पड़ता है। अतः कलाकार जीवन की उपेक्षा नहीं कर सकता। क्रोचे ने इस तरह व्यावहारिकता की पूर्ण उपेक्षा कर दी है।

निष्कर्ष—समग्रतः कहा जा सकता है कि क्रोचे का अभिव्यंजनावाद आत्मा की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है। पर यह मूलतः सैद्धान्तिक ही है, जो दर्शन से सम्बद्ध है; काव्य-शास्त्र या कला-विवेचन में इसमें अनेक दोष दिखाई देते हैं। फिर भी इसका महत्त्व निर्विवाद है। यह विचारधारा सौन्दर्य-चिन्तन का आधार लेकर अधिक व्यापक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित हुई है। क्रोचे ने अभिव्यंजना को अन्तरंग बताया है जो स्वयं में कला और साहित्य की चरम परिणित है। आगे चलकर यद्यपि अन्य वादों की भाँति इस वाद के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के खण्डन का प्रचलन हुआ, पर विशुद्ध सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से

साहित्य अथवा कला का परीक्षण करने वाले एकमात्र मानदण्ड के रूप में इस विचारधारा का विशिष्ट महत्त्व निर्विवाद है।

प्रश्न १९—आदर्शवाद के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसके जीवन-मूल्यों, क्षेत्र-विस्तार तथा महत्त्व का समीक्षात्मक मूल्यांकन कीजिये।

अंग्रेजी शब्द आइडियलिज्म (Idealism) का हिन्दी पर्याय आदर्शवाद है; इसे विचारवाद भी कहा जाता है, क्योंकि आइडियलिज्म आइडिया (Idea) शब्द से बना है और आइडिया (Idea) का अर्थ विचार होने से आदर्शवाद को विचारवाद भी कहते हैं।

साहित्य में आदर्शवाद का प्रयोग अधुनातन विचारधारा नहीं है, अपितु यह अत्यन्त प्राचीनकालीन विचारधारा है। साहित्य के उदय के साथ-साथ इस विचारधारा का भी अभ्युदय हुआ है, अर्थात् प्राचीनकालीन साहित्य आदर्शवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। भारतीय साहित्यकारों की भावना भी आदर्शवादी थी और प्राचीन ग्रीक विचारक भी आदर्शवाद के ही परोक्षतः समर्थक थे। उन्होंने साहित्य का नैतिक और सुधारवादी होना आवश्यक माना है। यही नैतिकता आदर्शवाद की जननी है और सुधार-भावना का आदर्शवाद से गहरा सम्बन्ध है।

आदर्शवाद का स्वरूप—आदर्शवादी साहित्यकार प्रायः स्वप्न-द्रष्टा होता है। वह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। आदर्शवादी विचारक का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि यह संसार दुःखशाला है, पर इसके बाद परलोक में सुख प्राप्त करने के प्रयत्न करने चाहिए; वह भविष्य की उज्ज्वल झाँकी प्रस्तुत करता है और सदैव, सत्य, न्याय, दया आदि की ही विजय देखता है। इसलिए आदर्शवाद में आशावादिता को गहनता से माना गया है। साहित्य में आदर्शवाद से आशय एक ऐसी विचारधारा से है जो मनुष्य को अपने जीवन में किन्हीं उदात्त तत्त्वों के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियों की ओर चलने की प्रेरणा देती है। यह मनुष्य की सन्तोषवृत्ति को सजग करता है और बाह्यरूप से संयम, त्याग तथा आत्म-नियमन को श्रेष्ठ बताता है। आदर्शवाद में स्पष्ट रूप से यह माना गया है कि बाह्य सुखों से मनुष्यों को कभी सुख और सन्तोष नहीं मिलता, इसके लिए आन्तरिक सुख और सन्तोष की खोज आवश्यक है और यह खोज सत्य, न्याय तथा आस्था के पथ पर चलकर ही प्राप्त हो सकती है।

हो सकता है, आरम्भ में संसार के संघर्षों से विचलित होने के कारण अन्याय और हिंसा आदि की विजय होती दिखाई दे, पर आदर्शवाद के अनुसार यह निश्चित है कि अन्त में न्याय और सत्य की ही विजय होगी। इसलिए आदर्शवादी व्यक्ति सांसारिक सुखों से उदासीन होकर आत्मिक और आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने के प्रयत्न में लीन रहता है। वह बाह्य संसार की पूर्ण उपेक्षा कर देता है।

आदर्शवादी विचारकों का यह स्पष्ट मत है कि शरीर तथा सभी बाह्य उपकरण नाशवान हैं, अमर तथा शाश्वत केवल आत्मा है। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा की 'अमरता' पर प्रकाश डाला है। अतः आत्मिक सुख जिसका आत्मा से सम्बन्ध है, ही चिरन्तन है। लेकिन मनुष्य को एकदम सन्तोष प्राप्त नहीं होता, इसकी प्रक्रिया बड़ी लम्बी है; इसीलिए कल्पना और विचारशक्ति उसे सदैव खोजने के प्रयत्न में लीन रहती है। यही कारण है कि आदर्शवादी साहित्यकार अपनी रचना में सदैव सत्य तथा न्याय की प्रतिष्ठा करता है और अन्त में सद्वृत्तियों की विजय दिखाता है।

आदर्शवाद के भेद—आदर्शवाद मूलतः एक ही है, पर सिद्धान्त और व्यवहार के आधार पर उसके दो भेद किये जा सकते हैं। डा० नगेन्द्र ने इन दो भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है कि आदर्शवाद के दो भेद होते हैं—

(१) कल्पना-विलासी आदर्शवाद।

(२) व्यावहारिक आदर्शवाद।

कल्पनात्मक आदर्शवाद में साहित्यकार काल्पनिक आनन्द से अपनी क्षुधा की तृप्ति करता है और कल्पनाजन्य रमणीय क्रीड़ाओं में रमा रहता है। वह अपनी कल्पना में ही आदर्शवाद के चित्र खींचता रहता है। इस प्रकार के लेखक केवल कल्पना-प्रिय ही होते हैं। इन लेखकों पर व्यंग्य करते हुए कहा गया है—

"They are riding on horse-back in vacumm."

दूसरे प्रकार का आदर्शवादी व्यावहारिक होने के कारण वस्तुजगत् का आदर्शवादी पर्यवेक्षण करता है और कल्पना की रंगीनी व मादकता में खोने की अपेक्षा संयम, विवेक और महत्त्वाकांक्षा पर बल देता है। उसके आदर्श व्यावहारिक समाधान देते हैं और नैतिकता के स्तर पर ही आधृत होते हैं। ऐसे आदर्श मानव को संसार में उन्नति करने की प्रेरणा देते हैं।

आदर्शवाद का जीवन-मूल्यों से सम्बन्ध—आदर्शवाद मानव को आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करता है और असीम सत्ता के प्रति समर्पण की भावना को भी जाग्रत करता है। वह संसार को क्षणभंगुर मानता है और जीवन भी वास्तव में नाशवान है, पर इसमें भी ऐसे अनेक सत्य हैं जो शाश्वत और चिरन्तन हैं। आदर्शवाद ऐसे ही शाश्वत जीवन-मूल्यों की विवेचना करता है। ये जीवन मूल्य नैतिकता पर आधारित होते हैं और मनुष्य को प्रगति की ओर ले जाते हैं, उसे ईश्वरीय सत्ता का बोध कराते हैं तथा न्याय, सच्चाई, मर्यादा और संयम की महत्ता बताकर उस पर चलने की प्रेरणा देते हैं। ये जीवन-मूल्य भी उदात्तता के सूचक होते हैं तथा उस सामर्थ्य से युक्त होते हैं जो जीवन के लिए एक प्रकार की प्रेरक शक्ति का कार्य करती है। इस शक्ति का मूल आधार 'बहुजन हिताय' 'बहुजनसुखाय' की भावना होती है। यही कारण है कि आदर्शवादी रचनाओं में कला का उच्चतर रूप प्रतिष्ठित हो जाता है।

आदर्शवाद द्वारा निर्धारित जीवन-मूल्य का यथार्थ से आशय यह है कि इनसे उच्चतर जीवन-निर्वाह करने की प्रेरणा मिलती है और आध्यात्मिकता से मिलकर इसका महत्त्व और रूप विशद् हो जाता है और यह जीवन मूल्य है चिन्तन, जो उसे पशु से भिन्न करता है—यही चिन्तनशक्ति मनुष्य को उदात्त भावनाओं की ओर ले जाती है।

वास्तविकता की अपेक्षा उदात्त आदर्शों का स्वीकरण—आदर्शवाद संसार में पायी जाने वाली यथार्थता तथा वास्तविकता को क्षणभंगुर तथा नाशवान मानकर उसके अस्तित्व को अस्वीकार करता है और इसीलिए साहित्य में यथातथ्य चित्रण करने का विरोधी है। यह जीवन में वास्तविकता के स्थान पर उदात्तता का समर्थक है। आदर्शवाद यह नहीं बताता कि 'क्या है', वरन् यह बतलाता है कि 'क्या होना चाहिए'। क्या होना चाहिए—इसी की कल्पना करके वह एक आदर्शवादी साम्राज्य की कल्पना करता है, जहाँ सुख ही सुख है, व्यक्ति दृढ़ प्रतिज्ञ, ईमानदार तथा न्यायी व सत्यवादी है और सभी सन्तोष एवं सौहार्द की भावना से रहते हैं। इसी काल्पनिक उदात्त भावों का प्रतिबिम्ब आदर्शवाद संसार में देखना चाहता है। पर संसार में जो क्लेश, पीड़ा, अन्याय, शोषण, हिंसा, व्यभिचार, दुराचार आदि व्याप्त हैं, इसे वह अज्ञानताजन्य मानता है और उसका विश्वास है कि उस समय भले ही कुप्रवृत्तियाँ प्रबल हों,

पर अन्त में विजय सद्प्रवृत्तियों की ही होगी। इसीलिए आदर्शवादी विचारधारा के समर्थक साहित्यकार अपनी रचनाओं में दुराचारी की पराजय दिखाकर अन्त में सदाचारी की विजय दिखाते हैं और उसे सुखी एवं सम्पन्न दिखाते हैं।

इस प्रकार, आदर्शवाद मनुष्य की उदात्तवृत्तियों को जाग्रत करता है और उसे सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। वह साहित्य में वर्णित प्रत्येक विषय के उदात्त स्वरूप को आदर्श मानकर उसी के चित्रण पर बल देता है, क्योंकि इसी से जीवन को उदात्त और साथ ही साथ कल्याणमय बनाया जा सकता है। यद्यपि आदर्शवाद की इस विचारधारा का वास्तविकता से कोई सम्बन्ध न होने के कारण इसे काल्पनिक जगत् की वस्तु समझकर निरर्थक समझा जाता है, पर यही इसकी सार्थकता का सबसे प्रबल आधार है; वह इसी से संसार के स्वरूप-परिवर्तन में विश्वास करता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दो प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं—सद्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति। जो जीवन के सर्जनात्मक पक्ष पर केन्द्रित रहकर सृजन के प्रेरणात्मक तत्त्वों का निर्माण करती है, उसे सद्प्रवृत्ति कहते हैं और जो जीवन के यथार्थ चित्रण की सारहीनता के कारण उसके विनाशात्मक तत्त्वों का अनुप्राणन करती है, उसे दुष्प्रवृत्ति कहते हैं। मानव में ये दोनों प्रवृत्तियाँ समान रूप से विद्यमान रहती हैं। आदर्शवाद इनमें से सद्प्रवृत्तियों के उत्थान पर बल देता है—यद्यपि वह जीवन की वास्तविकताओं से भी भली-भाँति परिचित होता है।

आदर्शवाद की विशेषता—आदर्शवाद जीवन को अपेक्षाकृत उच्चस्तर पर कल्पित कर संभावित जीवन का स्वरूप-निर्देशन करता है। यह स्वरूप यद्यपि यथार्थ पर ही निर्भर होता है, पर वह इस यथार्थ का समर्थन न करके उसका भव्यरूप ही प्रस्तुत करता है। आदर्शवाद की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह जीवन की यथार्थता से विमुख न होकर भी, उसकी यथार्थता को दृष्टिगत रखते हुए उसके उदात्तीकरण की सम्भावनाओं पर विचार करता है। वह जीवन की कल्याणता और सृजनशीलता का निर्देशन और समर्थन करता है। इसी से इसे शाश्वत सिद्धान्त भी कहा जाता है।

आलोचना—इस पर भी आदर्शवाद सर्वथा आक्षेप-विहीन सिद्धान्त नहीं है। इस पर सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि यह जीवन की वास्तविकताओं को

नकार कर पूर्ण काल्पनिक लोक में लीन रहता है। यथार्थ का चित्रण न होने से यह जीवन के निकट न लगकर कल्पना लोक की सर्जना लगता है। अतः व्यवहार की दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं रहता, इसका मात्र सैद्धान्तिक रूप ही रह जाता है।

आदर्शवाद के विरोध में एक तर्क यह है कि यह ऐसी विचारधारा है जो भावात्मक तथा कल्पनात्मक तत्त्वों पर आधारित है। पर इस आक्षेप पर विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि यह आधार लिया यथार्थ से ही जाता है। यथार्थ की इसमें पूर्ण उपेक्षा नहीं है। यथार्थ में जो विरोध है, जो त्रुटियाँ हैं, साहित्यकार उनका अपनी कल्पना से सम्भावित निदान प्रस्तुत करके एक ऐसे आदर्श की कल्पना करता है जो इन निदानों से युक्त होता है। इस प्रकार आदर्शवाद यथार्थ का उदात्तीकरण करता है, अतः वह यथार्थ से पूर्णतया विमुख नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष—वैचारिक रूप से आदर्शवाद का पर्याप्त महत्त्व है। प्राचीन साहित्य में इसका सर्वत्र ही प्रसार है। लोंजाइनस का 'उदात्त' भी इसी विचारधारा का परिणाम है। अतः समग्रतः कहा जा सकता है कि आदर्शवाद का सम्बन्ध मानव की भावना के सर्वतोन्मुखी रूप से है और यह यद्यपि आज अन्य विचारधाराओं की तुलना में उपेक्षणीय है, पर किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र विद्यमान है।

प्रश्न २०—पाश्चात्य समीक्षा में प्रतीकवाद के अभ्युदय का उल्लेख करते हुए उसके स्वरूप और आधारों का विवेचन कीजिए। साथ ही यह भी बताइए कि इसे साहित्य-क्षेत्र में कहाँ तक मान्यता प्राप्त हुई है।

प्रतीकवाद (Symbolism) शब्द का प्रयोग उस दृश्य (गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य वस्तु का अपने साहचर्य से प्रतिविधान करती है। प्रतीक अमूर्त और अदृश्य वस्तु को प्रतिविधान द्वारा मूर्त और दृश्य बनाता है। अपने मौलिक अर्थों में प्रतीकवाद किसी व्यक्ति, विषय, घटना अथवा क्रिया की ओर ध्यान देने वाले पदार्थों और चिह्नों तक ही सीमित था, पर अब इसका विस्तार हो गया है और इसका प्रयोग मनोविश्लेषण, अवचेतन, जीवन और स्वप्नों—सभी की व्याख्या के लिए होता है। प्रतीक की परिभाषा करते हुए यह कहा जा सकता है कि एक के स्तर पर उससे मिलते-जुलते दूसरे सत्य का उल्लेख ही प्रतीक है "अप्रस्तुत अप्रमेय, अगोचर अथवा अमूर्त

का प्रतिनिधित्व करने वाले उस प्रस्तुत या गोचर वस्तु विधान को प्रतीक कहते हैं जो देश, काल एवं सांस्कृतिक मान्यताओं के कारण हमारे मन में अपने चिर-साहचर्य के कारण किसी तीव्र भावना को जाग्रत करता है।" ये व्यंजनात्मक रूप से या भावात्मक रूप से समता के धरातल पर विशिष्ट अर्थों को प्रकट करने वाला विशिष्ट शब्द-समूह है। अतः प्रतीकवाद से आशय अदृश्य को भी मूर्त रूप प्रदान करने से है।

प्रतीकवाद का आरम्भ—पाश्चात्य साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रतीकवाद का आधुनिक युग में उद्‌भव फ्रांस में हुआ। इसे सर्वप्रथम जीन मोरियस ने सन् १८६८ में चलाया। इसे यथार्थवाद का विरोधी भी कहा जाता रहा है, क्योंकि इसके प्रवर्त्तक यथार्थवाद के विरोधी थे। फिर इसका प्रचार और प्रसार इंगलैण्ड, जर्मनी तथा अन्य महाद्वीपों—अमरीका आदि में भी हुआ और तब लार्फोर्ज, रिम्बो, मालार्मे आदि प्रतीकवादियों ने इसका विशद् विश्लेषण करके आन्तरिक और बाह्य का अन्तर समाप्त कर दिया और इसमें आध्यात्मिक संकल्पनाओं की स्थापना की। कवि ने इसमें आदर्श तथा सौन्दर्य तत्त्वों का समावेश किया। साथ ही रहस्यवादी तत्त्व का भी इसमें समावेश हो गया। पारनेशनिज्म और यथार्थवाद के विरोध में लिखी गई, वेग्नर की कविता से प्रभावित नवीन कविता को प्रतीकवाद के अन्तर्गत रखा गया।

बाद में प्रतीकवाद का दर्शन में भी समावेश हो गया और बर्गसाँ के अर्धचेतन के दर्शन से प्रारम्भ होकर १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में होने वाले आदर्शवादी आन्दोलन से भी इसका सम्बन्ध हो गया। प्रतीक की सहायता से कल्पना अधिक सूक्ष्म, संक्षिप्त एवं सुन्दर बन जाती है, अतः उसका अभिव्यंजनावाद से भी पर्याप्त साम्य दिखाई देता है और, चूँकि यह व्यक्तिगत रूप से प्रतीकों के रूप में दृश्यों का चित्रण करता है, अतः इसका स्वच्छन्दतावाद से भी सम्बन्ध हो जाता है। प्रतीकवाद का प्रभाव जर्मन कवि रिल्के, रूसी लेखक ब्लोक, आइरिस कवि कीट्स, अमरीकन कवि हैत्थार्न तथा वाल्ट ह्विटमैन पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। पर इसके प्रमुख कवि मालार्मे ही माने जाते हैं।

प्रतीकवाद ने जर्मनी की आदर्शोन्मुख दार्शनिक विचारधारा को भी प्रभावित किया। हीगेल तथा शापेनहॉवर के प्रभाव से इसमें रहस्यात्मकता भी आ गयी है। अतः प्रतीकवादी विचारधारा को डा० प्रतापनारायण टण्डन

के अनुसार, "किसी प्रकार की असाधारण अथवा असामान्य प्रवृत्ति पर आधारित न मानकर अभिव्यक्ति की एक सहज शैली ही मानना चाहिए।" इसमें विशेषता इतनी अवश्य है कि किसी भी अव्यक्त की प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्ति किसी दूसरी व्यक्त वस्तु के द्वारा की जाती है।

प्रतीकवाद के आधार और प्रक्रिया—प्रतीकवाद एक साहित्यिक प्रक्रिया के रूप में भाषा की शिथिलता तथा लचीलेपन पर आधारित है। इस शिथिलता के भी अनेक रूप हैं। इन्हें आत्मवाद, अध्यात्मवाद, सादृश्यवाद अथवा प्रत्यक्ष बिम्बवाद भी कहा जा सकता है। इसलिए प्रतीकवाद का आधार अव्यक्त सत्ता है जो अमूर्त, अदृश्य और अनुपमेय है।

यह एक सनातन सत्य है कि किसी भी पदार्थ की—चाहे वह जड़ हो या चेतन—मन में एक भावना पैदा होती है जो मनुष्य का ध्यान किसी ऐसी वस्तु की ओर ले जाती है जो गुण में उसी के समान होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भावनात्मक रूप से ही समान रूप और गुण का बोध कराने वाली किसी अन्य वस्तु का मस्तिष्क में ध्यान आने से, प्रथम के माध्यम से दूसरे की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् प्रतीक किसी अव्यक्त की प्रचलित; पर अन्य अभिव्यक्ति करता है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा भी समझ सकते हैं। जैसे सरिता को प्रवाहित होते देखकर उससे सहृदयता, तरलता, अबाधगति, गहनता आदि का बोध होता है, तो इन गुणों को अभिव्यक्ति देने के लिए सरिता का उपयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार ऊँचे-ऊँचे पर्वतों को देखकर उनकी दृढ़ता, गम्भीरता, एकान्तप्रियता आदि का ज्ञान होता है, अतः पर्वत का प्रयोग इन गुणों के लिए प्रतीक रूप में किया जा सकता है। यही प्रतीकवाद है।

प्रतीकों के भेद—प्रतीकों के स्थूलतः दो भेद हो सकते हैं—(१) साहित्यिक प्रतीक और (२) वैज्ञानिक प्रतीक। साहित्य में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है, उनमें भावात्मक तथा व्यंजनात्मक साम्य का ध्यान रखा जाता है। परन्तु विज्ञान में एक प्रतीक, किसी विशिष्ट पदार्थ, बिम्ब अथवा विचार को किसी दूसरे प्रतीक द्वारा प्रकट किया जाता है।

साहित्य में प्रतीकवाद का प्रयोग विभिन्न प्रकार से होता है—(१) सर्वजीववाद अर्थात् सभी वस्तुओं में जीव (जीवन) की कल्पना करके, (२) रूपक

के द्वारा, (३) उपमा के द्वारा और (४) चरित्र प्रतिनिधित्व द्वारा। ये सभी प्रयोग प्रतीक में आते हैं और अव्यक्त को व्यक्त करते हैं।

प्रतीक के कार्य—साहित्य में प्रतीकों के माध्यम से अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं। इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) किसी विषय की व्याख्या करना—प्रतीकों के माध्यम से, कोई ऐसा विषय जिसकी प्रत्यक्षतः व्याख्या न हो पाती हो, व्याख्या की जाती है। रहस्यवादियों द्वारा अव्यक्त सत्ता की अभिव्यक्ति प्रतीकों के द्वारा की गई है।

(२) सुप्त तथा दमित अनुभूति को जाग्रत करना—प्रतीकों के माध्यम से मनुष्य की सुप्त अथवा दमित अनुभूति जाग्रत हो जाती है। मन में सुप्त विचार, जो किसी प्रकार व्यक्त न हो पा रहे हों; प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हो जाते हैं।

(३) अलंकरण का माध्यम—काव्य में अनुभूति-पक्ष के साथ-साथ कलापक्ष की भी उतनी ही उपादेयता है। प्रतीकों के माध्यम से काव्य को अलंकृत किया जाता है; क्योंकि कोई बात सीधे-सादे शब्दों की अपेक्षा घुमा-फिराकर—प्रच्छन्न रूप से कही जायेगी तो उसमें सौन्दर्य की वृद्धि हो जायेगी। प्रतीक काव्य के इस पक्ष को समृद्ध बनाने में भी सहायक होते हैं।

केनेथ बर्क ने प्रतीकों का कार्य किसी अनुभव के एक प्रतिरूप अथवा प्रतिकृति का शाब्दिक साम्य माना है। प्रतीकों के प्रयोग से कृति में सरलता की उद्भावना होती है, क्योंकि इससे भावधारा तथा अमूर्त विचार बोधगम्य हो जाते हैं। वह प्रतीकों का प्रयोग पलायन के रूप में भी स्वीकार करते हैं तथा वस्तु की व्याख्या कर उसे स्वीकार्य बनाना भी प्रतीक का कार्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतीक का प्रयोग निम्न कार्यों के लिए भी किया जाता है—

१. अपनी अनुभूति की विशद अभिव्यक्ति के लिए।
२. मनोभावों की अनेक व्यंजनाओं के लिए।
३. अव्यक्त एवं सूक्ष्म को व्यक्त और मूर्त्त करने के लिए।
४. अपने ज्ञान को रहस्यमय रखकर दूसरों पर धाक बैठाने के लिए।
५. अभिव्यंजना के नवीन प्रयोगों के लिए।
६. गागर में सागर भरकर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए।
७. अपनी रचना को मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।

प्रतीकवाद की आवश्यकता—मनुष्य के जीवन की विविधता तथा अनुभवों की विशदता के कारण शब्द अथवा भाषागत एक प्रकार की अपूर्णता रहती है, क्योंकि मनुष्य ने प्रत्येक वस्तु, गुण, अनुभूति तथा भावना के लिए एक शब्द अथवा नाम का निर्माण कर लिया है। सामान्यतः इससे काम चल जाता है, परन्तु जहाँ सूक्ष्म प्रयोग की अपेक्षा होती है, वहाँ ये शब्द अपर्याप्त रहते हैं, इसलिए उस स्थान पर प्रतीक की आवश्यकता पड़ती है। प्रतीक के माध्यम से उस गुण, अनुभूति अथवा भावना के लिए नये शब्दों को खोजा जाता है।

इसके अतिरिक्त इस माध्यम के स्वीकरण के लिए जो मूलधारणा रहती है, वह यह है कि किसी भी अपूर्ण वस्तु के लिए किसी ऐसी ही वस्तु से चयन भी किया जा सकता है, जो कम-से-कम उसकी अपेक्षा अधिक पूर्ण हो। यह पूर्णता प्रकृति में ही अधिक मिलती है, क्योंकि वह मनुष्य की अपेक्षा अधिक पूर्ण है। इसीलिए मानवीय भावनाओं तथा अनुभूतियों के लिए प्राकृतिक प्रतीकों का ही अधिक उपयोग होता है। अतः प्रतीक की सर्वत्र आवश्यकता पड़ती है; इससे अपूर्णता को पूर्णता मिलती है।

प्रतीकवाद का क्षेत्र-विस्तार और प्रभाव—पाश्चात्य चिन्तन की एक धारा होने के साथ-साथ प्रतीकवाद का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। समाज, धर्म, संस्कृति आदि की जितनी भी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, वे सूत्र रूप में प्रतीकात्मक होती हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन में भी इनका महत्त्व कम नहीं है। अनेक प्रतीक ऐतिहासिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में भी मान्य हैं। कुछ प्रतीक स्थायी रूप से मान्य हैं, जैसे राष्ट्रध्वज राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रतीकवाद का सम्बन्ध पूर्ण अभिव्यक्ति से है। इसका क्षेत्र-विस्तार भी अत्यधिक है।

साहित्य में इसका प्रयोग साहित्यकार की विभिन्न मनोदशाओं का समर्थन कराने के लिए होता है। प्रतीकवादी काव्य विचार या भाव को ऐन्द्रिक रूप से आवृत्त करना चाहता है। इस तरह प्रतीकवाद का सर्वत्र प्रभाव पड़ा है।

उद्देश्य—प्रतीकवादी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि यथार्थात्मक नग्न चित्रणों की अभिव्यक्ति को रोका जाय। इसीलिए इसने अतियथार्थवाद का विरोध किया और प्रतीकों के माध्यम से नग्नता को ढँकने का प्रयास किया।

प्रतीकवाद का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि इसने यथार्थवाद और आदर्शवाद के बीच एक कड़ी के रूप में काम किया। इसने कल्पना को वास्तविकता से दूर आदर्शवाद की तरह न जाने दिया और न यथार्थवादी चित्रण की नग्नता को ही स्वीकार किया, अपितु वास्तविकता के आधार पर प्रतीकों के रूप में कल्पना को महत्त्व दिया। इसीलिए साहित्य तथा कला के क्षेत्र में साहित्यकारों तथा चित्रकारों द्वारा प्रतीकों का प्रयोग आरम्भ हुआ।

निष्कर्ष—समग्रत: कहा जा सकता है कि प्रतीकवादी आन्दोलन यथार्थ की नग्नता को ढँकने के लिए किया गया एक प्रयोग था। इसने अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान कर काव्य को अलंकृत किया।

प्रश्न २१—"अरस्तू ने त्रासदी में कथानक को चरित्र से अधिक महत्त्व दिया है।" उनका मन्तव्य स्पष्ट करते हुए आप तर्कपूर्वक अपनी सम्मति दीजिए।

अथवा

अरस्तू के 'त्रासदी विवेचन' पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखिए।

त्रासदी का सिद्धान्त पाश्चात्य काव्यशास्त्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके यूनानी विचारकों में अग्रगण्य आलोचक अरस्तू हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम त्रासदी की व्याख्या और विवेचना की तथा उसके स्वरूप का निर्धारण किया।

त्रासदी की परिभाषा और स्वरूप—अरस्तू ने त्रासदी के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है :

"Tragedy is an imiration of an action that is serious, complete and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in seperate parts of the play, in form of action, not of narration through pity and fear effecting the proper katharsis."

अर्थात् "त्रासदी किसी गम्भीर स्वत:पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"

इस आधार पर अरस्तू ने त्रासदी को कार्य की अनुकृति माना है और त्रासदी में निम्नलिखित तत्त्वों को खोजा है—

(१) गाम्भीर्य, (२) स्वतःपूर्णता, (३) निश्चित आयाम, (४) कार्य का वर्णन नहीं, प्रदर्शन, (५) अलंकृत भाषा, (६) त्रासद करुणा को जगाने वाली घटनाएँ और (७) उद्देश्य रूप में भावों का परिष्कार।

अरस्तू द्वारा की गयी त्रासदी की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है और मानव के मूलभावों—करुणा तथा त्रास का विरेचन के आधार पर परिष्करण होने की क्रिया का समाख्यान करती है।

त्रासदी के अंग—इस विवेचन के आधार पर त्रासदी के छह अंग होते हैं—(१) कथानक, (२) चरित्र-चित्रण, (३) पद-रचना या भाषा, (४) विचार-तत्त्व, (५) दृश्य-विधान और (६) संगीत।

इसमें कथानक, चरित्र-चित्रण तथा विचार-तत्त्व अरस्तू के अनुसार अनुकरण के विषय हैं और दृश्य-विधान माध्यम है तथा पद-रचना व संगीत अनुकरण की विधि है। अब हम अरस्तू के मत के आधार पर इन छह अंगों का विवेचन करेंगे।

कथानक—कथानक से तात्पर्य घटनाओं के विन्यास से लिया जाता है। यह वह तत्त्व है जिससे पाठक परिचित नहीं होते, पर वह लेखक के मन में रहता है। अरस्तू ने सबसे महत्त्वपूर्ण अंग कथावस्तु को माना है—उसे काव्य-त्रासदी की आत्मा माना है। इसके कारण ये हैं कि त्रासदी कार्य तथा जीवन की अनुकृति है और जीवन की अनुकृति में कार्य-व्यापार की ही प्रमुखता होती है, और ये कार्य-व्यापार घटनाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते हैं। दूसरे, सुख या दुःख ही काव्यगत प्रभाव का स्वरूप है और यह स्वरूप कार्यों पर ही निर्भर करता है। अतः ये कार्य अथवा घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य हैं। तीसरे, चरित्र त्रासदी में मुख्य नहीं, गौण होता है, क्योंकि यह घटनाओं के सहायक के रूप में प्रस्तुत होता है, त्रासदी बिना चरित्र के हो सकती है, पर बिना कार्य-व्यापार के नहीं हो सकती।

कथानक के आधार—अरस्तू के अनुसार कथानक के तीन आधार होते हैं—

(१) **दन्त-कथाएँ**—त्रासदी के कथानक का आधार प्रायः दन्त-कथाएँ होती हैं। इनमें सत्य और कल्पना का सुन्दर समन्वय रहता है।

(२) **कल्पना**—कवि अपनी कल्पना से भी अनेक घटनाओं की योजना कर लेता है। ये कथानक यद्यपि प्रसिद्ध नहीं होते, पर आनन्द प्रदान करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी हैं। इनका सामान्य होना आवश्यक है।

(३) **इतिहास**—इतिहास की घटनाओं को भी त्रासदी के कथानक का आधार बनाया जा सकता है। पर इनमें भी काव्यात्मकता होनी चाहिए।

अरस्तू घटनाओं की संभाव्यता पर विशेष बल देते हैं।

कथावस्तु के मूल गुण—अरस्तू त्रासदी के कथानक के लिए उसके कुछ मूलगुणों को भी आवश्यक मानते हैं। इन्हीं से कथानक में प्राण-प्रतिष्ठा होती है।

(१) **एकान्विति**—कथानक में एकान्वित का अर्थ एक व्यक्ति की कथा से न होकर कार्य की एकता से है। अरस्तू के अनुसार, "कथानक की धुरी ऐसा कार्य व्यापार होनी चाहिए जिसके विभिन्न अंग परस्पर सम्बद्ध होने के साथ-साथ मूलकार्य से भी सम्बद्ध हों जिसमें कोई अनावश्यक और निरर्थक अंग न हो।" अर्थात् यदि कथानक के किसी भी अंग को इधर-उधर किया जाय तो वह विशृंखलित हो जाय। इसमें प्रत्येक घटना उस कार्य का अभिन्न अंग हो तथा घटना परस्पर सम्बद्ध हो। कोई भी घटना अनावश्यक अथवा विषय से असम्बद्ध न हो।

(२) **पूर्णता**—त्रासदी के कथानक में पूर्णता होना भी आवश्यक है, क्योंकि "त्रासदी ऐसे कार्य की अनुकृति है जो समग्र एवं सम्पूर्ण हो और जिसमें एक निश्चित विस्तार हो।" पूर्णता से अभिप्राय यह हुआ कि कथानक की समाप्ति पर दर्शक या दर्शक के मन में कोई जिज्ञासा शेष न रह जाये। जिज्ञासा का परितोष ही पूर्णता का मूल तत्त्व है और इस जिज्ञासा की पूर्ति का क्रम भी व्यवस्थित हो।

(३) **सम्भाव्यता**—कथानक में कल्पना की उड़ान ज्ञात न होकर वास्तविक जगत् का ज्ञान होना चाहिए, अर्थात् जिसके घटित होने की सम्भावना रहे। असम्भव घटनाएँ मानव-मन ग्रहण नहीं कर पातीं, अत: उसकी उपयुक्तता आवश्यक है। उनका कथन है, "कवि-कर्म इतना ही नहीं है कि जो घटित हो चुका है उसी का वर्णन करे, बल्कि कवि उसका भी वर्णन कर सकता है जो घटित हो सकता है।"

(४) **सहज विकास**—कथानक का विकास सहज रूप में होना चाहिए,

अर्थात् संवृति, विवृति, स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान आदि की उद्भूति कथानक में से ही होनी चाहिए। घटनाएँ जब एक-दूसरे का सहज परिणाम होती हैं तभी श्रोता या प्रेक्षक उन्हें ग्रहण कर पाता है। अतः सन्तुलन बनाये रखकर उनका स्वाभाविक विकास कथानक का अन्य गुण है।

(५) **कुतूहल**—प्रत्येक कथानक में मानव की कुतूहलवृत्ति को उद्बुद्ध कर उसका परितोष करने की क्षमता होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक यह है कि घटनाएँ अचानक ही उपस्थित की जायें। पर इसमें शृङ्खला विच्छिन्न न हो, यह ध्यान रहे।

(६) **साधारणीकरण**—अरस्तू ने साधारणीकरण को प्रबन्ध-कला का मूल आधार माना है। उनका मत है कि घटना-विन्यास करने से पूर्व कवि को अपने कथानक की एक सार्वभौम और सर्वसाधारण को ग्राह्य रूपरेखा बना लेनी चाहिए, जो सभी के साथ तादात्म्य कर सके। इस प्रकार यह पाठक या प्रेक्षक के मन को रमा सकेगा।

कथानक के भेद—अरस्तू ने कथानक के दो भेद माने हैं—(१) सरल और (२) जटिल। इन दोनों का निर्णायक है कार्य। कार्य यदि सरल है तो कथानक भी सरल होगा और कार्य यदि जटिल है तो कथानक भी जटिल होगा। कारण, उनके अनुकार्य—वास्तविक जीवन के व्यापारों में भी स्पष्टतः यही भेद होता है।

त्रासदी में चरित्र-चित्रण—कथावस्तु के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व त्रासदी के लिए अरस्तू ने चरित्र-चित्रण को माना है। उसके अनुसार चरित्र वह है जिसके आधार पर अभिकर्त्ताओं में कुछ गुणों का आरोप करते हैं और इसके माध्यम से किसी व्यक्ति की रुचि-विरुचि का दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने नैतिक उद्देश्य तथा वृत्ति की अभिव्यक्ति भी पात्र के माध्यम से ही मानी है।

चरित्र-चित्रण के आधारभूत सिद्धान्त—अरस्तू ने त्रासदी के चरित्र के लिए चार गुण बताये हैं—ये गुण वे नायक के आधार पर बताते हैं। बाद को दो गुणों का और भी समाख्यान करते हैं:—

(१) **भद्रता**—पात्र को भद्र होना आवश्यक है। यदि उद्देश्य भद्र है तो चरित्र भी भद्र होगा। यह गुण प्रत्येक वर्ग में सम्भव है—स्त्री में भी और

दास में भी। यह वर्ग-भेद और सामाजिक स्थिति आदि से प्रभावित होते हुए भी मूलतः निरपेक्ष होता है।

(२) **औचित्य**—किसी पात्र के चित्रण में उसकी प्रकृति, जाति तथा वर्गगत विशेषताओं का ध्यान रखना चाहिए। साथ ही अरस्तू ने व्यक्तिगत औचित्य का भी समर्थन किया है।

(३) **जीवन के अनुरूप**—चरित्रों का जीवन के अनुरूप होना आवश्यक है, अर्थात् त्रासदी के पात्र जीवन्त होने चाहिए, कार्बन की कापी नहीं। पात्र प्रेक्षक पर तभी प्रभाव डाल पाते हैं जब वे वास्तविक जीवन के अनुरूप हों।

(४) **चरित्र में एकरूपता**—अरस्तू के अनुसार चरित्र में भले ही अनेकरूपता हो, पर उसके चित्रण में एकरूपता होनी चाहिए। चरित्र में अस्थिरता होना तो स्वाभाविक है, क्योंकि परिस्थितियों से मानव के विचार परिवर्तित होते रहते हैं, पर कवि की दृष्टि एक-सी ही रहनी चाहिए।

(५) **सम्भाव्यता**—अरस्तू प्रत्येक पात्र को अपनी विशिष्टता के आधार पर बोलने और काम करने की अनिवार्यता पर बल देते हैं। यह निश्चित रूप से व्यक्ति वैशिष्टय की स्वीकृति है।

(६) **यथार्थ और आदर्श का समन्वय**—अरस्तू का विचार है—"चूँकि त्रासदी में ऐसे व्यक्तियों की अनुकृति होती है जो सामान्य स्तर से ऊँचे होते हैं, अतः उसमें श्रेष्ठ चित्रकारों का आदर्श सामने रखना चाहिए। ये चित्रकार मूल का स्पष्ट प्रत्यंकन करने के अतिरिक्त एक ऐसी प्रतिकृति प्रस्तुत कर देते हैं जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कहीं अधिक सुन्दर भी होती है।" तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से चरित्र का अंकन यथार्थ हो पर साथ ही कलाकार ने कल्पना और भावना के रंग देकर उसमें सौन्दर्य की उद्‌भावना भी की हो, ताकि वे आकर्षक लगें।

पद-रचना—पद-रचना का सम्बन्ध शब्द और उनके अर्थ से है। "त्रासदी का माध्यम अलंकृत भाषा होती है—ऐसी भाषा जिसमें लय, सामंजस्य और गीत का समावेश हो। भाषा गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से रहती है। अतः त्रासदी की पद-रचना अलंकृत, गरिमामय, समृद्ध परन्तु वागाडम्बर से मुक्त होनी चाहिए।

विचार तत्त्व—अरस्तू के अनुसार विचार का अर्थ है—प्रस्तुत परिस्थिति में जो सम्भव और संगत हो सके, उसके प्रतिपादन की क्षमता। इसकी

इस प्रकार अरस्तू का विचार-तत्त्व से तात्पर्य बुद्धि-तत्त्व से है। साथ ही उन्होंने भाव-तत्त्व का समावेश भी इसी तत्त्व के अन्तर्गत कर लिया है, क्योंकि 'करुण, त्रास और क्रोध की उद्‌बुद्धि' डा० नगेन्द्र के अनुसार, "बुद्धि तत्त्व के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती।"

डा० नगेन्द्र ने अरस्तू के विचार-तत्त्व के दो रूप बताये हैं—(१) वस्तुगत रूप—जिसमें लेखक अपने पात्रों के द्वारा उनके विचारों का प्रतिपादन करता है, (२) आत्मगत रूप जो उसके अपने विचारों का प्रतिफलन होता है, जिसका प्रतिपादन वह नाटक के समस्त अंगों—कथा-विधान, चरित्र-चित्रण, विचार-प्रतिपादन, भावाभिव्यक्ति, दृश्य-योजना आदि के द्वारा करता है। यद्यपि अरस्तू ने इनमें से पहले रूप पर ही विशेष बल दिया है, पर दूसरा रूप भी उपेक्षित नहीं है।

गीत—त्रासदी में गीत को एक प्रकार के 'आभरण' के रूप में लिए गया है। इसका प्रयोग वृन्दगान के अन्तर्गत किया जाता है, पर अरस्तू ने इसे त्रासदी का अभिन्न अंग माना है।

दृश्य-विधान—इसका सम्बन्ध रंगमंच की साज-सज्जा आदि से है। यह एक बाह्य प्रसाधन है, जिसका सम्बन्ध ऐन्द्रिय आकर्षण से है। अरस्तू के मत में त्रासदी के सब अंगों में सबसे कम कलात्मक यही है। यह कवि की अपेक्षा मंच-शिल्पी पर अधिक निर्भर रहता है। दूसरे, इसके बिना त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति हो सकती है। अतः त्रासदी के मूलप्रभाव के लिए यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है।

त्रासदी के भेद—त्रासदी के अरस्तू ने चार प्रमुख भेद माने हैं—

(१) जटिल त्रासदी—जो पूर्णतः स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान पर निर्भर होती है।

(२) करुण त्रासदी—जिसका प्रेरक हेतु आवेग होता है।

(३) नैतिक त्रासदी—इसका प्रेरक हेतु नैतिकता है।

(४) सरल त्रासदी—इसमें किसी प्रकार की जटिलता न होकर एकान्विति ही होती है और सहज होती है।

इसके अतिरिक्त शुद्ध दृश्यात्मक त्रासदी भी होती है, पर अरस्तू ने इसे मुख्य नहीं माना है।

कथानक की प्रमुखता—अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जिसकी व्याख्या अपेक्षित है, वह यह है कि अरस्तू ने त्रासदी के छहों भागों में कथानक को ही सर्वप्रमुखता क्यों दी। चरित्र और कथानक—दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, पर वह कथानक को ही प्रमुखता क्यों देते हैं ? इस प्रश्न पर विचार करते समय यह हमें स्पष्ट ही है कि अरस्तू ने कथानक को चरित्र की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण माना है और वह चरित्र के अभाव में भी त्रासदी की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

डा० नगेन्द्र ने अरस्तू द्वारा कथानक को प्रमुखता देने के आठ कारण बताये हैं। वह लिखते हैं—

(१) त्रासदी अनुकृति है, व्यक्ति की नहीं, कार्य की तथा जीवन की।
(२) जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है, अतः जीवन की अनुकृति में कार्य-व्यापार का ही प्रामुख्य रहना चाहिए।
(३) काव्यगत प्रभाव का स्वरूप है, सुख अथवा दुःख और यह कार्यों पर निर्भर रहता है; अतः कार्य या घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य हैं।
(४) चरित्र कार्य-व्यापार (कथानक) के साथ गौणरूप से स्वतः ही आ जाता है।
(५) बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है।
(६) चरित्र व्यंजक भाषण, विचार अथवा पदावली—चाहे वह कितनी ही परिष्कृत क्यों न हो—वैसा सारभूत, कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती, जैसा कथानक तथा घटनाओं के कलात्मक गुम्फन से होता है।
(७) त्रासदी में सबसे प्रबल रागात्मक तत्त्व, स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान कथानक के ही अंग हैं।
(८) इसीलिए, नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र-चित्रण में तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, पर कथानक का सफल निर्माण करने में उन्हें समय लगता है।

प्रश्न यहाँ यह है कि अरस्तू की इस मान्यता के आधार क्या हैं। इसके कारणों पर विचार करते समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि अरस्तू के समय में वस्तु को विशेष महत्त्व दिया जाता था। कथानक उस समय मूल

माना जाता था। यद्यपि ऐस्ख्युलस तथा एउरिपिदेस आदि के नाटकों में वस्तु के साथ-साथ चरित्र की भी प्रधानता है; फिर भी अरस्तू ने इस युग की स्थिति से प्रभावित होकर कथानक को विशेष महत्ता दी।

दूसरे, अरस्तू का वस्तुपरक दृष्टिकोण भी कथानक को महत्त्व देने के लिए विवश है। वस्तुपरक दृष्टिकोण अमूर्त की अपेक्षा मूर्त पर ही विशेष बल देता है, इसलिए अरस्तू ने सूक्ष्म चरित्र-व्यंजना की अपेक्षा कथानक को ही विशेष महत्त्व दिया है।

डा० नगेन्द्र ने तीसरा कारण अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त को भी माना है; क्योंकि चारित्रिक व्यापारों की अपेक्षा घटना-व्यापारों का अनुकरण सहज तथा सुलभ है एवं वह पाठकों और अनुकर्त्ता—दोनों को सहज ग्राह्य हो जाता है।

इन्हीं कारणों से अरस्तू ने त्रासदी में चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथानक को विशेष महत्त्व दिया है।

कथानक को महत्त्व देने की समीक्षा—अरस्तू ने कथानक को जो इतना महत्त्व दिया है, उस पर यदि तटस्थ रूप से विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि उसके द्वारा यह महत्त्व देना कोई असंगत भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक अंग का आधार तो कथानक ही है। चरित्र-चित्रण भी तो कथानक के आधार पर ही होगा—यदि कथा न होगी तो चित्रण किसका ? पात्र घटना में ही तो आते हैं। अतः अरस्तू का यह तर्क काफी सही है कि जीवन मुख्यतः कार्य-व्यापार है, इसीलिए जीवन का चित्रण होने के कारण त्रासदी में कार्य-व्यापार का भी महत्त्व होना चाहिए।

पर प्रश्न यह उठता है कि कथानक भले ही महत्त्वपूर्ण हो, पर वह काव्य का साध्य तो नहीं हो सकता। घटना मानव को आकृष्ट भले ही करे, पर यह आकर्षण उसमें निहित मानवीय तत्त्व ही है। मानवीय तत्त्व से रहित बड़ी-से-बड़ी घटना भी आकर्षण से शून्य होती है। प्रकृति में नित्य एक-न-एक घटना होती रहती है, ब्रह्माण्ड बनते-बिगड़ते हैं, उल्काएँ टूटती हैं; सौरमण्डल की इन घटनाओं का तो मानव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; अतः केन्द्र-बिन्दु तो मानव का मन है। इसलिए काव्य का सार कथानक न होकर रस है, जिसे हम आत्मतत्त्व भी कह सकते हैं और आत्मतत्त्व से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसकी अभिव्यक्ति अर्थात् रस—जो भारतीय दर्शन का मूल है।

फिर अरस्तू का यह कथन भी असंगत है कि "बिना चरित्र के त्रासदी हो सकती है, पर बिना कथानक के नहीं ।" देखा जाय तो दोनों ही अंग एक-दूसरे के पूरक हैं । बिना पात्रों के घटनाएँ घट ही नहीं सकतीं—घटनाओं के कर्त्ता या भोक्ता के रूप में तो पात्रों की अनिवार्यता है ही । फिर रागात्मक तत्त्व जितना घटनाओं में पुष्ट होता है, उतना ही चरित्र-चित्रण में भी; क्योंकि रागतत्त्व के साथ ही मानव-तत्त्व (चरित्र-चित्रण,) का भी रस में समावेश होता है । अतः कथानक के साथ-साथ चरित्र का भी विशेष महत्त्व है ।

निष्कर्ष—भारतीय विद्वानों ने इन दोनों को ही गौण मानकर मुख्य रस को माना है—यह उनकी अन्तरंग वृत्ति का सूचक है । भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण वस्तुपरक न होकर अनुभूतिपरक है । पर अरस्तू आदि विचारकों का दृष्टिकोण वस्तुपरक है । फिर भी यह मानना पड़ेगा कि त्रासदी का प्रत्येक अंग कथानक पर ही आधारित है । जब तक कथा न होगी, अन्य अंगों की अभिव्यक्ति कैसे होगी ? अतः कथानक का महत्त्व निर्विवाद है, पर साथ ही दूसरे अंगों की भी उपेक्षा पूर्णरूपेण नहीं की जा सकती ।

प्रश्न २२—त्रासदी (ट्रेजडी) की अनुभूति को आप सुखात्मक मानते हैं या दुःखात्मक ? यदि सुखात्मक मानते हैं तो अन्य आलोचकों के मत उद्धृत करते हुए इस वैषम्य का समाधान कीजिये और यदि दुखात्मक मानते हैं तो अपने मत की पुष्टि में तर्क दीजिए ।

त्रासदी का व्यावहारिक धर्म त्रास और करुणा के मिश्रण से प्रभाव की उद्बुद्धि है, इसलिए त्रासदी के लिए वे ही परिस्थितियाँ उपयुक्त हो सकती हैं जो इस प्रभाव को उत्पन्न कर सकें । त्रासदी की अनुभूति भी इसी प्रभाव से अनुस्यूत होती है । अतः त्रासदी की अनुभूति कैसी होती है—सुखात्मक या दुःखात्मक, इसका विवेचन करने से पूर्व हमें त्रासदी की परिस्थितियों को देखना होगा । त्रासदी की परिस्थितियाँ प्रतिकूल और अनुकूल दोनों ही प्रकार की होती हैं । प्रतिकूल परिस्थितियों का वर्णन करते हुए बताया है; सत्पात्र एक आदर्श पात्र होता है, उसके प्रति आदर-भाव तभी उत्पन्न होगा, जब उसकी प्रत्येक परिस्थिति में विजय दिखाई जायेगी । उस मनुष्य के प्रति साधारणतया यह भावना रहती है कि यह व्यक्ति जैसे मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर उठा हुआ है, उसी तरह मानवीय दोषों से भी ऊपर है । अतः उसे यदि

अर्थाभाव के कारण विपत्ति में दिखाया जायेगा तो इससे न तो करुणा ही उत्पन्न होगी और न त्रास ही।

इसी प्रकार किसी दुष्ट पात्र का सम्पत्ति में उत्कर्ष भी त्रासदी की भावना के विपरीत है। किसी अत्यन्त खलपात्र का पतन दिखाना भी संगत नहीं है—यद्यपि इससे नैतिक परितोष भले ही मिले, पर करुणा और त्रास का उद्बोध नहीं हो सकता, क्योंकि करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति पर पड़ने वाली विपत्ति से जाग्रत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से।

इसके विपरीत कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ हैं, जिनका चित्रण आवश्यक है। अरस्तू के अनुसार किसी महिमाशाली व्यक्ति का दुर्भाग्य दिखाना चाहिए, वह किसी दुर्बलता के कारण नहीं वरन् भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति भोक्ता के नितान्त सच्चरित्र न होने से नैतिक क्षोभ तथा वितृष्णा उत्पन्न न करेगी। साथ ही सर्वथा अकारण न होने से नैतिक भावना का भी परितोष करेगी, फलतः इसका प्रभाव त्रासदी के सर्वथा अनुकूल और करुण होगा।

यह स्थिति ऐसी अवस्था में और भी अनुकूल हो जाती है, जब यह त्रासद-करुण घटना ऐसे लोगों के बीच होती है जिनमें घनिष्ठता या स्नेह सम्बन्ध हो। क्योंकि दो शत्रुओं अथवा उदासीन व्यक्तियों के बीच इस प्रकार की घटना त्रासदी के अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं करेगी।

अरस्तू के अनुसार त्रासदी के लिए वह स्थिति सर्वश्रेष्ठ है जिसमें कार्य अनजाने किया जाने वाला हो, परन्तु समय रहते हुए वास्तविकता ज्ञात हो जाने से दुर्घटना से अन्त में बचाव हो जाय। पर इसके साथ ही एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या त्रासदी के लिए शोकान्त होना अनिवार्य नहीं है। इस विषय में अरस्तू का मत स्पष्ट है कि त्रासदी में त्रास तथा करुणा की स्थायी परिव्याप्ति तो अनिवार्य है पर अन्त का दारुण होना आवश्यक नहीं है। त्रासदी में, अरस्तू के अनुसार, कर्ता के अज्ञान के कारण जो कार्य किया जाता है, उसमें शोक या त्रास का अभाव होता है, दारुण प्रयत्न से त्रास व करुणा की उद्बुद्धि होती है, पर बाद में जब वस्तुस्थिति का उद्घाटन होता है, तो आश्चर्य का भाव जन्म लेता है और दुर्घटना का निवारण होता है, फलतः मन को गम्भीर राहत मिलती है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि त्रासदी की यह अशोकान्तात क्या त्रादसी

के नियमों के प्रतिकूल नहीं है। क्या इस दुःखद अन्त से त्रासदी के सारभूत तत्त्व—करुणा और त्रास को क्षति नहीं पहुँचती ? अरस्तू इन दोनों प्रश्नों को नकार देते हैं। उनके अनुसार त्रासद करुण—त्रास का प्रभाव नाटक में स्थायी होता है। अतः वह अन्तिम घटना-विपर्यय से नष्ट नहीं होता। त्रासदी की पूरी कथावस्तु में रमा होने के कारण रस प्रेक्षक की चेतना में रम जाता है। अतः एक घटना की विपरीत परिणति मन को परिवर्तित नहीं कर पाती। उदाहरण में यूनानी भाषा के अनेक नाटक प्रस्तुत किये जा सकते हैं। संस्कृत भाषा का नाटक—भवभूति का 'उत्तररामचरित' भी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसका अन्त यद्यपि सुखात्मक है, पर सर्वत्र करुण रस की ही परिव्याप्ति रही है, अपितु इससे तो विरेचन की क्रिया ही सफल होती है। इससे सिद्ध होता है कि अन्त का प्रभाव त्रासदी के लिए घातक नहीं होता।

त्रासदी की अनुभूति—अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के इस विवेचन से त्रासदी के रागात्मक प्रभाव का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि त्रासदी की यह अनुभूति दुःखात्मक है या सुखात्मक। अरस्तू के शब्दों में यह, "रागात्मक प्रभाव एक प्रकार का आनन्द है जो अनुकरण के माध्यम से करुणा और त्रास जगाकर निष्पन्न होता है।"

त्रास और करुणा की यह भावना क्षोभ, वितृष्णा, जुगुप्सा आदि से मुक्त रहती है। इसलिए त्रासदी की करुणा व त्रास मानव पर दुखात्मक प्रभाव नहीं डालते। इस विषय में प्लेटो ने त्रासदी पर विचार करते हुए लिखा है—

"वह तत्त्व जो हमारी व्यक्तिगत आपदाओं से दबा हुआ रहता है और जिसके क्रन्दन व विलाप की प्रवृत्ति को निर्बाध अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती, कवियों द्वारा इन्हीं सहज प्रवृत्तियों का परितोष और प्रसादन किया जाता है और उधर विलाप की प्रवृत्ति, हमारे ऐसे गुणों का प्रभाव, जो कि प्रकृत्यः सर्वश्रेष्ठ होते हैं, विवेक अथवा स्वभाव द्वारा सम्यक् रूप से अनुशासित न रहने के कारण शिथिल हो जाता है। वह जो दुःख देखता है वे उसके अपने नहीं होते और यदि सद्वृत्ति का दावा करने वाला कोई व्यक्ति उसकी अपेक्षा अधिक शोकाकुल हो तो उसकी प्रशंसा करना और उसके प्रति करुणा का अनुभव करना कोई लज्जा की बात नहीं, वरन् वह सोचता है कि यह समूची कविता की अवज्ञा करने से आनन्द का वास्तविक लाभ हो सकता है।

बात यह है कि मेरे विचार में तो कम ही लोग सोच पाते हैं कि दूसरों के दुःख हमारे लिए भी दुःख का कारण हो जाते हैं, क्योंकि दूसरे के दुर्भाग्य पर यदि हम करुणभाव का पोषण करते रहे हैं तो अपनी बारी आने पर भी उसका नियन्त्रण कर जाना सहज नहीं होता।"

अरस्तू इनका विरेचन-क्रिया के द्वारा परिष्कार मानकर उसे सुखात्मक मानते हैं। इसीलिए जान मिल्टन ने त्रासदी की अनुभूति को सुखात्मक मानकर लिखा है, "प्राचीन लेखकों के विचार से त्रासदी अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी होती है। इसी आधार पर अरस्तू ने भी नाटकों को इसलिए महत्त्वपूर्ण बतलाया है कि वह भय और करुणा के संचार से पाठकों के स्वाभाविक अवगुणों का परिमार्जन करते हैं और उनकी अधिकता को हटाकर उनके आचरण का संशोधन करते हैं। रंगशाला में पात्रों द्वारा इन्हीं अवगुणों तथा गुणों के अनुकरण से दर्शक आनन्दित होकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार यह प्राकृतिक सत्य है कि विष से विष उतर जाता है, उसी प्रकार रंगशाला में अवगुणों के अभिनय तथा अनुकरण-प्रदर्शन से मनुष्य की बुराइयाँ हट जाती हैं।"

जोजेफ एडिसन भी लिखते है, "त्रासदी का मुख्य उद्देश्य दर्शकों के मन में भय तथा करुणा का संचार करना है। यदि हम सज्जन पात्रों को सदैव सुखी और आनन्दपूर्ण बनाते रहेंगे तो हम कभी भी भय और करुणा जाग्रत करने में सफल नहीं होंगे; क्योंकि जब हम यह जानते ही हैं कि पात्रों को चाहे कितने ही कष्ट सहने पड़ें, अन्त में तो वे अवश्य सुखी और धनधान्य से पूर्ण होंगे, हमारे मन में न तो भय उत्पन्न होगा और न करुणा; वरन् हमें एक प्रकार का सन्तोष होगा कि अन्त तो आनन्दपूर्ण हुआ, चाहे आदि कैसा भी क्यों न रहा हो। इसलिए प्राचीन लेखकों ने सांसारिक जीवन के अनुरूप ही अपने पात्रों का चित्रण किया है। उन्होंने सज्जन पात्रों को कभी सुखी तो बनाया परन्तु साधारणतः दुःखी ही रहने दिया।"

इन विद्वानों की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि त्रासदी की अनुभूति दुःखात्मक नहीं, वरन् सुखात्मक होती है। कारण यह है कि यह अनुभूति प्रत्यक्ष तथा जीवनगत न होकर अप्रत्यक्ष तथा कलागत होती है। डा० नगेन्द्र ने इस रागात्मक प्रभाव के छह रूप बताये हैं—

(१) अन्ततः आस्वाद रूप होता है।

(२) मानव-दुर्बलता की करुण विवशता चेतना से उद्भूत त्रास और करुणा की उद्बुद्धि पर आश्रित रहता है।

(३) नैतिक क्षोभ और वितृष्णा से मुक्त होता है।

(४) आश्चर्य समन्वित होता है।

(५) प्रत्यक्ष तथा ऐन्द्रिय अनुभूति न होकर 'भावित' अनुभूति रूप होता है।

(६) कवि-कौशल के प्रति प्रसंशा-भाव से मुक्त रहता है।

विरेचन द्वारा अनुभूति सुखात्मक—अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त के द्वारा अनुभूति के आस्वाद का समाधान किया है। यद्यपि त्रास व करुणा—दोनों ही कटुभाव हैं और दोनों ही दुःखद अनुभूति के भेद हैं पर मानसिक विरेचन से इस कटुता के देश का विनाश हो जाता है और प्रेक्षक के मन में शान्ति होती है। मनःस्थिति के कटु-विकारों से मुक्त हो जाने के कारण इसकी अनुभूति निश्चय ही सुखद होती है। डा० नगेन्द्र के अनुसार, "पीड़ा या कटुता का अभाव भी अपने आप में सुख है।"

प्रो० बुचर ने 'दुख में सुख' की इस समस्या के समाधान में अरस्तू के विवेचन के आधार पर दो और प्रमुख कारण दिए हैं। त्रास और करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दुखद अनुभूतियाँ हैं, परन्तु त्रासदी में वैयक्तिक ढंग से मुक्त और साधारणीकृत रूप में उपस्थित होती हैं। 'स्व' की भौतिक सीमा में बद्ध वे कटु अनुभूतियाँ हैं, परन्तु 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्त होकर उनकी कटुता नष्ट हो जाती है। 'स्व' का यह विस्तार अथवा उन्नयन एक उदात्त और सुखद अनुभूति है। दूसरा कारण है—कलात्मक प्रक्रिया। कला की प्रक्रिया का आधारभूत सिद्धान्त है—समंजन—अव्यवस्था में व्यवस्था की स्थापना ही अरूप को रूप देना है। यही कलात्मक सृजन है, जो सुखद है। इस प्रक्रिया में पड़कर त्रास और करुणा का देश नष्ट हो जाता है तथा सुख, दुख में परिणत हो जाता है।

प्रश्न २३—कामदी के विषय में अरस्तू के विचारों का उल्लेख कीजिए।

काव्य के विभिन्न रूपों का वर्णन करते हुए अपनी कृति 'पोइटिक्स' में यूनानी विचारक अरस्तू ने कामदी पर विचार किया है। उनके अनुसार कामद काव्य का तीसरा प्रमुख रूप है। डा० नगेद्र के अनुसार, "काव्यशास्त्र' के

आरम्भ में और उधर 'भाषणशास्त्र' में कुछ ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे यह प्रायः निश्चित हो जाता है कि अरस्तू ने कामदी पर भी सम्यक् प्रकाश डाला था।" डा० नगेन्द्र अरस्तू के कामदी-विषयक विचारों को प्रामाणिक रूप से प्रतिपादन करना सम्भव नहीं मानते। क्योंकि 'भाषणशास्त्र' का वह भाग आज उपलब्ध नहीं है, जिसमें कामदी पर विचार किया गया था। अतः 'काव्यशास्त्र' के आरम्भ में जो अरस्तू ने कामदी-विषयक संकेत दिये हैं, उनके बिखरे सूत्रों के आधार पर ही उनके कामदी-विषयक कुछ मौलिक सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सकता है।

कामदी और त्रासदी का स्थूल अन्तर—अरस्तू ने त्रासदी और कामदी के अन्तर का सर्वप्रथम विवेचन किया है। वह लिखते हैं—

"For Comedy aims at representing men as worse, Tragedy as better than in actual life." अर्थात् कामदी का लक्ष्य यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर वर्णन होता है और त्रासदी का लक्ष्य भव्यतर चित्रण होता है।

कामदी में निम्नतर कोटि के पात्रों का वर्णन होता है और उन्हीं का अनुकरण होता है, पर यहाँ निम्न शब्द का अर्थ बिल्कुल वही नहीं है, जो 'दुष्ट' का होता है, क्योंकि अभिहास्य तो कुरूप का एक उपभाग मात्र है—उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है, जो क्लेशकारी या अमंगलकारी नहीं होता।

कामदी का मूलभाव—यद्यपि कामदी का मूललक्ष्य आनन्द प्रदान करना है पर यह आनन्द कामदी में हास्य, व्यंग्य द्वारा आता है। अतः कामदी का मूलभाव अरस्तू के अनुसार हास्य है। पर यह हास्य हर्ष नहीं है। कामदी से स्थूल आनन्द की प्राप्ति होती है। कामदी के मूलभाव का विषय, डा० नगेन्द्र के अनुसार, "कोई ऐसा दोष—शारीरिक तथा चारित्रक विकृति होती है जो क्लेशप्रद और अमंगलकारी न हो; अर्थात् यह दोष गम्भीर नहीं होना चाहिए।" यदि यह गम्भीर होगा तो प्रेक्षक के मन में विषाद अथवा पीड़ा उत्पन्न होगी और तब वह त्रासदायक अथवा अमंगलकारी हो जायेगा। अतः कामदी का मूलभाव हास्य मानवमन की मंगलमयी भावनाओं से सम्बद्ध होता है।

कामदी का विषय—अरस्तू ने कामदी के विषय का निरूपण करते हुए उसे यथार्थ अथवा सामान्य से हीनतर जीवन से सम्बद्ध माना है। कामदी में

निम्नवर्ग के व्यक्तियों के क्रियाकलापों तथा संवादों आदि का अनुकरण होता है। साथ ही, यह भी द्रष्टव्य है कि यह विषय व्यक्तिगत न होकर वर्गगत अथवा सार्वजनिक होता है। इसीलिए इसका विषय श्रेष्ठवर्ग से सम्बद्ध नहीं होता।

अरस्तू के इन विचारों के पीछे उसके समय की स्थितियों का भी योग है। यूनान में उस समय दास-प्रथा का प्रचलन था और दासों को घृणा, हेय तथा उपहास की दृष्टि से देखा जाता था, इसीलिए उनका उपहास उड़ाकर श्रेष्ठ लोग आनन्द प्राप्त करते थे। इसके विपरीत साहित्यकार श्रेष्ठ जनों के दोषों का उपहास उड़ाने से हिचकिचाते थे, क्योंकि उनके दोषों का उपहास उड़ाने से उनके प्रति जनसाधारण की श्रद्धा कम होती और वे असम्मानित होते। इसी से दासों को ही कामदी का विषय बनाया गया।

कामदी के विषय के सम्बन्ध में यह और ध्यान में रखना चाहिए कि यह सामान्य होता है और प्रसिद्ध न होकर प्रायः काल्पनिक ही होता है।

कामदी का उद्देश्य—अरस्तू के अनुसार कामदी का लक्ष्य हीनतर जीवन का चित्रण कर श्रेष्ठजनों को आनन्द प्रदान करना है—उनका मनोरंजन करना है और साथ ही (अप्रत्यक्षतः) उन दोषों से बचने की शिक्षा देना है, जिसके कारण कोई व्यक्ति उपहास का पात्र बनता है।

कामदी की उत्पत्ति और विकास—अरस्तू के अनुसार कामदी का कोई इतिहास नहीं है, क्योंकि आरम्भ में किसी ने इस पर विशेष ध्यान ही नहीं दिया, बाद में किसी कवि ने हास्यमय सहगान की अनुज्ञा दे दी थी—

"Where as comedy has no history, because it was not at first treated seriously."

अरस्तू का कथन है कि सीमान्तवर्ती गाँवों को ये 'कोमे' और एथेंसवासी देमोस कहते हैं, अतः यह मान लेते हैं कि कामदी के रचयिताओं या अभिनेताओं का यह नामकरण 'कोमेद्‌जाइन' अर्थात् 'रागरंग मनाना' शब्द के आधार पर नहीं हुआ, वरन् इसलिए हुआ कि वे अपमानपूर्वक नगर से बहिष्कृत होकर एक गाँव से दूसरे गाँव में भटकते फिरते थे।

कामदी के पात्र—अरस्तू के अनुसार कामदी में निम्नवर्ग के व्यक्तियों की भाव-चेष्टाओं तथा वार्त्तालापों का अनुकरण होता है, अतः कामदी के पात्र निम्नवर्ग के दास होते हैं। पर यहाँ निम्नवर्ग से तात्पर्य खल अथवा दुष्ट से

नहीं है। निम्नकोटि के ये पात्र हास्य के लिए लिये जाते हैं जो अपनी कुरू-पता, असम्बद्धता अथवा विकृत चेष्टाओं द्वारा जनता का मनोरंजन करते हैं।

कामदी का कथानक—अरस्तू ने कामदी के कथानक पर भी विचार किया है। त्रासदी की भाँति वह कामदी को भी काव्य का एक रूप मानते हैं और वस्तु-संघटन की तरह कथानक में भी कुछ गुणों का समावेश आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि कामदी में कथानक में सभी गुण—आदि, मध्य और अवसान से युक्त, पूर्णता, एकान्विति, पूर्वापर क्रम, सम्भाव्यता, कुतूहल आदि युक्त होकर न्यूनाधिक रूप से आवश्यक हैं, क्योंकि इन गुणों के बिना कामदी का कला रूप बनना सम्भव ही नहीं हो सकता। इनकी न्यूनता भी इसीलिए ग्राह्य हो जाती है कि त्रासदी की तरह कामदी गम्भीर नहीं होती। कामदी का आधार ही विकृतिमूलक होता है, अतः यदि ये गुण न्यून मात्रा में भी रहें, तब भी ये घातक प्रभाव नहीं डालते, वस्तु-संगठन की थोड़ी शिथिलता भी उसका संगठन है।

अरस्तू कामदी के कथानक के दोनों अंग—स्थिति विपर्यय तथा अभिज्ञान और उनसे सम्बद्ध विकृति तथा संवृत्ति की भी उपादेयता स्वीकार करते हैं और साथ ही वह जितना स्थान त्रासदी में भ्रम को देते हैं, उतना ही कामदी में भी देते हैं, इसी से तो चमत्कार उत्पन्न होता है। पर अन्तर यह है कि त्रासदी में गम्भीर भ्रान्ति होती है, जिससे त्रास व करुणा की उत्पत्ति होती है और कामदी में सामान्य और साधारण भ्रान्ति होती है जो हास्य को उत्पन्न करती है।

कामदी का प्रभाव—अरस्तू विरेचन के सिद्धान्त के द्वारा कामदी का भी साधारणीकरण कर हास्य को आनन्दमय व्यापार मानते थे और इस प्रकार कामदी का प्रभाव भी स्थायी और आनन्ददायक होता है। डा० नगेन्द्र के अनुसार, "इस प्रसंग में अरस्तू का कोई वाक्य प्रमाण रूप में उपलब्ध नहीं है, अतः निश्चयपूर्वक कुछ कहना सम्भव नहीं है।"

निष्कर्ष—अरस्तू द्वारा सांकेतिक कामदी के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अरस्तू ने कामदी को युगानुकूल प्रभाव के कारण निम्नवर्ग के व्यक्तियों के कार्यों और संवादों का अनुकरण माना है। वह सबसे पहले विचारक थे, जिन्होंने कामदी पर विचार किया है, इसलिए काव्यशास्त्र के अन्य विषयों की तरह इस विषय पर दिये गए उनके विचारों का न केवल

ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व है, अपितु परवर्तीकालीन काव्यशास्त्रियों ने भी उन्हीं के विवेचन को अपने काव्य-विवेचन का आधार बनाया है।

प्रश्न २४—कामदी किसे कहते हैं ? इसके विभिन्न रूपों का उल्लेख करते हुए विषय-चयन, उद्देश्य तथा शैली की दृष्टि से कामदी का विश्लेषण कीजिए।

कामदी का अर्थ है सुखान्त। उसका उद्‌भव यूनानी शब्द 'कामस' से हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है हर्ष—उल्लास मनाना। पाश्चात्य विद्वानों ने कामदी (Comedy) की उत्पत्ति का मूल मानव-समाज में मनाये जाने वाले उल्लासपूर्ण उत्सवों से माना है। अनेक विद्वान त्रासदी की तरह कामदी का उद्‌भव भी धार्मिक मानते हैं। इस प्रकार कामदी का जन्म मानवता के साथ-साथ ही माना जा सकता है। अरस्तू ने कामदी का उद्‌भव मौलिक गीतों के प्रमुख गायकों से माना है—

"Comedy originated with the leaders of Phallic Song, which survive to this day as many of our states."

कामदी की परिभाषा—मानव-मन की दो मूल प्रवृत्तियाँ हैं—सुख और दुःख। चूँकि साहित्य मानवीय भावनाओं का प्रतिबिम्ब है, इसलिए इन्हीं दो भावनाओं से, साहित्य में भी त्रासदी तथा कामदी का उद्‌भव हुआ। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने कामदी के सम्बन्ध में लिखा है—"ईर्ष्या अथवा द्वेष की भावना ही कामदी का आधार है। सौन्दर्य, ज्ञान, धन तथा अहम् भाव जब अपनी सीमा का उल्लंघन करता है तो उसके प्रति हमें घृणा होने लगती है और हम उसकी हँसी उड़ाते हैं। अपने मित्रों के दुर्भाग्य पर हमें कभी-कभी हँसी आती है और इस भावना में हर्ष तथा दुख का मिश्रण रहता है।"

प्लेटो की तरह अरस्तू ने भी हँसी-मजाक से ही कामदी का सम्बन्ध माना है और उसे सुखकारक माना है—"किसी व्यक्ति की हँसी उड़ाना उसकी निंदा करना है; सुखान्त (Comedy) का मूल उद्देश्य व्यक्ति विशेष की हँसी उड़ाना न होकर निम्नवर्ग के समाज का अनुकरण करना है।"

सुखान्त के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणाएँ बदलती रही हैं। जहाँ प्लेटो अरस्तू, सिसरो, क्विटीलियन आदि कामदी का सम्बन्ध निम्नवर्ग के कालों का अनुकरण मानकर इसे हेय सिद्ध करते हैं, वहाँ अनेक आचार्य इसे सुधारवादी दृष्टिकोण से भी देखते हैं। म्युजिओ कामदी के सम्बन्ध में लिखते हैं,

"कामदी के कलाकारों के लिए हास्य तथा सुधार दोनों ही दृष्टिकोण आवश्यक हैं।" सर फिलिप सिडनी ने कामदी की काफी स्पष्ट परिभाषा दी है। कामदी के स्वरूप का विवेचन करते हुए वह लिखते हैं, "कामदी का ध्येय हास्य प्रकट करना नहीं है, क्योंकि वह तो केवल हमारे जीवन के साधारण अवगुणों का उपहासपूर्ण प्रदर्शन मात्र है। हमारे घरेलू तथा निजी जीवन के दोषों का स्पष्टीकरण कामदी का प्रधान ध्येय है।" कामदी के सम्बन्ध में इसी ध्येय की वह अपने ग्रन्थ 'An apology for poetry' में लिखते हैं कि कामदी का ध्येय दर्शकों को केवल हँसाना भर नहीं है, अपितु उन्हें आनन्दपूर्ण शिक्षा देना है।

इन सब परिभाषाओं से यह सिद्ध है कि कामदी में मानव को आनन्द प्रदान करने के लिए शिष्ट हास्य की सर्जना की जाती है। अतः जो रचना हास्य उत्पन्न करे, वह कामदी कही जायेगी। अब प्रश्न यह उठता है कि यह हास्य किस प्रकार का होना चाहिए। क्या यह केवल कल्पना की उड़ान हो, उच्छृङ्खल हो अथवा बचपने से सम्बन्धित हो। यदि अंग्रेजी कवि जार्ज मैरेडिथ के अनुसार कामदी की आत्मा का सम्बन्ध मानव के सामाजिक जीवन से माना जाय तो कामदी मानवीय मन के हास्य की छाया सिद्ध होती है और उसका हास्य भी वास्तविक जीवन से सम्बन्धित होना चाहिए।

हेनरी बर्गसां कामदी के हास्य को मानवीय अनुभूतियों से सम्बन्धित मानते हैं। उन्होंने लिखा है, "कामदी का हास्य मानवीय भावनाओं से सम्बन्धित है। इसका प्राण समाज में निहित है; कृत्रिमता, असंगति, हठधर्म की यह शत्रु है। इसमें भावनाओं की जाग्रति की अपेक्षा मानसिक जाग्रति रहती है। इसके हास्य का ध्येय मनुष्य का दर्प-दमन, संशोधन तथा सुधार है। कामदी एक प्रकार से समाज के विरुद्ध चलने वालों का उपहास उड़ाती है और उससे प्रतिशोध लेती है। इसका उद्देश्य क्षति न पहुँचाकर ऐसे छींटे कसना है, जिनसे सहज में ही आनन्द आये।" स्पष्ट है कि कामदी का प्रमुख तत्त्व हास्य है, जिसकी उत्पत्ति असंगति, अव्यवस्था तथा असम्बद्धता से होती है और यह सरल, सहज तथा मानव को आनन्द प्रदान करने का एक साधन है।

कामदी के रूप—कामदी के इस स्वरूप को समझ लेने के पश्चात् अब यह जान लेना चाहिए कि कामदी के कितने रूप होते हैं। यद्यपि स्थूलतः

कामदी एक ही होती है और उसका उद्देश्य प्रेक्षक को हास्य के द्वारा आनन्दित करना है, पर स्थूलतः हम इसे पाँच रूपों में विभाजित कर सकते हैं। ये प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) **शास्त्रीय कामदी** (Classical Comedy)—जो कामदी शास्त्रीय नियमों-उपनियमों से आबद्ध होकर परम्परा का अनुगमन करते हुए आदर्श की सीमा में बँधकर चलती है, वह शास्त्रीय कामदी कहलाती है।

(२) **रूमानी कामदी** (Romantic Comedy)—यह प्रकार शास्त्रीय कामदी के पूर्ण विपरीत है। इसमें रूढ़ि और परम्परा का पूर्ण बहिष्कार करके स्वच्छन्दता और कल्पना का प्रयोग किया जाता है।

(३) **भावप्रधान कामदी** (Emotional Comedy)—इस प्रकार की कामदी में बाह्य घटना की अपेक्षा पात्रों की किसी अन्तर्वृत्ति के असन्तुलन का हास्यात्मक तथा व्यंग्यात्मक चित्र होता है। इसमें भावनाओं के आधार पर हास्य उत्पन्न किया जाता है।

(४) **सामाजिक कामदी** (Social Comedy)—यह कामदी समाज की अव्यवस्था और आडम्बरप्रियता के विरुद्ध होकर उसका उपहास उड़ाती है और समाजगत असन्तुलन की व्यंग्यात्मक विवेचना करती है।

(५) **समस्यामूलक कामदी** (Problem Comedy)—जब कामदी में किसी समस्या को उठाकर उसका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया जाता है और परम्परागत कुरीतियों का उपहास उड़ाया जाता है, वह समस्यामूलक कामदी कही जाती है। इसमें सामाजिक रीति-रिवाजों, आदर्शों अथवा किसी समस्या के प्रति असन्तोष व्यक्त किया जाता है।

कामदी के ये रूप केवल विषय के आधार पर हैं, यद्यपि शिल्प के आधार पर सभी एक-से होते हैं। इसके अतिरिक्त वर्ग के आधार पर भी इसके तीन रूप हो सकते हैं—

(१) निम्नवर्ग के व्यक्तियों का अनुकरण करने वाली कामदी।

(२) मध्यवर्ग के व्यक्तियों के कार्य-कलापों का वर्णन करने वाली कामदी।

(३) उच्चवर्ग की समस्याओं को व्यंग्यात्मक रीति से वर्णन करने वाली कामदी।

कामदी का विश्लेषण—कामदी के सम्बन्ध में विचार करते समय विचारकों ने इसके तीन तत्त्व मुख्य माने हैं—विषय, उद्देश्य तथा शैली। कामदी के विवेचन में इन्हीं तीन तत्त्वों पर बल दिया गया है, क्योंकि किसी भी काव्य-विधा में इन्हीं का आधारभूत महत्त्व होता है और इन्हीं से उस विधा के स्वरूप का निर्माण भी होता है। इस विषय में यूनानी तथा अंग्रेज समीक्षक—दोनों के ही विचार समान हैं—दोनों ने ही कामदी में इन्हीं तीन तत्त्वों को मुख्य माना है।

विषय-चयन—अरस्तू, सिसरो तथा क्विटीलियन ने कामदी की विषय-वस्तु को **निम्न समाज के जीवन का चित्रण** माना है। उनके विचारों का एक मनोवैज्ञानिक आधार यह था कि कामदी की रचना का विषय-हास्य के लिए समाज का वही वर्ग हो सकता है जो नैसर्गिक रूप से सहानुभूति और प्रेम का पात्र न हो। पर इसके विपरीत अंग्रेजी नाटककार शेक्सपीयर ने श्रेष्ठवर्ग के समाज की समस्याओं को कामदी की विषय-वस्तु का आधार माना है।

इससे स्पष्ट है कि यूनानी कलाकार वर्ग-भेद के आधार पर कामदी का ाववेचन करते हैं और इसका कारण है उनके समय में यूनान में प्रचलित दास-प्रथा थी जिनके प्रति अमानुषीय व्यवहार किया जाता था, साथ ही श्रेष्ठ लोगों को उपहास्य बना दिया जाता तो जनता की दृष्टि में उनकी प्रभुता का मूल्य ही क्या रहता ? इस भय से साहित्यकारों ने श्रेष्ठवर्ग को पृथक् रखकर निम्नवर्ग को ही उपहास का पात्र बनाया, इसके विपरीत अंग्रेजी विचारकों ने वर्ग-भेद की अपेक्षा समानता के स्तर पर कामदी का निर्माण किया।

कामदी में पीड़ा अथवा दुख की भावनाओं को स्थान नहीं दिया जाता और न ही ऐसी स्थितियों का निदर्शन हो सकता है जिसमें हत्या, हिंसा या पीड़ा हो। श्रेष्ठ समाज का चित्रण करते समय उसमें किसी वर्ग-विशेष का चित्रण होता है न कि किसी व्यक्ति-विशेष का। इसलिए इसका हास्य चित्ताकर्षक तथा व्यापक होता है। कामदी का विषय-आधार सामाजिक अव्यवस्थाएँ, मानसिक असंगतियाँ तथा जीवन की हास्यात्मक कुरूपताएँ ही होती हैं। मानसिक असंगति का इसमें विशेष रूप से उल्लेख होता है, क्योंकि ये अस्वा-

भाविक होती हैं और इनसे हृदय तथा मस्तिष्क पर कोई अनुकूलता नहीं पड़ती ।

शैली—कामदी की शैली व्यंग्यात्मक होती है। इसमें असंगतियों का चित्रण होने के कारण प्रत्येक कार्य ऊल-जलूल रूप में प्रस्तुत किया जाता है, अनर्गल प्रलाप को भी इसमें विशेष स्थान दिया जाता है। इसकी शैली के विषय में लिखा है, "कामदी के रंग-स्थल पर वृद्ध पात्रों को छोटों के द्वारा उपदेश प्रदान करना चाहिए, युवकों को अवगुणों का शिकार बनना चाहिए तथा विदूषकों को अनर्गल संवाद बोलना चाहिए।" कामदी की शैली में उपहास का पुट होने से व्यंग्यात्मकता बढ़ जाती है, अनर्गल शब्दों के प्रयोग में भाषा की विकृति भी हो जाती है, वैचारिक गरिमा की अपेक्षा विस्तार की इसमें आवश्यकता होती है, पर वर्णन में संघटनात्मकता परम आवश्यक है।

कामदी में सहानुभूति का भी विशेष स्थान है। उसकी शैली ऐसी होनी चाहिए जो निर्मम हास्य के स्थान पर मृदुल हास्य का प्रवर्तन करे, उन्मुक्त हास्य असभ्यता की सीमा में आ जाता है, प्रेक्षक मन्द-मन्द मुस्कराता रहे और आनन्द प्राप्त करता रहे, न कि दाँत फाड़कर अट्टहास कर उठे। मृदुल हास्य का प्रभाव स्थायी तथा तीव्र होता है।

उद्देश्य—यद्यपि कामदी की आत्मा हास्य है, पर इसका उद्देश्य क्या है, इस पर विद्वान् एक मत नहीं हैं। प्राचीन यूनानी विचारक कामदी का उद्देश्य निम्नवर्ग के कार्यों और संवादों का अनुकरण करके उससे श्रेष्ठवर्ग के समक्ष उपहासास्पद बनाकर आनन्द की सर्जना मानते हैं। कुछ विचारक (शेक्सपीयर आदि) कामदी का उद्देश्य श्रेष्ठ व्यक्तियों के द्वारा प्रवर्तित कुरीतियों का उपहास उड़ाकर सुधारवादी भावना को मानते हैं। कुछ आलोचकों ने इन दोनों का ही समन्वय कर लिया है। उनके अनुसार कामदी का आनन्द प्रत्यक्षतः आनन्द प्रदान करना होता है और परोक्षतः सुधारवादी।

इन सब मत-वैभिन्य के चक्कर में न पड़ा जाये तो मूलतः कामदी का उद्देश्य आनन्द की सृष्टि ही है। यह आनन्द चाहे किसी भी रूप में प्राप्त हो, वह होगा आनन्द ही। सुधार का जो माध्यम हास्य माना गया है, इसके मूल में भी आनन्दवादी भावना विद्यमान है।

कामदी का यह उद्देश्य भी विरेचन-क्रिया से भावनाओं का साधारणीकरण होकर उनका पाठकों अथवा दर्शकों को आस्वाद्य होता है। एटकिन्स के

अनुसार यह विरेचन ईर्ष्या, क्रोध आदि कटु विकारों की तरह हास्य का भी साधारणीकरण करता है और इसे आनन्दमय बनाता है।

निष्कर्ष—कामदी के इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कामदी वह हास्यप्रधान रचना होती है जो मानव-जीवन की कुरीतियों अथवा असंगतियों का उपहास उड़ाकर उनके सुधार की प्रेरणा देती है और मूलरूप से इसका उद्देश्य मनोरंजन करना होता है। यह आनन्द प्रत्येक वर्ग के लिए होता है। इसमें ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं होता और इसीलिए यह एक साहित्यिक विधा मानी गयी है। क्योंकि, इसका विषय व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक होता है और जिन दोषों का यह उपहास उड़ाती है, उनकी साधारणीकरण की क्षमता के कारण महत्ता होती है। इसकी विषय-वस्तु भी इसलिए प्रसिद्ध न होकर प्रायः काल्पनिक ही होती है।

प्रश्न २५—यथार्थवाद का साहित्य-सम्बन्धी आदर्श क्या है? क्या उसके मूल में कोई स्वतन्त्र जीवन-दृष्टि है या वह केवल एक कला-सिद्धान्त है?

किसी वस्तु, पदार्थ, अनुभूति या गुण का जो वास्तविक स्वरूप है, उसका यथातथ्य निरूपण करना ही यथार्थवाद है। साहित्यकार इनका दो रूपों में वर्णन कर सकता है—(१) अपनी कल्पना, प्रतिभा और आदर्शों के अनुसार वस्तु का मनोनुकूलरूप प्रस्तुत करना और (२) जो वस्तु जैसी है, उसका उसी प्रकार से वर्णन करना। पहला प्रकार आदर्शवाद और दूसरा प्रकार यथार्थवाद कहलाता है।

यथार्थवादी आन्दोलन का दर्शन के रूप में प्रणयन यूनान में पाँचवीं शताब्दी में हुआ, पर साहित्य के क्षेत्र में इसका आधुनिक अर्थों में अभ्युत्थान १९वीं शताब्दी में हुआ। शोषकों द्वारा निरीह जनता के शोषण से उत्पन्न वर्ग-संघर्ष ने इन साहित्यकारों को यथार्थ-चित्रण पर बाध्य किया। इसके द्वारा लेखकों ने तटस्थ रूप से वस्तु-स्थिति का निरूपण अपना लक्ष्य माना। यथार्थवादियों का निश्चित विश्वास है कि संसार में जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा ही चित्रण करना श्रेयस्कर है। संसार वास्तव में क्या है, इससे इसका ज्ञान हो जाता है।

संसार में अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका मनुष्य से कोई सम्बन्ध नहीं है; फिर भी उन्हें देखकर मन में कौतूहल जाग्रत हो ही जाता है। उनके भयंकर

रूप को देखकर वह अपनी रक्षा को सन्नद्ध होता है और सुन्दरता को देखकर वह मोहित होता है। यथार्थवाद इन वस्तुओं के स्वरूप की पहचान बताता है और एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करता है, जिसमें इन वस्तुओं को भली प्रकार समझा जा सके। मानव मूलतः यह विश्वास करता है कि—

(१) उसके चारों ओर यथार्थ रूप में जो संसार विद्यमान है, उसके बनाने, बिगाड़ने या परिवर्तन करने में उसका कोई हाथ नहीं है।

(२) इसे केवल देखा, समझा और परखा ही जा सकता है और यह तभी सम्भव है, जब वातावरण तथा उसमें स्थित वस्तु का निरपेक्ष अध्ययन तथा निरीक्षण किया जाय।

(३) बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान ही मनुष्य की सभी प्रतिक्रियाओं में सहायक होता है—चाहे वह व्यक्तिगत रूप से की गयी हो या सामूहिक रूप से।

मानव के ये मूल-विश्वास ही यथार्थवाद के आधार-स्तम्भ हैं। इन्हीं आधारों पर साहित्यकार मानव-जीवन, समाज, प्रकृति आदि का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। वह अपने विषय काल्पनिक जगत् से न लेकर वास्तविक संसार से ही लेता है। इसी दृष्टि से इमर्सन ने कहा था—"मुझे महान्, दूरस्थ और काल्पनिक नहीं चाहिए, मैं साधारण का आलिंगन करता हूँ, मैं सुपरिचित और निम्न के चरणों में बैठता हूँ।"

यथार्थवाद संसार में विद्यमान कलुष और कालिमा पर पर्दा नहीं डालता, उसका चित्रण भी करता है। वह धरती की साँसों में पनपता है और धरती से ही प्रेरणा ग्रहण करता है।

मनोविश्लेषणवादी यथार्थवाद—यथार्थवाद का विकास मार्क्सवाद के साथ-साथ होता है। दो महायुद्धों के कारण समाज जर्जर तथा कुण्ठित होने लगा था; यथार्थवाद ने इसी रूप को ग्रहण किया। वह मानसिक सत्य को यथार्थ नहीं मानता; जगत् में जैसा जो कुछ हो रहा है, उसी का चित्रण करना चाहता है। इसी से यथार्थवादियों ने अवचेतन मन में बसी कुण्ठाओं, निराशाओं, भाँति-भाँति की वर्जनाओं तथा अनास्थाओं का वास्तविक चित्रण किया। इससे इसमें इतनी कुण्ठाएँ, निराशाएँ आदि बढ़ गयीं कि यथार्थवाद का स्वरूप ही विकृत तथा अस्वस्थ हो उठा। इसीलिए एक अंग्रेजी विचारक ने लिखा है—

"They promised to give us new world, instead they gave us a hospital."

समाजवादी यथार्थवाद—समाजवादी यथार्थवाद युग की आलोचना ही नहीं करता, वरन् साथ में नये और क्रान्तिकारी सृजन की भूमिका भी प्रस्तुत करता है। इस यथार्थवाद का सर्वप्रथम गोर्की (रूसी लेखक) ने चित्रण किया। उसने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा—

"Socialist realism proclaims that life is action, creativity, whose aim is the unfettered development of man's most valuable individual abilities for his Victory over the forces of Nature, for his health and longevity, for the great happiness of living on earth."

समाजवादी यथार्थवादियों का यह दृढ़ विश्वास है कि शोषण और अन्याय के आधार पर टिकी हुई यह समाज-व्यवस्था टिकने वाली नहीं है, नई और प्रगतिशील शक्तियाँ उसे समाप्त करके छोड़ेंगी; अतः इसका स्वर पराजय और निराशा का स्वर न होकर आशा और उत्साह का स्वर है, जो मानव को वस्तुस्थिति का ज्ञान कराकर जीवन के प्रति आस्थावान बनाता है और काल्पनिक जगत् में विचरण करने की अपेक्षा वास्तविक जगत् को ही भव्य और सुन्दर बनाने की प्रेरणा देता है।

सच्चा यथार्थवाद—राल्फ फॉक्स का विचार है कि यथार्थ का चित्रण व्यक्ति के उस गहरे संघर्ष की भूमि पर होना चाहिए जो एक साथ ही उसकी अन्तरंग व बहिरंग—दोनों स्थितियों को समेट ले। सच्चा यथार्थवादी बाह्य जगत् के चित्रण के साथ-साथ मानव की मानसिक वृत्तियों का भी उद्‌घाटन करता है, जो कलाकार केवल वीभत्स और कलुष का ही चित्रण करते हैं, वे सच्चे यथार्थवादी नहीं हैं। वॉलज़क आदि का दृष्टिकोण भी एकांगी ही कहा जायेगा। उन्होंने युगीन समस्या का घृणित रूप ही प्रस्तुत किया है, युग का आशावादी यथार्थ नहीं दिया है। सच्चा यथार्थवादी आदर्श को भी साथ-साथ लेकर चलता है, क्योंकि आज का आदर्श ही कल का यथार्थ होता है।

इसलिए सच्चा यथार्थवाद मानव को निराशावादी नहीं, आशावादी बनाता है। कलाकार केवल अनुकरणकर्ता मात्र नहीं होता, वह सच्चा निर्माता होता है और इस निर्माण में निर्माता की व्यक्तिगत रुचि भी काम

करती है। इसलिए सच्चे यथार्थवादी कलाकार संसार को नूतन रूप भी प्रदान करते हैं। इसलिए जोलाँ ने, जिनकी रचना यथार्थवाद की चरम सीमा पर पहुँचती लगती है, लिखा है, "कला जीवन का एक कोण है। जो मानव-प्रवृत्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।"

अतः यथार्थवादी दृष्टि समाज के लिए परमोपयोगी होती है। यह दृष्टि फोटोग्राफर की तरह चित्र खींचकर ही सामने नहीं रखती, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा भी करती है।

निष्कर्ष—समग्रतः कहा जा सकता है कि यथार्थवाद की अतिशयता भी सदैव हानिकारक है और आदर्श की मनोराज्यमयी कल्पना में विचरण करना भी सुखद-समीर के झोकों का आभास-मात्र है। दोनों वाद एक-दूसरे के पूरक हैं। अतः बिना यथार्थ के आदर्श और बिना आदर्श के यथार्थ की कोई उपादेयता नहीं है। कोरे स्वप्न देखने वाला आदर्शवाद मनुष्य को निष्क्रिय बना देता है और अतियथार्थवाद मन में घृणा की भावना उत्पन्न कर देता है। इसीलिए यथार्थ में उच्चतर उद्देश्य का सम्मिश्रण होना आवश्यक है। यथार्थवाद केवल अनुकरण कहीं करता, वरन् उच्चतर उद्देश्यों की ओर भी प्रेरित करता है। अतः यथार्थवादी दृष्टिकोण ही कला का, काव्य का, वास्तविक दृष्टिकोण है।

प्रश्न २६—'कला, कला के लिये' है और 'कला, जीवन के लिये' है। इन दोनों सिद्धान्तों की तुलनात्मक परीक्षा करते हुए कला (काव्य) के प्रयोजन पर प्रकाश डालिये।

अथवा

"अन्त में यह (कला) आनन्द नही है, वरन् मानव-एकता का साधन है, जो मानव-मानव को सह-अनुभूति द्वारा परस्पर सम्बद्ध करती है।" कला के स्वरूप और प्रयोजनों पर प्रकाश डालते हुए टालस्टाय के उक्त अभिमत की परीक्षा कीजिए।

अथवा

'कला, कला के लिये' है—सूत्र का आशय स्पष्ट करते हुए उसमें निहित सिद्धान्त का खण्डन-मण्डन कीजिए।

काव्य के रचना सम्बन्धी उद्देश्य को स्थूलतः तीन वर्गों में रखा जा सकता है—एक आनन्दवादी, दूसरा नैतिकतावादी और तीसरा यथार्थवादी। अर्थात् कला के तीन उद्देश्य होते हैं—कला आनन्दवादी दृष्टिकोण से सुख के

लिए हो सकती है, नैतिकतावादी दृष्टि से वह सत्य तथा नैतिकता की शिक्षा देने के लिए हो सकती है और यथार्थवादी दृष्टि से कला सौन्दर्य की अनुभूति के लिए हो सकती है।

दूसरे दृष्टिकोण से 'कला, जीवन के लिये' और तीसरे दृष्टिकोण से 'कला, कला के लिए' सिद्धान्तों का जन्म हुआ। आरम्भ में कला के नैतिकतावादी स्वर की ही प्रमुखता थी। यूनानी विचारकों ने कला का उद्देश्य सुधारवादी तथा शिक्षा देना बताया है। दांते ने काव्य को नीति और उपदेश (सुधार) के निकट माना है और सर फिलिप सिडनी भी कला को सद्धर्म के निकट मानते हैं। बैन जॉनसन का कहना था कि कवियों का मुख्य उद्देश्य जीवन की श्रेष्ठ प्रणाली का सृजन करना है। वर्ड्सवर्थ ने भी कवि को उपदेशक के समान ही माना है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने तो स्पष्ट रूप से यह घोषित किया कि जिस कविता में नीति के विरुद्ध विद्रोह है, उसमें जीवन के विरुद्ध भी विद्रोह है। इस सिद्धान्त का सबसे अधिक शक्तिशाली समर्थन रॅस्किन और टालस्टाय द्वारा हुआ। टालस्टाय के अनुसार कलावस्तु का मूल्य तत्कालीन धार्मिक चेतना से ही निर्धारित करना चाहिए और धार्मिक चेतना से उनका अभिप्राय मनुष्यों का पारस्परिक ऐक्य और सब मनुष्यों का ईश्वर से ऐक्य है। रॅस्किन ने तो यहाँ तक कह दिया—

"It is the witness of the glory of God."

कविता के सौन्दर्य का आस्वादन वही सौभाग्यशाली कर सकते हैं जो पवित्र एवं शुद्ध हृदय के हैं। रॅस्किन सभी कलाओं का उद्देश्य नीति की शिक्षा देना मानते हैं, उनके अनुसार कविकर्म मनोरंजन से पृथक् एक गम्भीर वस्तु है।

इन्हीं सब विचारकों के विचारों की प्रतिक्रिया में 'कला, कला के लिये' के सिद्धान्त का जन्म हुआ। क्योंकि इस सिद्धान्त में 'कला, जीवन के लिये' में—कुछ स्पष्ट न्यूनताएँ थीं। इस सिद्धान्त के अनुसार कला का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ भी नहीं रह जाता, वह उपदेश की दासी बन जाती है। फिर कला सृजन की प्रक्रिया में नीति-अनीति का प्रश्न व्यर्थ तुल्य है, क्योंकि सौंदर्य और आध्यात्मिकता—दोनों एक साथ कैसे सम्भव हैं ? फिर नैतिकता भी तो समाज-सापेक्ष है, उसका स्वरूप भी तो परिवर्तित होता रहता है। यह सत्य बात है कि आज जिन वस्तुओं अथवा भावनाओं को नैतिक समझा जाता हो,

कल उन्हें अनैतिक समझा जाय और आज की अनैतिकता कल की नैतिकता में परिणत हो जाये। यदि यही है तो फिर साहित्य की शाश्वतता क्या रही ? फिर एक-दूसरे धर्म के विरोधी भी हैं—उनमें से नैतिकता का आधार किसे मानें ?

वैसे भी कला के अनिवार्य गुण के रूप में नीति, उपदेश, सदाचार आदि को नहीं माना जा सकता; क्योंकि कलाकार का कर्म और उपदेशक का कर्म—दो पूर्ण विभिन्न कर्म हैं। उपदेशक का कार्य है अपनी बात मनवाना, जबकि कलाकार का कार्य है अभिव्यंजना करना। अत: कलाकार का कार्य तो केवल इतना है कि वह यह बताकर रख दे कि वस्तु कैसी है ? अर्थात् वह जो कुछ देखता है, सुनता है और अनुभव करता है, उसे तटस्थ रूप से अभिव्यक्त कर दे।

इस कार्य को 'कला, कला के लिये' वाला सिद्धान्त भी पूरा नहीं करता। इस कला को कवि अन्तरंग से इतना अन्तर्भूत कर देता है कि इसमें बाह्य जीवन की कोई झलक ही नहीं रहती। यह सिद्धान्त साहित्य, आलोचक और स्वयं कला के लिए भी घातक रहा। इस सिद्धान्त के अनुसार कला का प्रमुख कर्म सौन्दर्य की अनुभूति कराना था; पर कालान्तर में इसने कुत्सित भावनाओं के सृजन की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया।

जब साहित्य और समाज में नैतिक मूल्य विश्रृंखलित होने लगे तो कलाकार आत्मस्थ और स्वयं केन्द्रित हो गया और उसकी विचारधारा का कलावाद से सीधा सम्पर्क हो गया। यह आत्मस्थ दृष्टि ही साहित्य में 'कला, कला के लिये' के सिद्धान्त की जन्मदात्री सिद्ध हुई। इसके विषय में ह्विसलर का मत है—

"Art is selfishly occupied with her own perfection only-having no desire to teach-seeking and finding the beautiful in all conditions and at all times."

ऑस्कर वाइल्ड ने इस सिद्धान्त का पूर्ण प्रवर्तन किया। स्वयं ह्विसलर ने भी रॅस्किन के विरोध में कहा कि कला का लक्ष्य—उद्देश्य तो होना ही नहीं चाहिए। यह तो जीवन से सर्वथा निरपेक्ष है। नीति तो धर्म का विषय है, कला का नहीं। कलावादी विचारकों के अनुसार कला का सम्बन्ध भावना से है और इसकी एक मात्र उपयोगिता मनोभावों की मुग्धकारी सौन्दर्यानुभूति है।

जे० ई० स्पिनवर्न ने 'कला, कला के लिये' के सिद्धान्त की विशिष्ट शब्दावली में स्थापना की, "शुद्ध काव्य के अन्दर सदाचार-दुराचार खोजना ऐसा है, जैसे रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण।"

ब्रेडले भी कला को केवल सौन्दर्य के मापदण्ड से ही मापते हैं और इस पर नीति के नियन्त्रण का विरोध करते हैं। क्योंकि, कला का अपना पूर्ण स्वतन्त्र और निरपेक्ष जगत् होता है—

Its nature is to be not a part nor yet a copy of the real world but a world in itself, independent, complete, autonomous."

स्पिनवर्न ने कला के प्रयोजन पर सबसे स्पष्ट तथा पूर्णरूप से विचार किया है। उनका विचार है कि कला का नैतिकता, धर्म, दर्शन आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। सौन्दर्य की सृष्टि, जो कला का कार्य है, अपना उद्देश्य आप है।

और, यह ठीक भी है, क्योंकि सौन्दर्य, सौन्दर्य की अनुभूति में ही बसता है। सौन्दर्य कोई गुण न होकर एक प्रभाव मात्र है, अतः कलाकार का कार्य सौन्दर्य की अनुभूति को ही प्रस्तुत करना होता है।

इस प्रकार 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त के समर्थकों के भी दो वर्ग हैं—एक वह वर्ग है जो कला का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति मानता है और दूसरा वर्ग वह है जो कला को सौन्दर्यवादी दृष्टि से देखता है।

इन दोनों ही प्रकार के समर्थकों के अनुसार कला का अन्तिम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है और आत्माभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य उस आनन्द को प्राप्त करने का साधनमात्र है।

पर जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, जैसे 'कला, जीवन के लिये' के सिद्धान्त में दोष हैं—काव्य का लक्ष्य पूर्णरूपेण शिक्षा देना नहीं है और न नियमों का पालन कर नैतिकता का दास बनना है, उसी तरह काव्य का लक्ष्य पूरी तरह उच्छृंखल होकर जीवन से पूर्ण विरुद्ध होना भी नहीं है। इसलिए 'कला, कला के लिये' के सिद्धान्त में भी अनेक दोष हैं एवं उनकी सीमाएँ हैं।

कला को न तो हम सम्पूर्ण जीवन ही मान सकते हैं और न ही उसके नितान्त विपरीत ही। उसे जीवन से अलग रखकर भी नहीं देखा जा सकता।

पर साथ ही यह भी सही है कि कला को सिद्धान्त के अंकुश से मुक्त भी होना चाहिए, तभी उसमें मन का सौन्दर्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में स्फुरित हो सकेगा। अतः स्पष्ट है कि ये दोनों सिद्धान्त अतिवादी हैं। कलाकार जीवन को, उससे सम्बन्धित समस्याओं को और मानव-चरित्र को अपनी कला का विषय बनाता है। अतः कला में नैतिक मूल्य आये बिना रह भी नहीं सकते। सामाजिक प्राणी होने के नाते कलाकार समाज में रहता है। अतः समाज के सत्य को वह नकार भी नहीं सकता, पर उस पर इसकी छाप सम्पूर्णता से नहीं पड़ती। कला इसके साथ ही साथ जीवन और प्रकृति के दृश्यों, घटनाओं और उनके सम्भाव्यों को कलात्मक रूप देकर पुनः उपस्थित करती है। अतः यदि नैतिकता और सत्य सीमातिक्रमण कर देते हैं तो दृश्यों की स्वाभाविकता मारी जाती है। घटनाओं की स्वाभाविकता के लिए ही नैतिकता और सत्य को स्वीकार किया जाता है। **सत्य सुन्दर से आवेष्टित होकर ही सहज ग्राह्य होता है।**

इस प्रकार यदि मान भी लिया जाये कि कला स्वयं में पूर्ण तथा निरपेक्ष है, पूर्णरूपेण सही नहीं है; क्योंकि इस तरह से तो उसका जगत् वास्तविक जगत् से भिन्न कल्पना की उड़ान मात्र रह जायेगा—उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। अतः कलावादी कलाकार स्वान्तःसुखाय की आड़ में समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। सत्य तो यह है कि कलाकार प्रकृति से प्रेरणा भले ही ले, काव्य में चित्रण अपनी अनुभूति का करता है—वह प्रकृति की कुरूपता, एकरसता तथा नीरसता को भी सुरूपता, रसविविधता तथा सरसता में परिवर्तित करके प्रस्तुत करता है और यह प्राणवत्ता वह जीवन से ग्रहण करता है। अतः कहा जा सकता है कि ये सिद्धान्त एक-दूसरे के पूरक हैं—कला में दोनों का ही प्रयोग होता है पर दोनों का अतिवाद सर्वत्र ही घातक रहता है, अतः कला में भी इनके अति की वर्जना है।

प्रश्न २७—पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा काव्य की प्रकृति के विषय में जो विचार व्यक्त किये गए हैं, उनका विवेचन करते हुए काव्य और प्रकृति के सम्बन्ध का उल्लेख कीजिए और काव्य में प्रकृति-चित्रण की विधाओं का उल्लेख कीजिए।

प्रकृति और मानव का साहचर्य अनादि युग से चला आ रहा है। मानव-प्रकृति की क्रीड़ामयी क्रोड़ में ही उत्पन्न हुआ; यहीं वह खेलाकूदा और इसी

से उच्छ्वास ग्रहण कर उसने अपने भावों को अभिव्यक्त करना सीखा। साहचर्य मन में स्नेह उत्पन्न कर देता है, यही कारण है कि मनुष्य का प्रकृति के प्रति अनन्य अनुराग सदैव विकसित और पोषित होता रहता है। प्रकृति के क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तित वेश ने उसकी चेतना को नवीन प्रेरणा दी और वह उसके आकर्षण का केन्द्र बन गया।

प्रकृति और मनुष्य का यह सम्बन्ध किसी स्थान, काल अथवा कार्य की सीमा में आबद्ध नहीं है, यह सार्वकालिक, सार्वदेशीय और सार्वग्रहणीय है। यद्यपि प्रकृति मानव से भिन्न है; फिर भी वह भावजगत् में मानव से अनुरूपता प्राप्त करती है। दार्शनिकों ने भी प्रकृति और आत्मा का सम्बन्ध स्थापित किया है और यही प्रवृत्ति साहित्य में भी प्रत्यक्षतः दिखलाई देती है। साहित्यकारों ने अपनी भावनाओं का प्रस्फुटन प्रकृति में देखा है और अपनी भावना के अनुसार उसे अपने सुख में सुखी तथा अपने दुःख में दुःखी देखा है। यही नहीं, उसने उससे प्रेरणा भी ग्रहण की है। पृथक् सत्ता में भी उसने एकता तथा अभिन्नता खोजी है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने कवियों की रुचि के अनुरूप ही काव्य और प्रकृति के सम्बन्ध में विचार किया है। पर अपनी-अपनी भावना के अनुसार इन विचारकों ने प्रकृति के प्रभाव को विभिन्न रूपों में स्वीकारा है। यद्यपि उसकी सत्ता प्रत्येक ने स्वीकार की है—प्रकृति के स्वभाव और प्रभाव का कोई भी निषेध नहीं कर सका है। अतः यह निर्विवाद है कि प्रकृति और मानव का और इसलिए प्रकृति तथा काव्य का, अभिन्न सम्बन्ध है; पर यह सम्बन्ध किस प्रकार का है, इस पर विचार करना अपेक्षित है, और इसी विषय में विद्वानों में मतभेद है।

हाइलोजिस्ट दार्शनिकों ने प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार तो किया, पर उससे कोई प्रेरणा ग्रहण करने की बात नहीं कही, सोफिस्टों ने उसे विश्व-सृजन के रूप में स्वीकार किया है। प्लेटो ने प्रकृति को वस्तु के रूप में ग्रहण किया। इसे पुनरुत्थान काल में सर्वव्यापक सर्जनशक्ति तो माना गया, पर वह प्रतिष्ठा नहीं मिली जो अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में मिली थी। इस युग में प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व रहा। पर अठारहवीं शताब्दी के मध्य में इसे यूरोपीय कवियों ने काव्य में स्थापित किया और प्रकृति को सचे-

तन रूप प्रदान किया। प्रकृति का मानवीकरण होने से वह मानव तथा काव्य दोनों से पूर्णरूपेण सम्बद्ध हो गया।

प्रकृति का स्वच्छन्दतावादी कवियों ने खुलकर प्रयोग किया—एक प्रकार से उनका काव्य प्रकृति की निसर्ग सुषमा में ही पल्लवित होता दिखाई देता है। वर्ड्सवर्थ, शैली, गेटे, मैथ्यू आर्नाल्ड, ब्राउनिंग, स्पिनवर्न, मेरेडिथ आदि ने प्रकृति के सौन्दर्य पर लुब्ध हो-हो कर उसके आकर्षण को स्वीकार किया और काव्य में मानवीय भावनाओं का उसी के माध्यम से पोषण किया।

प्रकृति और काव्य—काव्य मानव-जीवन की सहज अभिव्यक्ति है और मानव-जीवन से प्रकृति का नैसर्गिक सम्बन्ध है; जीवन जिया ही प्रकृति की क्रोड़ में जाता है। इसीलिए प्रकृति और काव्य का सम्बन्ध भी अटूट है। यह मानव और काव्य के बीच की एक कड़ी है, प्रकृति के माध्यम से ही मानव की मनोभावनाओं तथा चेष्टाओं की अभिव्यक्ति होती है। इससे काव्य में एक ओर तो प्रभविष्णुता और सरसता आ जाती है; तो दूसरी ओर कवि को अभिव्यक्ति के लिए एक विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो जाता है, और वह निस्संकोच होकर मानवीय भावनाओं का चित्रण करता है।

प्रकृति और सौन्दर्य—मानव-मन सुन्दर वस्तु की ओर सहज ही आकर्षित होता है, उसके नेत्र नयनाभिराम दृश्य देखना चाहते हैं और उन्हें देखकर उन्हीं में लीन हो जाते हैं। प्रकृति ये सुन्दर दृश्य मानवीय आँखों के समक्ष प्रस्तुत करती है और कवि इनसे प्रेरणा प्राप्त करके अपनी सौन्दर्यमयी अनुभूतियों का प्रकाशन करता है। सौन्दर्य-भावना मानसपरक है और प्रकृति का सौन्दर्य हमारी कलात्मक दृष्टि का परिणाम है। यही कारण है कि प्रकृति का सौन्दर्य मानवीय अनुभूतियों से सम्बद्ध होकर ही काव्य का सौन्दर्य बनता है। इसीलिए क्रोचे ने लिखा है, "प्रकृति उसी व्यक्ति के लिए सुन्दर है जो उसे कलाकार की दृष्टि से देखता है। प्रकृति कला की समानता में मौन और मूक है और उसे वाणी मनुष्य द्वारा ही दी जाती है।"

वस्तुतः प्रकृति तभी सुन्दर लगती है, जब उसे कलाकार की दृष्टि से देखा जाता है। साधारण रूप में प्रकृति कोई भी भावना उद्‌बुद्ध नहीं करती, किन्तु वही जब काव्य में पढ़ी, सुनी या देखी जाती है तो सहृदय एवं सामाजिक विभोर हो उठता है और आनन्द प्राप्त करता है। यही सौन्दर्य का रहस्य है। ई० एफ० कैरियर भी अपनी पुस्तक 'The theory of beauty' में

ालखते हैं, "केवल कलाकार में व्यापक और प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण करने की शक्ति होने के कारण उसमें अभिव्यक्ति की भी प्रेरणाशक्ति होती है। कलाकार जिस दृश्य को देखता है, उसके प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप की प्रेरणा की अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिकृति होती है।"

इस प्रकार कवि का काव्य, प्रकृति तथा सौन्दर्यानुभूति से गहन सम्बन्ध है। प्रकृति मानव की सौन्दर्य-भावना को जाग्रत करती है, उसके मन के विषाद का नाश करके उसे आदान-प्रदान करती है। प्रकृति के स्पर्श से ही काव्य का रूप निखरता है और उसमें सौन्दर्य-तत्त्व का अधिष्ठान होता है।

प्रकृति और शान्ति—कवि प्रकृति के माध्यम से शान्ति का अनुभव करता है, वह संसार की भौतिक यांत्रिकता तथा अभावों से ग्रस्त होकर कहीं शांति पाना चाहता है और यह शांति उसे प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य में प्राप्त होती है। कवि काव्य में शान्तिमयी भावनाओं की अभिव्यंजना करता है। प्रकृति कवि के मन में संवेदना उत्पन्न करती है। इसीलिए वर्ड्सवर्थ को मनुष्य से अधिक प्रकृति से संवेदना प्राप्त हुई थी। उसने प्रकृति में मानव-चेतना के दर्शन किए और उससे अपने प्रेम का प्रतिपादन प्राप्त किया। उसने इसी प्राप्य-प्रेम का वर्णन करते हुए लिखा है—

"Nature did betray,
the heart that loved her."

यही कारण है कि वह अपने जाड़े के मौसम में चलने वाली ठण्डी हवाओं को भी प्रेम करते हैं और उन्हें इतना हृदयहीन तथा मर्मस्थल को वेधने वाली नहीं बताते जितनी मानवीय भावनाएँ—

"Blow Blow thou winter wind."

कवि प्रकृति के सौन्दर्य से मन में अपार शक्ति का अनुभव करता है और अपनी सुध-बुध खोकर भी उसके सौन्दर्य में लीन हो जाता है, यहीं उसे असीम शक्ति प्राप्त होती है और इसी शान्तिमयता में वह काव्य की सर्जना करता है। यही कारण है कि मौलिक जगत् के संघर्षों से ऊबे कवि और पाठक—दोनों काव्य के सर्जन और अध्ययन से असीम शान्ति का अनुभव करते हैं और प्रकृति के शान्त वातावरण में अपने भावों को गतिमान करते हैं।

प्रकृति और शिक्षा—काव्य में प्रकृति एक शिक्षिका के रूप में भी उपस्थित होकर मानव को शिक्षा देती है। स्वच्छन्दतावादी कवियों ने प्रकृति को

काव्य में सचेतन के रूप में देखा है और उसे मानव-जीवन का एकमात्र प्रेरणा-स्रोत माना है। प्रकृति मानव के लिए शिक्षिका भी है और निर्देशिका भी। पर यह जो शिक्षा देती है, वह कोमलता से आपूरित होकर ही—मानव-मन की कोमल भावनाओं का संस्पर्श करती हुई देती है। प्रकृति मानव के लिए पत्नी अथवा प्रेमिका के समान है, जो मधुर स्वर में उसके अहम् की रक्षा करती हुई उसे शिक्षा देती है। यही कारण है कि वर्ड्सवर्थ, शैली और ब्राउनिंग आदि कवियों को प्रकृति के सौन्दर्य में किसी असीम शक्ति का आभास दिखाई देता है जो कवियों के मन को अपनी ओर आकृष्ट करता है। इसी से प्रकृति आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाती है। वायरन तो प्रकृति के असीम सौन्दर्य को देखकर उत्फुल्ल हो उठते हैं—

"My heart leaps up when I behold,
A rainbow in the sky."

इतना ही नहीं, जॉन कीट्स तो प्रकृति के चार मौसमों की तरह मानव के मन में भी चार मौसम देखते हैं—

"Four seasons fill the measure of the year.
There are four seasons in the mind of man."

इसीलिए एक कवि प्रकृति को विश्व की सरंक्षिका तक मानता है जो मनुष्य की प्रत्येक सुख-सुविधा का ध्यान रखती है—

"Thus nature ! shelter of each living thing."

काव्य में प्रकृति-चित्रण के प्रकार—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रकृति का काव्य से अभिन्न सम्बन्ध है—वह मानव-मन की उत्फुल्लता की तरह मानव-मन की उत्फुल्लता का कारण भी है। यह सम्बन्ध सौन्दर्यानुभूति पर आधारित है और इसी आधार पर प्रकृति तथा काव्य का सम्बन्ध स्थिर है। प्रकृति से काव्य में सौन्दर्य की भावना का प्रभावशाली चित्रण होता है। प्रश्न उठता है कि यह चित्रण होता किस तरह है। इस प्रश्न के उत्तर में प्रत्येक विचारक की अपनी-अपनी दृष्टि है और इसके मूल में जीवन की तथा परिस्थितियों की विविधता है। कभी कवि प्रसन्न होता है तो उसे प्रकृति प्रसन्न दिखाई देती है और जब वह दुखी होता है तो प्रकृति भी दुखमयी दिखाई देती है। कभी वह बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल होती है, तो कभी आन्तरिक मनोदशा का चित्रण करती है—पर प्रत्येक चित्रण में मानवीय

स्थिति मूल है। कवि अपने अन्तर की भावनाओं से प्रकृति को अनुरंजित करके काव्य में वर्णन करता है और इन्हीं विविध भावनाओं के कारण उसके विविध रूप हो जाते हैं। इनमें से कुछ रूपों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है, इससे प्रकृति की काव्य-विषयक विविधता तथा बहुमुखापेक्षिता ज्ञात होगी।

(क) **आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन**—प्रकृति कवि के लिए कहीं तो साधन होती है और कहीं साध्य। साध्य रूप में वह काव्य में आलम्बन बनकर उतरती है। इस रूप में उसका विस्तार, नाना रूपात्मक सौन्दर्य कवि की स्वानुभूति का विषय बन जाता है, मानव उसकी क्रोड़ में पल्लवित होता है और उसी के साहचर्य से संस्कार ग्रहण करता है और अपनी अभिव्यंजना से अनुभूतिशील होकर काव्य में प्रकृति का वर्णन करता है। इस प्रकार प्रकृति आलम्बन के रूप में विभिन्न रूपों में उपस्थित होती है। आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण करने की दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं—बिम्बग्रहण प्रणाली और नाम परिगणन शैली। प्रथम के द्वारा प्रकृति का एक ऐसा संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें कवि-कल्पना का पूरा-पूरा प्रयोग करता हुआ अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण प्रकृति के रम्य एवं भयानक रूप की झाँकी दिखाता है, किन्तु दूसरी प्रणाली के अनुसार प्रकृति के वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि के केवल नाम ही गिना दिए जाते हैं और कोई सामूहिक प्रभाव उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया जाता।

(ख) **उद्दीपन रूप में प्रकृति-वर्णन**—प्रकृति जहाँ आलम्बन रूप में आती है, वहीं साधन के रूप में मानवीय भावनाओं को उभारती है। वह आलम्बन और आश्रय के भावों को उद्दीप्त करती है। कभी तो वह संयोग को बढ़ाती है और कभी वियोग को। इस प्रकार मानवीय व्यापारों की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति काव्य का एक अनिवार्य अंग बन जाती है। कभी कवि तो इससे प्रेरणा ग्रहण करता है और कभी अपने भावों के प्रतिकूल पाकर उसे उपालम्भ देता है। काव्य में प्रकृति का अधिकतर यही रूप मुखरित होता है।

(ग) **मानवीकरण के रूप में प्रकृति-वर्णन**—प्रकृति पर सचेतन व्यक्तित्व का आरोप ही प्रकृति का मानवीकरण है। अपनी भावनाओं को कवि परोक्ष रूप में अभिव्यक्त करने के लिए प्रकृति का मानवीकरण करता है और उसके माध्यम से अपनी भावनाएँ प्रस्तुत करता है। इसके अन्तर्गत प्रकृति पर भी मानवीय क्रिया, मानवीय सौन्दर्य और मानवीय क्रिया-व्यापारों का आरोपण

करके उसमें मानवीय अनुभूतियों का निर्देशन किया जाता है। इस प्रकार प्रकृति मानवीय भावनाओं का सजीव आरोपण करती है।

(घ) **उपदेशक अथवा लोक-शिक्षक के रूप में प्रकृति-वर्णन**—प्रकृति कहीं-कहीं कवि की अनुभूति से संयुक्त होकर मानवीय विचारों की अधिष्ठात्री बन जाती है और मनुष्य को उपदेश देने लगती है। काव्य के माध्यम से कवि यदि उपदेश देता है तो उपदेश का माध्यम प्रकृति को बनाता है, इससे एक ओर तो उपदेश की कटुता तथा बोझिलता समाप्त हो जाती है और दूसरी ओर काव्य का सौन्दर्य भी यथावत् बना रहता है। इसके अतिरिक्त काव्य और नीतिशास्त्र का अन्तर भी पूर्ववत् विद्यमान रहता है। कवि प्रकृति का प्रतीकात्मक वर्णन करके उसके विभिन्न रूपों से शिक्षा ग्रहण करता है और मानवीय सत्यों का उद्घाटन करता है। पर्वत की अडिगता, सागर की गहराई, वृक्षों का धैर्य और नदी का प्रवाह—सभी मानव को शिक्षा देते हैं।

(ङ) **परम सत्ता की प्रदर्शिका प्रकृति**—ईश्वर असीम और अदृश्य है। उसकी रहस्यमयी सत्ता का प्रदर्शन प्रकृति के माध्यम से किया जाता है। इस प्रकार प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। कॉलरिज भी प्रकृति में परम सत्ता का आभास पाते हैं और प्रकृति की अनन्त सत्ता के माध्यम से यह पता लगाते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक और परम सत्तावान् है।

(च) **सौन्दर्य-साधिका रूप में प्रकृति**—कवि अपनी सौन्दर्यमयी भावनाओं की अभिव्यक्ति भी प्रकृति के माध्यम से करता है। वर्ड्सवर्थ तो भौतिक जगत् के दृश्यों की अपेक्षा प्रकृति से ही सम्बन्ध जोड़ने की बात कहते हैं। वह कहते हैं कि मानव-प्रकृति के निसर्ग सौन्दर्य की ओर ध्यान नहीं देता—

"Little we see in nature that is ours.
We have given our hearts away a sordid boon."

प्रकृति के इस सौन्दर्य का वर्णन करते हुए वर्ड्सवर्थ लिखते हैं—

"This see that bares her bosom to the moon.
The winds that will be hawling at all hours.
And are up-gathered now like sleeping flowers.
For this for every thing we are out of tune."

यही कारण है कि कवि प्रकृति की सौन्दर्य-सुषमा का अवगाहन करके मस्त हो उठता है और चन्द्रमा में रूपसी का सौन्दर्य, निर्झरों में मुक्तामाल, ज्योत्स्ना में श्वेतवसना नारी को देखता है और मुग्ध होता है।

(छ) पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-वर्णन—कवि प्रकृति को अपनी भावनाओं का आधार बनाकर अभिव्यक्त करता है और अपनी सभी भावनाओं को उसी की पृष्ठभूमि पर आधृत करता है, इससे कवि को भावों के वर्णन में सुविधा रहती है।

(ज) आलंकारिक रूप में प्रकृति-वर्णन—कवियों ने प्रकृति का प्रयोग आलंकारिक रूप में भी किया है। प्रायः गुण, भाव एवं आकृति का साम्य दिखाने के लिए कवि लोग प्रकृति से ऐसे-ऐसे उपमान चुना करते हैं जिनसे उनके पात्रों के अंगों एवं उनकी प्रवृत्तियों का सम्यक् स्वरूप पाठकों के सामने आ जाता है।

निष्कर्ष—इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य से प्रकृति का अटूट सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध काव्य में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है। ये विभिन्न रूप प्रकृति के न होकर अभिव्यंजना शैली के होते हैं, जो एक ही वस्तु को अनुभूति भेद से विभिन्न रूपों में देखती है और अनेक उपकरणों से संयुक्त कर काव्य में अधिष्ठित करती है।

प्रश्न २८—पाश्चात्य आलोचकों के मतों को उद्धृत करते हुए साहित्य और सदाचार के सम्बन्ध का विश्लेषण कीजिए।

साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्य मानव-जीवन की विशद् व्याख्या है और मानव-जीवन समाज से अनुबन्धित है। समाज की गति तथा समृद्धि के लिए समाजशास्त्रियों ने भी कुछ नियम बनाये हैं, अतः साहित्य का इन नियमों से सम्बन्ध होना भी आवश्यक है, किन्तु कुछ विचारक साहित्य को आत्मा की एकान्त अभिव्यक्ति मानते हैं। यह अभिव्यक्ति सौन्दर्य-वादी भी हो सकती है और यथार्थवादी भी साहित्यकार जैसा देखता है, सुनता है, उसी से अनुभूति ग्रहण करता है और उसी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए आतुर-आकुल हो जाता है, इस दृष्टि से आत्माभिव्यक्ति में भी प्रच्छन्न रूप से जीवन का सम्बन्ध है।

जीवन का यह सम्बन्ध किस रूप में है, इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों की अनेक धारणाएँ हैं। कोई तो साहित्य का उद्देश्य सत्य और सदाचार का नैतिकता के स्तर पर उपदेश मानता है, कोई जीवन का यथार्थ चित्रण मानता है और कोई इसे जीवन की आलोचना एवं जीवन का विश्लेषण मानता है।

जो विद्वान् साहित्य का सदाचार से अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं, उनका विचार है कि साहित्य वाणी-विलास-मात्र ही नहीं है, वह समाज का मार्ग-दर्शक भी है। इस वर्ग की दृष्टि में वह साहित्य सफल एवं श्रेष्ठ है जो समाज को सत्य और शिव के मार्ग पर आरूढ़ कर सके। इस वर्ग के विचारक कला-वाद के विरुद्ध हैं। नीतिवादी विचारकों का अभ्युदय काव्यशास्त्र के आरम्भ से ही हुआ है। काव्यशास्त्र के प्रथम विचारक प्लेटो से ही इसकी परम्परा प्राप्त होती है। प्लेटो, अरस्तू, गेटे, होरेस, टालस्टाय, जॉन रस्किन, मैथ्यू आर्नाल्ड, शिलर, आई० ए० रिचर्ड्स आदि इसी वर्ग के प्रतिनिधि विचारक हैं—इन सभी ने साहित्य और सदाचार का अभिन्न सम्बन्ध माना है।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने इस सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है। यद्यपि उनसे पूर्व भी साहित्य और सदाचार का सम्बन्ध माना जाता रहा होगा, पर इस धारणा को सर्वप्रथम प्लेटो के 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। उन्होंने लिखा है कि मानव-समाज के नैतिक विकास का भार कवियों पर होता है। प्लेटो ने जब सूत्र रूप से यह लिखा है कि साहित्य अनैतिक और असत्य को रोचक बनाता है तो आलोचकों को सूझा कि जब साहित्य अनैतिक और असत्य को रोचक बना सकता है तो सत्य और नैतिक को तो वह और भी रोचक बना सकता है। फलतः साहित्य का सदाचार से सम्बन्ध जुड़ गया और उसका उद्देश्य नैतिक और सदाचार की शिक्षा देना माना जाने लगा। दान्ते ने भी काव्य का उद्देश्य प्रेम, नीति और सत्य की शिक्षा देना प्रतिपादित किया और सर फिलिप सिडनी ने भी यह माना कि काव्य अथवा साहित्य सद्धर्म के अत्यन्त निकट है, इसलिए इनका सदाचार से अभिन्न सम्बन्ध है।

बेन जॉनसन साहित्य का मुख्य उद्देश्य जीवन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली का सूचन मानते हैं। मैथ्यू आर्नाल्ड का भी यह आग्रह है कि जिस साहित्य में नीति के विरुद्ध विद्रोह है, उसमें जीवन के प्रति भी विद्रोह है और जो साहित्य जीवन से उदासीन है, वह नीति से भी उदासीन है। गेटे ने स्पष्ट कहा है कि साहित्य सम्पूर्ण जगत् का मानव-कृत रूप है। इसीलिए इसका शिक्षाप्रद रूप होना आवश्यक है, किन्तु यह शिक्षा प्रच्छन्न होनी चाहिए, जिससे पाठक स्वयं संवेद्य रूप से उसे उसी प्रकार ग्रहण करे जैसे जीवन से ग्रहण करता है।

होरेस ने भी काव्य और नैतिकता का घोर समर्थन किया है। वह नीति, शिक्षा तथा आनन्द के समन्वय में विश्वास करते हैं। वह स्पष्ट लिखते हैं—

"The poet's aim is either to profit or to please or to blend in one the delightful and the useful....the man who mingles the useful with the sweet carrise the day by charming his reader and at the same time instructing him."

अर्थात् कवि (अथवा साहित्यकार) का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है या आनन्द प्रदान करना होता है—इन दोनों में से जो भी अधिक उपादेय हो या फिर वह दोनों को एक ही में समन्वित कर देता है........जो मनुष्य इन दोनों का समन्वय कर देता है, वही सफल साहित्यकार होता है।

साहित्य और सदाचार का सबसे प्रबल समर्थन टालस्टाय और रस्किन द्वारा हुआ। टालस्टाय ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि नीति से विमुक्त साहित्य की कोई सफलता या उपादेयता नहीं है। उनके अनुसार कला या साहित्य का मूल तत्कालीन धार्मिक चेतना से निर्धारित होना चाहिए। यह धार्मिक चेतना मनुष्य और ईश्वर की एकता से निःसृत होती है, अतः साहित्य का ध्येय धर्म, करुणा और प्रेम आदि का प्रतिपादन करना है, तभी उसे सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।

टालस्टाय की भाँति रॅस्किन भी पूरी तरह नैतिकतावादी हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि जो साहित्य नैतिकता से जितनी दूर है, वह उतना ही बुरा है, अर्थात् साहित्य की अच्छाई का मापदण्ड उसका नैतिक होना हैं और उसी नैतिकता के आधार पर वह कला को दैवी मानते हैं—

"It is the witness of the glory of God.'

काव्य या साहित्य का सौन्दर्यास्वाद भी प्रत्येक प्राणी नहीं कर सकता। जिनका हृदय पवित्र है, वही उसका आस्वादन भी कर सकते हैं, क्योंकि साहित्य का एक ही उद्देश्य है—नीतिशिक्षा; और इसलिए साहित्यकार का परम-कर्तव्य है कि वह सद्‌गुणों, नीति आदि की शिक्षा दे। मनोरंजन तो रॅस्किन के अनुसार अत्यन्त छिछला कार्य है, जबकि साहित्य का कर्म अत्यन्त गम्भीर है ; यथा—

"Art, properly so called, is no recreation; it cannot be learned at spare moments....it must be understood and taken seriously."

स्पष्ट है कि रॅस्किन साहित्य का उद्देश्य नैतिकता मानते हैं। वह स्पष्ट लिखते हैं कि साहित्य जीवन के लिए उपयोगी बने, मनुष्य को सत्पथ पर अग्रसर करे, ईश्वर के ऐश्वर्य का अवलोकन करने की सामर्थ्य प्रदान करे। यथा—

"....and the neglect of art, as an interpreter of divine things has been of evil consequence to the chirstian world."

समीक्षा—इस विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य विचारकों के एक प्रमुख वर्ग ने साहित्य और सदाचार का अभिन्न सम्बन्ध माना है; पर उनके ये विचार सिद्धान्त रूप में भले ही आकर्षक और आदर्शवादी लगें, इनका अतिवाद व्यवहार में सर्वथा अव्यावहारिक ही है। इसमें एक तो साहित्य की शाश्वतता नहीं रहती, क्योंकि नैतिकता को यदि साहित्य का उद्देश्य माना जायेगा तो यह प्रश्न उठता है कि इस नैतिकता का आधार क्या है। प्रत्येक धर्म के अनुसार मान्यताएँ विभिन्न हैं, फिर तो साहित्य धर्म-सापेक्ष हो गया। आज कोई मान्यता नैतिक है, कल उसके विरुद्ध भी आवाज उठ सकती है, परसों उसकी आलोचना भी हो सकती है। अतः साहित्य का स्थायी महत्त्व न होकर अस्थायी महत्त्व हो गया।

वैसे भी नीति, उपदेश और सदाचार का साहित्य से पूर्ण सम्बन्ध जोड़ना अनुचित है। इस दशा में साहित्य और नीतिशास्त्र में कोई अन्तर ही नहीं रहता। तार्किक अपनी बात तर्क द्वारा मनवाता है, नीतिकार शिक्षा देता है और साहित्यकार तो अभिव्यंजना करता है। यह काम तो नीतिकार का है कि वह समाज का मार्ग सही रूप में प्रशस्त करे, यद्यपि साहित्य वस्तु-स्थिति के वर्णन के साथ-साथ पाठकों का मार्ग भी प्रशस्त करता है, पर वह प्रच्छन्न रूप से ही; वह पाठकों में वस्तु-स्थिति को ठीक-ठीक देखने की प्रवृत्ति जगाता है—उनके दृष्टिकोण को सही करता है, उन्हें ठीक-ठीक परखने की क्षमता प्रदान करता है।

साहित्य और सदाचार के अतिवाद के कारण साहित्य का प्रमुख कार्य—

सौन्दर्यानुभूति पीछे पड़ जाता है और इस प्रकार साहित्य मात्र साम्प्रदायिक विचारों का वाहक रह जाता है।

इसके अतिवाद की प्रतिक्रियावादरूप ही पाश्चात्य विचारकों में एक वर्ग ऐसा हुआ जिसने कलावाद को जन्म दिया और स्पिनवर्न ने तो यहाँ तक कह दिया कि "शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार और दुराचार की खोज वैसे ही है जैसे—रेखागणित के समकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण सिद्ध करना।"

इस वर्ग के समालोचकों ने कला को पूर्ण स्वच्छन्द तथा आत्माभिव्यक्ति मात्र माना है। पर स्पष्ट है कि ये दोनों ही मत अतिवादी हैं। साहित्य और सदाचार का सम्बन्ध है अवश्य, पर इस सीमा तक नहीं कि वह नीतिशास्त्र लगने लगे। साहित्य अप्रत्यक्ष और आकस्मिक रूप से शिक्षा-प्रदान करता है और उदात्त होने के कारण हित-साधन करता है और इस दृष्टि से साहित्य में नैतिक प्रश्न भी स्वतः ही समाहित होते हैं। पर साहित्य का प्रधान कार्य नैतिकता और सदाचार की शिक्षा नहीं माना जा सकता, प्रधान कार्य तो सौन्दर्याभिव्यक्ति ही है।

अन्य कलाओं की भाँति साहित्य के भी दो पक्ष होते हैं—(१) आन्तरिक और (२) बाह्य। साहित्यकार आन्तरिक से प्रेरित होकर आत्माभिव्यक्ति करता है और साहित्य में सौन्दर्य का अधिष्ठान करता है पर इसकी प्रेरणा बाह्य जगत् से लेता है। यह बाह्य जगत् से प्रेरणा ही नैतिकता समन्वित होती है जो उसकी आन्तरिक चेतना से अनुभूति होकर सशक्त तथा सौन्दर्यमयी हो जाती है। साहित्य और सदाचार का यही सम्बन्ध है। इसके संसर्ग से साहित्य की प्रतिभा विकसित होती है और साहित्यकार स्वानुभूति को कल्पना के रंगीन चमकदार परदे पर उतारकर साहित्य रूप में प्रस्तुत करता है।

निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि साहित्य में नैतिकता और सदाचार की भावनाओं का स्थान तो है, परन्तु है परोक्ष रूप से। इससे पाठक स्वयं प्रेरणा ग्रहण करता है, यह संवेद्य जाग्रत कर देता है; शेष कार्य तो पाठक पर निर्भर करता है, जो उससे कान्तासम्मत उपदेश ग्रहण करता है।

प्रश्न २९—साहित्य किसे कहते हैं ? इसकी प्रेरक शक्तियों का उल्लेख करते हुए साहित्य के मूल तत्त्वों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

साहित्य के मूल तत्वों का विश्लेषण करते हुए 'शक्ति के साहित्य' और 'ज्ञान के साहित्य' का भेद स्पष्ट कीजिए।

साहित्य शब्द अंग्रेजी शब्द लिटरेचर (Literature) का पर्यायवाची है। हिन्दी में साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' शब्द से हुई है, जिसकी संस्कृत में व्याख्या है—'सहितेन भावः स साहित्यम्' हित के भावों से भरे को साहित्य कहते हैं। 'सहित' में 'यत्' प्रत्यय लगकर साहित्य शब्द बना है। अंग्रेजी में लिटरेचर दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) व्यापक अर्थ में, (२) संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थ में इसका अर्थ समस्त वाङ्मय से होता है। इसके अन्तर्गत सभी विषयों का साहित्य आता है। प्रत्येक प्रकाशित कृति साहित्य कहलाती है। संकुचित अर्थ में साहित्य का अर्थ रसात्मक साहित्य से होता है। इससे भाषा साहित्य का भी तात्पर्य हो सकता है। उपन्यास, कविता, नाटक, कहानी, गल्प, निबन्ध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी-साहित्य, गद्यकाव्य आदि सभी विधाओं का इसमें परिगणन होता है।

इस प्रकार स्थूलतः हम प्रत्येक हित-साधन करने वाली कृति को साहित्य कह सकते हैं, पर रूढ़ार्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग रसात्मक साहित्य के अर्थ में होता है, क्योंकि इसमें भावनाओं का प्राधान्य होता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के स्वरूप का समग्रता से विवेचन किया है। हेनरी हडसन ने 'Study of literature' में साहित्य की परिभाषा देते हुए लिखा है कि विभिन्न साधनों में **साहित्य ही एक ऐसा साधन है जिसमें किसी विशिष्ट काल की स्फूर्ति की अभिव्यक्ति होती है।** यही स्फूर्ति परिपक्व होकर राजनीतिक आंदोलन धार्मिक विचार, दार्शनिक वादों और कला के रूप में प्रकट होती है—

"Literature is only one of the many channels in which the energy of age discharges itself in its political movement, a religious thought, philosophical speculation and art. We have the same energy overflowing into other forms of expression."

इस परिभाषा के अनुसार साहित्य किसी विशिष्ट काल की भावनाओं की स्फूर्ति है और इसी साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करके समस्त आन्दोलनों और धार्मिक व दार्शनिक विचारों का प्रस्फुटन होता है।

प्रो० एम० जी० भाटे साहित्य को आत्मा का संगीत मानते हैं जो मानव के अन्तस्तल से निःसृत होता है और भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होकर जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित करता है—

"Literature is the music which streams out of the attempts of man attune himself to life on the Key-Board of language."

इस परिभाषा के अनुसार साहित्य मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति है, आत्माभिव्यक्ति है। साहित्य भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है और उसमें मानव-जीवन का चित्रण होता है। साथ ही इसमें सौन्दर्य, आनन्द तथा कल्याण की भावना निहित होती है।

आई० ए० रिचर्ड्स साहित्यिक कथन के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं कि इसमें निर्दिष्ट वस्तुओं का सच्चा और झूठा होना महत्त्वपूर्ण न होकर उन निर्दिष्ट वस्तुओं के बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध ही महत्त्वपूर्ण होता है। **साहित्य हमारे मनोभावों और अन्तर्वेगों को जाग्रत करता है।**

इस प्रकार साहित्य के स्वरूप का अध्ययन करने पर चार तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—(१) साहित्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है, जो भाषा के माध्यम से स्वरूप ग्रहण करती है, (२) साहित्य मानवीय मनोभावों को जाग्रत करने में सहायक होता है, (३) साहित्य स्वयं भी किसी विशिष्ट काल से प्रेरणा ग्रहण करके सम-सामयिक विचारों और आन्दोलनों को जन्म देता है और (४) साहित्य में सौन्दर्य तथा आनन्द के साथ-साथ संगीतमयता होती है और उसकी भावना कल्याणमयी होती है।

साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ—साहित्य-सर्जना की प्रेरक प्रवृत्ति भावना है और भावना की प्रेरक प्रवृत्ति प्रतिभा है। अर्थात् साहित्य की सर्जना साहित्यकार की प्रतिभा से होती है जो अनुभवों और अनुभूतियों को ही साहित्य के रूप में भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करती है। पर इस अकेली प्रतिभा से ही साहित्य की सर्जना नहीं होती, इसके लिए शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास भी आवश्यक है, अभ्यास के अन्तर्गत अध्ययन और चिन्तन-मनन आता है। इस प्रकार **साहित्य-सर्जना की मूलप्रवृत्तियाँ भावना, व्युत्पत्ति और अभ्यास होती है—इन तीनों के संयोग से ही उत्तम साहित्य की सर्जना होती है।**

लेकिन इसके साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि साहित्यकार अपनी इच्छा का स्वयं स्वामी होता है—वह किसी के बन्धन में आबद्ध नहीं होता। जब उसकी इच्छा होती है, वह लिखता है। इसी को अंग्रेजी में 'मूड' कहते हैं। अत: इन प्रवृत्तियों अथवा प्रेरक शक्तियों का अध्ययन करते समय हमें यह भी जानना चाहिए कि वे कौन-सी प्रेरक शक्तियाँ हैं जो साहित्यकार की साहित्य-सृजन-शक्ति को प्रेरित करती हैं जिनके कारण वह जीवन के सत्यों को सुन्दर से सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत करता है। इन प्रेरक शक्तियों पर पाश्चात्य विचारकों ने विस्तार से विचार किया है। हडसन ने साहित्य की चार प्रेरक शक्तियाँ बताई हैं—

(१) आत्माभिव्यक्ति की इच्छा (Desire of self-expression)।

(२) मनुष्य और उसके कार्यों में रुचि (Interest in people and their doings)

(३) यथार्थ जगत् के प्रति आकर्षण और तदनुसार कल्पना-जगत् के निर्माण की प्रवृत्ति (Interest in the world of reality in which we live and in the world of imagination which we constitute into existence.)।

(४) रूप-विधान की कामना (Love of form as from)।

हीगेल ने सौन्दर्यानुभूति को इसकी प्रेरक प्रवृत्ति बताया है। वह लिखते हैं, "सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा में आनन्द का जो स्रोत आविर्भूत होता है, उसी का उच्छलन कविता है।" अत: काव्य अथवा साहित्य की प्रेरणाशक्ति, हीगेल के अनुसार, सौन्दर्य के प्रति आकर्षण है।

क्रोचे भी हडसन की तरह आत्माभिव्यक्ति को साहित्य-सृजन की मूल प्रेरक, शक्ति मानते हैं, क्योंकि जगत् के नाना पदार्थों के संसर्ग से मानव-मन में उन्हें मूर्तरूप देने की इच्छा होती है और यही इच्छा साहित्य की सर्जना में प्रवृत्ति होती है।

फ्रायड जीवन की समस्त क्रियाओं की मूलभावना वासना अथवा अभुक्त काम को साहित्य-सर्जना की प्रेरक शक्ति मानते हैं। मनुष्य जिस कामवृत्ति को सामाजिक मर्यादा के भय से तृप्त नहीं कर पाता, वही साहित्य के माध्यम से तृप्ति खोजती है, अत: साहित्य की प्रेरणा वासना के दमन की स्वस्थ प्रवृत्ति हुई।

एडलर के अनुसार वास्तविक जगत् के अभावों से काल्पनिक जगत् में छुटकारा पाने की प्रवृत्ति ही साहित्य-सृजन में सहायक होती है और युग के अनुसार साहित्य का जन्म काम-वासना और प्रभुत्व-कामना दोनों ही प्रवृत्तियों से होता है, इनके मूल में जीवनेच्छा ही प्रबल प्रवृत्ति है।

इन मूल प्रेरक प्रवृत्तियों पर दिये गए विचारों के माध्यम से ज्ञात होता है कि साहित्य की मूल प्रेरक-प्रवृत्ति अभिव्यक्ति की इच्छा है, मनुष्य संसार के नाना पदार्थों से प्रेरणा ग्रहण करके उसे अपनी अनुभूति से नवीन रूप देकर अभिव्यक्ति करना चाहता है और इसी से प्रतिभा, अभ्यास आदि के संसर्ग से साहित्य का जन्म होता है।

साहित्य के मूल तत्त्व—सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ही तत्त्वपूर्ण है, पाँच तत्त्वों के संयोग से मानव-शरीर का निर्माण हुआ है। अतः जब प्रत्येक वस्तु तत्त्वों के संयोग से बनी है तो फिर साहित्य भी तत्त्वों से अछूता कैसे हो सकता है? पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के मूलतत्त्वों पर विचार किया है। मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति को सुन्दर, सुव्यवस्थित, आकर्षणमय और प्रभावशाली बनाने के लिए जिन साधनों का उपयोग करता है, साहित्य में उन्हीं को साहित्य के तत्त्व कहा जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के मूलतः चार तत्त्व माने हैं—

(१) भाव-तत्त्व (Emotional Element)।

(२) बुद्धि-तत्त्व (Intellectual Element)।

(३) कल्पना-तत्त्व (Element of imagination)।

(४) शैली-त्तत्व (Element of style)।

अब हम इन पर संक्षेप से विचार करेंगे :

(१) भाव तत्त्व—जो भाव साहित्यकार को किसी विषय पर कुछ लिखने को प्रेरित करते हैं, वे ही पाठकों के हृदय में भी उठकर पढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। साहित्यकार का यह प्रयास भावतत्त्व के कारण ही पूर्ण होता है। यह साहित्य का मूलतत्त्व है, क्योंकि साहित्यकार साहित्य में अपनी भावनाओं को ही प्रस्तुत करता है और अपनी अनुभूति से देश-काल की सीमा का उल्लंघन करके सार्वदेशीय तथा सार्वकालिक साहित्य की सर्जना करता है, जो सभी जनों तथा सभी समय के लोगों को प्रिय होता है। जब तक भाव न होंगे, अभिव्यक्ति किसकी होगी? कोई भी पदार्थ, स्थिति, दृश्य अथवा

घटना तब तक अभिव्यक्ति नहीं पा सकती, जब तक साहित्यकार के हृदय में उसके प्रति भाव जाग्रत न हों। भावों के जाग्रत होने पर ही साहित्य लोकहित तथा लोकाकर्षण की वस्तु बन जाता है।

अंग्रेजी विचारक विचेस्टर ने साहित्य में इन भावों की विशेषताएँ बताई हैं। इन्हीं से भाव तीव्र और प्रभावोत्पादक बनते हैं—(१) भावनाओं का औचित्य, (२) भावनाओं की विशदता और शक्तिमत्ता, (३) भावनाओं की स्थिरता और उनका साहित्य, (४) भावनाओं की विविधता और (५) भावनाओं की पवित्रता तथा औदात्य।

इस प्रकार भाव-तत्त्व को जाग्रत करने, उसे तीव्रतर तथा प्रभावोत्पादक बनाने में औचित्य, विशदता, स्थिरता, विविधता तथा वृत्ति, गुणादि सहायक होते हैं। इन्हें साकारता शब्द, अर्थ और कल्पना से प्राप्त होती है।

(२) **बुद्धि-तत्त्व**—बुद्धि का सम्बन्ध विचारों, तथ्यों और सिद्धांतों से है। बुद्धि-तत्त्व का महत्त्व इस बात में है कि यह भाव, कल्पना तथा शब्दार्थ का संयोजन औचित्य पूर्ण करता है। यह साहित्य को कलेवर प्रदान करता है। इसी से साहित्य में व्यवस्था रहती है। प्रत्येक साहित्यिक रचना का कोई न कोई उद्देश्य तो होता है। इन उद्देश्यों की काव्य में अभिव्यक्ति भी बुद्धि तत्त्व से होती है। साहित्य के के क्षेत्र में बुद्धि तत्त्व, समग्रत: निम्नलिखित कार्य करता है :

(१) भावों की आधारभूमि का निर्माण करता है।

(२) अव्यक्त भावों को स्पष्ट करता है।

(३) लेखक के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति की समुचित व्यवस्था करता है।

(४) भावों को व्यवस्थित करता है।

(५) भावभिव्यक्ति में चमत्कार-योजना करता है।

(६) दार्शनिक विचारों को सुन्दर तथा रमणीय रूप में प्रस्तुत करने में सहायता देता है।

(३) **कल्पना-तत्त्व**—साहित्य में भावों का निरूपण कल्पना के माध्यम से ही होता है। मन में उद्‌भव भाव तब तक अनभिव्यक्त ही रहते हैं, जब तक कल्पना के माध्यम से उनका चिन्तन-मनन नहीं हो जाता। साहित्यकार यथार्थ जगत् में जो देखता है या अनुभव करता है, उसे उसी रूप में अभिव्यक्त नहीं करता, अपितु पहले से तो उसे कल्पना-तत्त्व के द्वारा भव्य और आकर्षक रूप

प्रदान करता है—ऐसा रूप जो सभी के मन को आह्लादित करदे । साहित्यकार का कथन सत्य होने के साथ-साथ रसमय भी होता है और यह रसमयता वह कल्पना-तत्त्व के माध्यम से लाता है। यह कल्पना-तत्त्व की ही विशेषता है कि वह अतीत को वर्तमान में और परोक्ष का प्रत्यक्ष में वर्णन कर देता है। कल्पना ही वह शक्ति है जो साहित्य को आस्वाद्य बनाती है। इसके सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् Dugald Stewart का कथन है कि असाधारण कल्पना ही काव्य-निर्माण की शक्ति उत्पन्न करती है—"An uncomman degree of imagination constitutes poetical genious."

यहाँ द्रष्टव्य है कि कल्पना का आश्रय औचित्य की सीमा में ही होना चाहिए, कहीं ऐसा न हो कि कल्पना के अतिरेक में काव्य या साहित्य का समस्त सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय।

(४) **शैली-तत्त्व**—भाव-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व—ये तीनों अनुभूति से सम्बद्ध हैं, पर इन तीनों के संयोग से निष्पन्न साहित्य भावनाओं के मूर्तरूप शैली-तत्त्व के माध्यम से ही मिलता है। भाव चाहे कितने ही विशद, उदात्त और संयोजित क्यों न हों, यदि अभिव्यक्ति में सबलता नहीं है तो वे व्यर्थ हैं। अतः शैली का साहित्य में प्रयोग परमतत्त्व है। साहित्यकार जिस भाषा, रूप और ढंग से अपने विचारों को प्रकट करता है, वही शैली कहलाती है। यह भावों तथा रस के संचार में भी सहायक होती है। विषय को सजाने-सँवारने, युक्ति-संगत बनाने और उसमें प्रभाव उत्पन्न करने में शैली तत्त्व ही प्रमुख है। इस प्रकार से यह काव्य या साहित्य का शरीर है। इसे हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—शब्द-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व।

(क) **शब्द-तत्त्व**—इसके अन्तर्गत शब्दगत चमत्कार, शब्दालंकार, वृतियाँ, शब्द-चयन से उत्पन्न प्रवाह, संगीतमयता आदि आते हैं। यह तत्त्व काव्य में विशेष प्रभावोत्पादक होता है। शब्द-गति दो प्रकार की होती है—साधारण और नर्तन। साधारण में गद्य और नर्तन में काव्य निष्पन्न होता है।

(ख) **अर्थ-तत्त्व**—साहित्य में प्रयुक्त शब्द जब तक सार्थक न हों तो उनका प्रयोग ही क्या, अतः शब्द-तत्त्व की सार्थकता अर्थ-तत्त्व से ही ज्ञात होती है। इसी के समावेश से शब्द-तत्त्व की उपादेयता है। अर्थ भी साहित्य का प्रमुख तत्त्व है। यह कल्पना का वाहन और सत्य का द्योतक है। इसी से साहित्य का सौन्दर्य समझ में आता है और उसकी कल्याणकारी भावना प्रस्तुत होती है।

निष्कर्ष—समग्रत: कहा जा सकता है कि साहित्य में इन चारों तत्त्वों का होना अनिवार्य है। इनमें से किसी भी तत्त्व का परिहार असम्भव है। वर्तमान काल में 'ज्ञान का साहित्य' और 'शक्ति का साहित्य' इसके दो भेद हैं—पर ये भेद स्थूल रूप से हैं। मूलत: सभी साहित्य, साहित्य है, क्योंकि प्रत्येक साहित्य किसी-न-किसी प्रकार हित साधना ही करता है।

प्रश्न ३०—"साहित्य आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं, आत्मा से पलायन है।" इलियट के इस मत की परीक्षा कीजिए।

अथवा

'साहित्य जीवन की आलोचना है' और 'साहित्य आत्माभिव्यक्ति है।' ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी तो नहीं है? सिद्ध कीजिए।

साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते समय विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उसका जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया है। कुछ विद्वान् साहित्य को जीवन की आलोचना मानते हैं और कुछ उसे आत्माभिव्यक्ति। इसके विपरीत एक स्वच्छन्दतावादी वर्ग भी है जो साहित्य को आत्मा से पलायन मानता है। प्रसाद की यह पंकित **'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे'** अथवा **'नाविक इस सूने तट पर किन लहरों में खे लाया? इस वीहड़ बेला में भी अबतक क्या कोई आया?'** पंक्तियाँ इसी पलायनवाद की ओर संकेत करती हैं।

साहित्य के प्रति व्यक्त इन विचारों पर पाश्चात्य और आधुनिक हिन्दी-विचारकों—दोनों ने ही विचार किया है। मैथ्यू आर्नाल्ड 'साहित्य को जीवन की आलोचना' मानते हैं और इलियट 'साहित्य को आत्मा से पलायन' मानते हैं। इसके विपरीत रिचर्ड्स, विसलर, पेटर आदि साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। हम तीनों विचारणाओं पर संक्षेप में विचार करेंगे।

साहित्य आत्माभिव्यक्ति है—साहित्य को आत्माभिव्यक्ति का साधन मानने वाले विचारक 'कला, के लिए' अथवा 'काव्य काव्य के लिए' के सिद्धान्त के पोषक हैं। इनके अनुसार साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इनके अनुसार साहित्य में मंजुलता, रमणीयता तथा कोमलता होती है। ब्रेडले ने तो साहित्य का मानदण्ड केवल सौन्दर्य को माना है और इसके लिए उसे जीवन से पूर्ण पृथक् रखा है। मिल्टन मरे के अनुसार शुद्ध कविता वही है जो कवि के अनुभव को ज्यों-का-त्यों पाठक के सम्मुख उपस्थित कर

दे । एबरक्राम्बी का भी यही कहना है कि शुद्ध कविता वह है जो शुद्ध अनुभव की अभिव्यक्ति करे, और शुद्ध अनुभव भी वही है जिसका हेतु स्वयं अनुभव हो, जिसका मूल्यांकन नैतिकता, सत्य और उपयोगिता के बाह्य मानदण्डों से न हो ।

ऑस्कर वाइल्ड तो स्पष्ट रूप से साहित्य को आत्माभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार कला का लक्ष्य अनुभव का फल न होकर स्वयं अनुभव ही होता है—

"Not the fruit of experience, but experience is the end.... Emotion for the sake of emotion is the aim of art."

इस प्रकार साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानने वाले विचारकों का तर्क है कि साहित्य में उसके सर्जक की अनुभूतियाँ ही प्रमुख होती हैं । साहित्यकार जो भी सोचता है, अनुभव करता है, उसी का साहित्य में वर्णन करता है । अतः साहित्य की सर्जना साहित्यकार अपने सुख के लिए एवं अभिव्यक्ति की चाह की पूर्णता के लिए करता है । यही कारण है कि साहित्य मानव के आनन्द की वृद्धि में सहायक होता है और इससे पाठकों की भावनाएँ तृप्त होती हैं ।

साहित्य जीवन की आलोचना है—इसके विपरीत कुछ विचारक साहित्य को समाज-सापेक्ष मानते हैं । इनका विचार है कि साहित्य जीवन की आलोचना करके मनुष्य को नैतिकता का मार्ग दिखाता है । जीवन में क्या हो रहा है, कैसा होना चाहिए और किस प्रकार होना चाहिए, साहित्य इसी का विवेचन करता है । एक ओर तो यथार्थवादी दृष्टि से साहित्य यह प्रस्तुत करता है कि वर्तमान जीवन कैसा है और दूसरी ओर वह आदर्शवादी दृष्टि से यह प्रस्तुत करता है कि जीवन में क्या होना चाहिए । पर इसका अतिवाद भी स्वयं साहित्य के लिए ही घातक रहता है । इसका अतिवादी परिणाम यह हुआ कि साहित्य का उद्देश्य केवल मानव को उपदेश देना तथा सुधार-मार्ग पर लगाना भर रह गया ।

वस्तुतः साहित्य जीवन की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है, यद्यपि वास्तविकता का दर्शन कराने के लिए वह जीवन की यथार्थता का वर्णन भी करता है और समाज तथा जीवन की गन्दगी भी उसमें आ सकती है, पर उसका उद्देश्य भी सुधारवादी ही होना चाहिए । जीवन से ही साहित्य को

पोषण मिलता है। लेकिन साहित्य तो केवल मार्ग दिखा सकता है, वह (साहित्यकार) जो कुछ देखता है, जो कुछ अनुभव करता है। उसे पूरी ईमानदारी के साथ और पूर्णता के साथ अभिव्यक्त कर देता है—यही उसका कर्तव्य है।

साहित्य समाज का दर्शन है। मनुष्य जो कुछ देखता है, सुनता है, प्रेरणा लेता है, वह सब समाज और जीवन से ही। अतः साहित्य और जीवन का गहरा सम्बन्ध है और इसीलिए मैथ्यू आर्नाल्ड ने लिखा है—"**साहित्य जीवन की आलोचना है।**" साहित्य में जीवन के कोमल और कठोर दोनों पक्ष देने चाहिए; अन्यथा साहित्य की प्राणवत्ता अथवा भव्यता नष्ट हो जायगी। यदि साहित्य को जीवन की आलोचना न मानकर महज आत्माभिव्यक्ति माना जायेगा तो उसमें काल्पनिकता के समावेश से, जीवन से कोई सम्बन्ध न रहने पर, साहित्य परी-जगत् की वस्तु लगने लगेगा और तब उसमें किसी प्रकार भी पाठकों के मन को पकड़ने अथवा आकर्षित करने की शक्ति नहीं रहेगी। क्योंकि मानव उसी घटना अथवा स्थिति से अधिक प्रभावित होता है जो जीवन से—मानव-जीवन से सम्बद्ध होती है। संसार में, क्या ब्रह्माण्ड में नित्य ऐसी घट नाएँ घटती रहती हैं, प्रकृति में उल्कापात होते हैं, एक ग्रह टूटता है, दूसरा बनता है, पर इसका मानव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत उसके जीवन से सम्बद्ध छोटी-से-छोटी घटना भी उसे प्रभावित करती है। अतः साहित्य और जीवन का अभिन्न सम्बन्ध है।

साहित्य और जीवन का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर अब विचारणीय प्रश्न यह है कि साहित्य जीवन का यथातथ्य निरूपण करता है या उसकी आलोचना करता है। इस पर विचार करते हुए बेन जॉनसन ने लिखा है कि साहित्य का प्रथम उद्देश्य जीवनयापन के आदर्श-नियमों का निरूपण करना है। वर्ड्सवर्थ भी यही मानते हैं, "जीवन की केवल यथार्थ भावनाओं का निरूपण ही साहित्य नहीं है, इसके साथ-साथ भावनाओं का परिष्कार तथा अक्षय प्रकृति का जीवन से सामंजस्य भी है।"

समग्रतः साहित्य में जीवन का यथातथ्य निरूपण और उसकी आलोचना दोनों ही होती हैं।

आत्मा से पलायन साहित्य—निराशावाद के उदय के साथ-साथ विचारकों के एक वर्ग में भी यह भावना घर कर गई कि काव्य या साहित्य आत्मा से

पलायन है। इलियट ने भी स्पष्ट माना है कि व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति कला नहीं है, वरन् उनसे पलायन कला है। कलाकार की प्रगति निरन्तर आत्म-त्याग तथा व्यक्तित्व का निरन्तर बहिष्कार है—"The progress an artist is a continual self-sacrifice, a continual extintion of personality."

यहाँ वैयक्तिक स्तर को त्यागने से उसका अभिप्राय सर्वसाधारण के भावों को धारण करने से है, पर बाद को कवियों ने इसका दूसरा अर्थ लिया और काव्य में निराशावाद का उदय हुआ; जिसमें कवि संसार से पलायन के स्वप्न देखने लगा। पर आत्माभिव्यक्ति से पलायन का अर्थ है—सर्वसाधारण की अनुभूतियों को आत्मसात् कर लेना। इस प्रकार कवि के अनुभव सबके अनुभव बन जाते हैं और साहित्य में सबकी भावनाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं।

समीक्षा—इन तीनों मतों के विवेचन से स्पष्ट है कि ये मत ऊपरी तौर पर जिस प्रकार एक-दूसरे के विरोधी लग रहे हैं, सूक्ष्म रूप में अध्ययन करने पर एक-दूसरे के पूरक ही ज्ञात होते हैं। वस्तुतः ये तीनों सिद्धान्त अतिवादी हो जाते हैं, यही त्रुटि है; अन्यथा ये साहित्य के स्वरूप की व्याख्या ही करते हैं। साहित्य आत्माभिव्यक्ति भी है और जीवन की आलोचना भी। कारण, न तो निरी आत्माभिव्यक्ति ही साहित्य में आ सकती है और न निरी आलोचना ही। व्यक्ति या साहित्यकार जो कुछ भी सोचता है या अनुभव करता है, वह इसी संसार और जीवन के आधार पर ही तो करता है। अतः उसकी प्रत्येक अनुभूति जीवन से ही सम्बद्ध होगी, अतः आत्माभिव्यक्ति में भी उसके जीवन-अनुभवों का स्वर ही ध्वनित रहेगा।

इसी प्रकार यदि साहित्यकार 'साहित्य को जीवन की आलोचना' मानता है तो वह जो आलोचना करेगा, पहले अपने मन और बुद्धि में उसे ग्राह्य भी तो बनायेगा। अर्थात् जीवन के अनुभूत सत्यों की ही तो वह आलोचना करेगा। इस प्रकार उसकी इस आलोचना में भी अभिव्यक्ति की प्रधानता रहेगी, भले ही उस आत्माभिव्यक्ति का रूप परिवर्तित हो जाये।

स्पष्ट है कि साहित्य केवल कल्पना की वस्तु नहीं है, उसे यथार्थ और सत्य का आश्रय लेकर अपनी अनुभूति को व्यक्त करना होता है। इसीलिए मैथ्यू आर्नाल्ड का कहना है—

"Poetry is at bonttom a criticism of Life."

निराशावादी (आत्मा से पलायन) दृष्टिकोण जीवन के एकांगीरूप को ही प्रस्तुत करता है। अतः साहित्य में इन दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति होती है और दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। परन्तु यह अवश्य है कि दोनों को अपनी-अपनी सीमाओं में रहना चाहिए; अन्यथा वे अपना महत्त्व खो बैठते हैं। जहाँ सीमातिक्रमण करके अतिवाद आता है, वहीं अपवादों का जन्म होता है। इसीलिए मैथ्यू ऑर्नल्ड के शब्दों में कहा जा सकता है, "काव्य (साहित्य) अन्ततोगत्वा जीवन की सम्यक् आलोचना है और कवि की महत्ता उसकी सौन्दर्य-साधना में निहित है और यह सौन्दर्य-साधना इस प्रश्न से सम्बन्धित है कि जीवित कैसे रहें।"

यही साहित्य की सम्यक् विवेचना है।

प्रश्न ३१—क्या साहित्य जीवन की अनुकृति है या अभिव्यक्ति ? अरस्तू और इलियट के काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर इसका परीक्षण कीजिए।

साहित्य समाज-सापेक्ष होता है और समाज मानव-जीवन और मानव-कार्यों का संगठित समूह है। अतः साहित्य मानव-जीवन का मूर्त प्रतिबिम्ब होता है। पर यहाँ प्रश्न यह है कि साहित्य जीवन की अनुकृति है अथवा उसकी अभिव्यक्ति। अनुकृति अथवा अनुकरण में तो किसी वस्तु या पदार्थ की नकल होती है अतः उसमें कुछ कृत्रिमता का आना स्वाभाविक है, किन्तु अभिव्यक्ति में वस्तु का हू-ब-हु चित्रण होता है। कुछ विचारक साहित्य को जीवन का अनुकरण मानते हैं और कुछ उसे जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। अतः इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व दोनों मतों का विवेचन आवश्यक है। यहाँ हम संक्षेप में पहले दोनों मतों का उल्लेख करेंगे।

साहित्य : जीवन की अनुकृति अथवा अनुकरण—साहित्य को जीवन का अनुकरण मानने वाले विचारकों में प्लेटो, अरस्तू और ड्राइडन आदि का नाम मुख्य है। अरस्तू ने साहित्य को प्रकृति की अनुकृति माना है। प्लेटो अनुकरण के द्वारा वास्तविक वस्तु (Some thing that is) तथा जो वस्तु उसकी प्रतिकृति है (Some thing that is like it) के बीच वाले सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं। प्लेटो के अनुसार ईश्वरजनित सत्य ही वास्तविक है और उसका अनुकरण संसार है तथा संसार का अनुकरण साहित्य है। अतः साहित्य

सत्य से परे होता है। उनके अनुसार अनुकरण में अनेक खतरे हैं—इससे अज्ञान, भ्रान्ति तथा असावधानी को पनपने में सहायता मिलती है।

अरस्तू साहित्य को प्रकृति की अनुकृति (Imitation) मानते हैं। वह इसका अर्थ पूरी नकल नहीं मानते, अपितु वह शुभ और सुन्दर से समन्वित होती है। उनका स्पष्ट कथन है कि अनुकृति की प्रक्रिया में प्रकृति के अनेक दोष और अभाव कला द्वारा पूरे कर दिये जाते हैं—"Generally, art partly completes what nature cannot bring to a finish and partly imitates her."

अरस्तू के अनुसार अनुकरण का अर्थ कोरी कल्पना न होकर विचारों के अनुरूप सृजन है। प्रत्येक वस्तु का आदर्शात्मक रूप है जो पूरा-पूरा प्रकट नहीं होता। साहित्यकार इसी का अनुकरण करने की चेष्टा करता है। अनुकरण के विषय का बाह्यरूप ही नहीं, वरन् आन्तरिक रूप भी है। काव्य में नाम, आकार आदि का ही नहीं—विचार, अनुभूति, कल्पना आदि का भी अनुकरण होता है और इन दोनों में भी आन्तरिक अनुकरण मुख्य होता है।

साहित्य में प्राणी के कार्य-अनुकरण की वस्तु है। यहाँ प्राणी के कार्य से अर्थ मानव के कार्य से नहीं, वरन् उसके भाव, विचार आदि से भी है, क्योंकि विचार और चरित्र ही मानव-कार्य को जन्म देते हैं। इस प्रकार अरस्तू का अनुकरण से तात्पर्य यथार्थ प्रत्यांकन से नहीं, भावनापूर्ण अनुकरण से है। बूचर ने कहा है—"अरस्तू के अनुकरण शब्द का अर्थ है, सादृश्य-विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन—सांकेतिक उल्लेखन नहीं। कला या कविता को मानव-जीवन के सर्वव्यापक तत्त्व की अभिव्यक्ति मानता हुआ वह अनुकरण को रचनात्मक प्रक्रिया (Creative action) मानते हैं।"

होरेस भी साहित्य को जीवन का अनुकरण मानते हैं; क्योंकि उसने कविता की तुलना चित्रकला के साथ की है। नाटक को तो वह स्पष्टतः ही जीवन का अनुकरण मानते हैं।

साहित्य : जीवन की अभिव्यक्ति—टी० एस० इलियट ने साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति माना है। उनका विचार है कि साहित्य की अभिव्यक्ति मनोभावों की अभिव्यक्ति है। कलाकार अपने व्यक्तित्व का बहिष्कार करके जीवन का साहित्य में यथातथ्य निरूपण करता है। इलियट के अनुसार, "The

progress of an artist is a continual, self sacrifice, a continual extinction of personality." इस अभिव्यक्ति को उसने निर्वैयक्तिक माना है। उनका मत है कि कवि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ होता है। वह अपने भावों को अलग कर साहित्य की सर्जना करता है। साहित्य में व्यक्तिगत भावों की ही अभिव्यक्ति नहीं होती, वरन् उसमें समग्र जीवन की अभिव्यक्ति होती है। साहित्यकार साहित्य में यद्यपि जीवन की अभिव्यक्ति करता है; फिर भी यह अभिव्यक्ति अनुभूति होती है। वह अपने अनुभवों की ही अभिव्यक्ति करता है, लेकिन इन अनुभवों का व्यक्तिगत स्वर समाप्त हो जाता है और वह सर्वसाधारण का भावन करने लगते हैं। साहित्यकार सभी की अनुभूतियों को आत्मसात कर लेता है और फिर उन्हें साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। इसलिए उसने लिखा है, 'मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है, किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं प्रभावित होता है।" इस प्रकार उनके अनुसार साहित्य अमूर्त भावनाओं का मूर्तरूप है। यथा—

"The only ways of expressing emotion in the form of Art is by finding an objective correlative, in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion, so that when the external facts........are given the emotion is immediately evoked."

इस प्रकार साहित्यकार अपनी अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप में प्रकट करने के लिए अपनी संवेदनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए वस्तु-मूलक चिह्नों से काम लेता है।

साहित्य : जीवन की अनुकृति या अभिव्यक्ति—इन दोनों विचारों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुकृति में व्यक्तिगत भावनाओं का समावेश हो जाता है और अभिव्यक्ति में यथार्थ-चित्रण ही होता है—ज्यों-का-त्यों वर्णन होता है। हम वास्तविक जीवन में जो कुछ देखते हैं—अच्छा या बुरा—उसका वैसा ही वर्णन कर देना, अपनी कल्पना तथा व्यक्तित्व के योग के बिना, अभिव्यक्ति कहलाता है।

अनुकरणवादी आलोचक साहित्य को जीवन की अभिव्यक्त नहीं मानते; क्योंकि उनके अनुसार इस प्रकार वास्तविक जीवन की पूर्णताएँ साहित्य में भी झलकती रहेंगी, जबकि साहित्यकार अपनी कल्पना के माध्यम से पूर्णता प्रदान करता है। एवरक्रौम्बी ने स्पष्ट कहा है कि अरस्तू का तर्क था, "यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती तो वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती थी जो प्रकृति देती है; पर तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं, क्योंकि वह हमें वह प्रदान करती है जो प्रकृति नहीं दे सकती।"

वस्तुतः साहित्य अपूर्णता की पूर्ति है। वास्तविक जीवन में कोई घटना, कोई दृश्य मन को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता, लेकिन साहित्य में वही मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, क्योंकि कलाकार अपनी कल्पना से उसे नूतनता तथा पूर्णता प्रदान करता है। अरस्तू के अनुसार जीवन का साहित्य में अनुकरण भावनामय होता है। अतः अरस्तू के अनुकरण में भावना और कल्पना का भी समावेश है, जबकि इलियट साहित्य को पूर्णतया निर्वैय-क्तिक मानता है।

निष्कर्ष—यदि वास्तव में देखा जाये तो ज्ञात होता है कि साहित्य न तो पूरी तरह जीवन का अनुकरण है और न पूरी तरह जीवन की अभिव्यक्ति ही। यदि उसे अनुकरण मानते हैं तो वह सत्य से दूर चला जायेगा और यदि अभिव्यक्ति मानते हैं तो वह कटु यथार्थ हो जाने से आकर्षक नहीं रहेगा। वस्तुतः साहित्य इन दोनों के मध्य की वस्तु है। यही कारण है कि साहित्य में कल्पना और नवोन्मेष (Invention) को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। कवि अब इन्द्रियगम्य संसार के वर्णन को ही यथार्थवाद मानता है। वह अब ऐसे उपकरणों को साहित्य में ला रहा है जो अभी तक नहीं आये।

समग्रतः कहा जा सकता है कि साहित्य अपनी भावभूमि वास्तविक जीवन से ग्रहण करता है और उसकी अभिव्यक्ति कल्पना के माध्यम से करता है और यह कल्पना ही अनुकरण व अभिव्यक्ति को एक तार में पिरोती है।

प्रश्न ३२—शैली किसे कहते हैं? शैली के भदों का निरूपण करते हुए साहित्य में शैली के महत्त्व का प्रतिपादन कीजिए।

साहित्य के दोनों पक्षों—भावपक्ष और कलापक्ष का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। कलापक्ष के माध्यम से ही भावों की अभिव्यक्ति होती है और

कलापक्ष अभिव्यक्ति के माध्यम से ही मुखर होता है। भावों की यह अभिव्यक्ति ही शैली कहलाती है, अर्थात् जिस प्रकार से भावों को अभिव्यक्त किया जाता है, भाषा का वह माध्यम शैली कहलाता है।

शैली की परिभाषा—पाश्चात्य आलोचकों एवं काव्यशास्त्रियों ने शैली तत्त्व का विवेचन कर उसकी विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें पोप, कारलायल, न्यूमैन आदि प्रमुख हैं। पोप के अनुसार शैली विचारों का परिधान है।" (Style is the dress of thoughts.) लेकिन कारलायल का कहना है कि शैली लेखक का परिधान न होकर उसकी त्वचा है।" (Style is not the coat of writer. but skin.) न्यूमैन के अनुसार, "शैली बोलने या लिखने का अनवरत पदसमुच्चय या रीति है।" (Style is a constant and continual phrase or tenour of speaking and writing.) एक अन्य आलोचक के अनुसार, 'शैली व्यक्तित्व का सूचक है।" (Style is an index of Personality.) आई० ए० रिचर्ड्स का मत है, "शैली स्वयं कवि अथवा लेखक है (Style is the man himself.)।"

इस प्रकार विद्वानों ने शैली-तत्त्व को विविध परिभाषाओं में बाँधने का प्रयास किया है। पोप की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि पोप विचारों को शरीर और शैली को उसे ढँकने का परिधान मानते हैं। किन्तु यह परिभाषा भी अपूर्ण है; क्योंकि विचार और शैली का सम्बन्ध वह नहीं है, जो शरीर और परिधान का होता है। शरीर और परिधान को अलग-अलग किया जा सकता है, पर विचार और शैली को नहीं। भारतीय साहित्य में शैली के लिए 'रीति' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस दृष्टि से यह शब्द अत्यन्त वैज्ञानिक है। मनुष्य जो सोचता है, एक रीति से सोचता है, लेखक उन्हें अपनी लेखनी से व्यक्त करता है। विचारों और शैली का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति पोप की परिभाषा में नहीं हो पाई है।

कारलायल ने शैली को विचारों का 'परिधान' न कहकर 'त्वचा' कहा है, क्योंकि शरीर और त्वचा का अभेद्य सम्बन्ध है। न्यूमैन शैली को बोलने या लिखने की रीति अथवा विधि मानते हैं। परन्तु वह बोलने अथवा लिखिने की रीतिमात्र ही नहीं है, अपितु उसके पीछे लेखक का व्यक्तित्व भी अन्तर्निहित होता है। अन्तिम दोनों परिभाषाएँ इसी बात की ओर संकेत करती हैं। अत: उपर्युक्त सभी परिभाषाओं को ध्यान में रखकर शैली की सर्वांगीण परिभाषा

इस प्रकार की गयी है—"शैली मानवोद्‌गारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है, जिसके साथ उसका व्यक्तित्व गुम्फित होता है।

शैली तथा भाषा-सौष्ठव के सम्बन्ध में डा० जानसन के विचार नव्य-शास्त्रवादी सिद्धान्तों के अधिक निकट हैं। वह भाषा-शैली को अधिकाधिक गरिमापूर्ण, अलंकृत तथा सौष्ठवपूर्ण बनाने के पक्ष में हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"The author must recommend them by the super addition of elegance and imagery, to display the colors of varied diction and pour forth the music of modulated periods."

सिद्धान्ततः वह शब्दों को उसी प्रकार निखारने के पक्ष में हैं, जिस प्रकार हीरा तराशा जाता है। डा० जॉनसन अलंकृत शैली को काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। परन्तु अपनी व्यावहारिक आलोचना में उन्होंने गरिमापूर्ण शैली का दुराग्रहपूर्वक समर्थन नहीं किया है, वरन् शेक्सपीयर के कामदी वार्त्तालापों की प्रशंसा की है और वागाडम्बर, अनावश्यक तथा अनुपातहीन अलंकरण की निन्दा की है। डा० जॉनसन विधा में अनुरूप भाषा-शैली के पक्ष में हैं। त्रासदी के लिए वह भव्य-शैली चाहते हैं और साधारण विषयों के लिए अलंकृत-शैली का विरोध करते हैं। उदाहरणार्थ, ड्राइडन के 'Annas Mira Bilis' में वह नाविक विद्या से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की निन्दा करते हैं, क्योंकि उनका मत है कि काव्य की भाषा सार्वभौम होनी चाहिए—

"Poetry is speak an universal language."

उचित अवसर पर विषय तथा सन्दर्भ के अनुरूप कठोर शब्दों के प्रयोग का वह समर्थन करते हैं, निरर्थक श्लेष, अनेकार्थता तथा वाक्‌छल का विरोध करते है।

वर्ड्‌सवर्थ ने शैलीगत विशेषताओं—विलक्षणता (Quaintness), दूरारूढ़ कल्पना (Conceits), अतिशयोक्ति (Hyperbole), शाब्दिक चमत्कार तथा अस्पष्टता की भी आलोचना की। वर्ड्‌सवर्थ ने काव्य-शैली के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ उठाईं, उनकी भाषा अत्यन्त शिथिल है, जिसके फलस्वरूप कॉलरिज आदि विद्वानों ने उनकी कटु आलोचना की। उसकी वाक्य-रचना कहीं-कहीं अत्यन्त उलझी हुई है। उन्होंने कभी-कभी पुस्तकीय बह्वक्षर (Polysyllabic)

शब्दों का प्रयोग किया है, भवाभास (Pathetic Fallacy) का भी प्रयोग उनके काव्य में बहुलता से मिलता है।

मैथ्यू आर्नाल्ड ने गद्य और पद्य की शैली को कभी एक नहीं माना, वरन् वह गद्य और पद्य की शैलियों में पर्याप्त भेद मानते हैं और उनकी शक्तियों को भी एक-दूसरे से भिन्न मानते हैं। उन्होंने कहा है, "Prose can not have the power of verse." अर्थात् गद्य में पद्य की शक्ति नहीं आ सकती। उनका तर्क है कि कविता का निर्माण आत्मा में होता है, जबकि गद्य मस्तिष्क से उद्भूत होता है। अतः दोनों की शैली और भाषा में अन्तर होना स्वाभाविक ही है। वह उक्ति में कसावट, शुद्धता, स्पष्टता और संगीतात्मकता को काव्य-शैली के अनिवार्य गुण मानते हैं और इन्हीं गुणों को ग्रे (Grey) की काव्य-शैली में पाकर उनकी प्रशंसा करते हैं। वह अर्थ-गाम्भीर्य को बड़ा महत्त्व देते हैं और कवियों को परामर्श देते हैं कि वे कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ देने का आदर्श अपनायें। गद्य शैली के विषय में उनका मत है कि उसमें नियमितता (Regularity), एकरूपता (Uniformity), संक्षिप्तता (Precision) और सन्तुलन (Balance) होना चाहिए।

शैली के भेद—शैली के इस विवेचन से स्पष्ट है कि शैली मानवोद्गारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। अभिव्यक्ति-भेद से शैली के भी अनेक भेद होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

व्यक्तित्व के आधार पर—व्यक्तित्व के आधार पर यदि शैली के भेद किए जाएँ तो उसके असंख्य भेद किए जा सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक लेखक अथवा साहित्यकार का अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। अतः व्यक्तित्व के आधार पर शैली के भेद नहीं किए जा सकते।

विषय के आधार पर—विषय के आधार पर किए गए शैली के भेद अधिक संगत माने गये हैं। इस आधार पर चित्रात्मक, काव्यात्मक, मनोवैज्ञानिक, सानुप्रासिक, रसात्मक आदि अनेक भेद किए गए हैं, किन्तु विद्वानों ने केवल दो भेदों को ही मान्यता प्रदान की है जो विषय की भावात्मकता और विचारात्मकता पर आधारित हैं। अतः विषय के आधार पर शैली के दो भेद हैं—रागात्मक शैली और प्रज्ञात्मक शैली। रागात्मक शैली में हृदय-पक्ष की प्रबलता रहती है और भावना का प्राधान्य रहता है। यह शैली विशेष रूप से कविता में प्रयुक्त होती है और साहित्य को सरस बनाने के उद्देश्य से साहित्य

में भी विशेष रूप से प्रयुक्त होती है। प्रज्ञात्मक शैली में मस्तिष्क पक्ष की प्रबलता तथा तर्क की प्रधानता रहती है। यह शैली विशेष रूप से निबंध और समीक्षा में प्रयुक्त होती है।

अलंकार और वाक्य-विन्यास के आधार पर—अलंकार और वाक्य-विन्यास के आधार पर भी शैली के भेद किए जा सकते हैं, किन्तु ये दोनों ही आधार अधिक समीचीन नहीं हैं। अलंकारों के आधार पर अलंकार-युक्त और शैली तथा वाक्य-विन्यास के आधार पर प्रवाहपूर्ण शैली तथा प्रयासपूर्ण शैली —ये दो भेद किए जा सकते हैं।

शैली का महत्त्व—शैली की महत्ता स्वयं-सिद्ध है कि वह मानव-भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन है। यदि किसी व्यक्ति के पास भावों की मार्मिकता भी है और विचारों की गहनता भी है, किन्तु उसके पास उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम—शैली का अभाव है, तो वह गूँगे मनुष्य की भाँति है और यदि शैली पर उसका पूर्णाधिकार है तो वह उस वाक्-पटु व्यक्ति के समान है जो निरर्थक-सी बात को भी अत्यन्त आकर्षक ढंग से कह सकता है। अतः स्पष्ट है कि वही साहित्यकार सफल होता है जिसकी शैली, अभिव्यक्ति की शक्ति सक्षम और सबल होती है। शैली के अभाव में भाव चाहे कितने ही उदात्त क्यों न हों, वे प्रभावोत्पादक कदापि नहीं हो सकते।

ग्रीक आचार्य अरस्तू यद्यपि शैली को अत्यधिक महत्त्व नहीं देते और उसे कल्पनाप्रसूत उपकरण मानते हुए उसका उद्देश्य श्रोताओं को मुग्ध करना मानते हैं, तथापि उसके महत्त्व को भी पूर्णतः अस्वीकार न कर सके। उनके शब्दों में, "प्रतिपाद्य विषय चाहे कुछ भी हो, भाषा-साधनों का भी यथार्थ महत्त्व होता है, चाहे थोड़ा ही हो। बात कहने के ढंग का विषय की बोधगम्यता पर अवश्य प्रभाव पड़ता है।"

लोंजाइनस ने शैली को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उदात्त शैली के तत्त्वों की विवेचना करते हुए वह कहते हैं, "किसी विषय के समस्त घटक—अङ्गों और अंगभूति-प्रसंगों की समष्टि ही विस्तारण है, जिससे विषय के विस्तार द्वारा युक्ति में बल आता है।"

यूनानी आचार्य होरेस के अनुसार, "कवि का शब्दचयन सुन्दर और सुष्ठु होना चाहिए और उसे किसी शब्द का परित्याग तो करना चाहिए।" अर्थात्

शैली का प्रवाहपूर्ण अनिवार्यंयतः होना चाहिए, क्योंकि दुर्बोध शैली भावों की साधक न होकर बाधक सिद्ध होती है। अतः कवि या लेखक को चाहिए कि जहाँ तक संभव हो सके, वह अपने वाक्य-विन्यास को सरल और प्रवाहपूर्ण रखे। इन सब गुण और दोषों के अतिरिक्त एक अन्य भयंकर घातक शक्ति भी शैली के अन्तर्गत कृत्रिमता के रूप में होती है। साहित्यकार को सदा इससे जागरूक रहना चाहिए एवं उससे बचने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। वाल्टरपेट ने इसी दोष की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "शैली व्यक्ति है, किन्तु वह व्यक्ति नहीं, जिसके मन की तरंग मनमानी और अतार्किक, असहज, अकृत्रिम है, वरन् वह व्यक्ति है जिसकी अनुभूति उस वस्तु के सम्बन्ध में पूर्णतः ईमानदारी की है, जो उसके लिए सबसे बड़ा यथार्थ है।"

वस्तुतः सभी साहित्यिक कृतियों के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण शैली का अत्यधिक महत्त्व है, रचना के लिए भाव कितने ही उदात्त, विशद् गम्भीर तथा मौलिक क्यों न हो, यदि उसको प्रस्तुत करने का ढंग सुन्दर तथा प्रभावकारी नहीं है तो उनकी कोई उपादेयता नहीं है। वरन् कहा जा सकता है कि शैली से ही साहित्य में अनेक विधाओं का जन्म हुआ है। किसी भी भाव को अभिव्यक्त करने का ढंग ही किसी विशेष विधा को जन्म दे देता है। भाव एक होता है, उपन्यास, नाटक, कहानी एकांकी—सभी में, पर अभिव्यक्ति के भेद से इन विधाओं का रूप बनता है; अन्यथा अपने मूल रूप में विचार एक ही होता है। यदि किसी विचार को लय रूप में संगीत और छंद की सहायता से अभिव्यक्त किया जाय तो वह काव्य अथवा कविता का स्वरूप धारण कर लेता है, पर वही भाव विवरण-प्रधान गद्यात्मक शैली में निबन्ध बन जाता है और घटना के द्वारा प्रस्तुत होकर उपन्यास बन जाता है। इस प्रकार विधा-भेद शैली से ही ज्ञात होता है। अतः शैली का महत्त्व निर्विवाद है।

इसके अतिरिक्त सभी बाह्य-तत्त्वों को सुधारना, सँवारना और उन्हें एक विशिष्ट विधि प्रदान करना शैली का ही कार्य है। पग-पग पर पाठक की उत्सुकता बनी रहे और यह प्रयत्न करना कि उसे आह्लाद प्राप्त हो, यह भी बहुत सीमा तक शैली पर ही निर्भर करता है। शैली का, वैसे तो गुण प्रसाद है, पर साथ ही साथ ओज तथा माधुर्य का भी विषयानुकूल समावेश शैली ही करती है। समग्रतः शैली की विभिन्नता ही विधा के स्वरूप का निर्माण करती

है और इस प्रकार विभिन्न प्रकार का साहित्य प्रदान करने का कार्य शैली का ही है।

प्रश्न ३३—"काव्य-सत्य तथा काव्य-सौन्दर्य द्वारा निर्धारित उपबन्धों के अधीन जीवन की समीक्षा का नाम काव्य है।" मैथ्यू आर्नाल्ड के इस कथन के आधार पर काव्य-लक्षणों की समीक्षा कीजिए।

अथवा

"कविता प्रबल भावों का सहज उच्छलन है।" वर्ड्सवर्थ के इस कथन की काव्य-लक्षणों के संदर्भ में समीक्षा कीजिए।

'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना:' के अनुसार विद्वानों ने काव्य के जो लक्षण दिये हैं, उनमें भी पर्याप्त विविधता पायी जाती है, यह विविधता काव्य के स्पष्ट करने में दिखाई देती है, क्योंकि काव्य समाज-सापेक्ष होने के साथ-साथ वैयक्तिक अनुभूतियों का भी अभिव्यंजक होता है और इन दोनों की मान्यताएँ सदैव परिवर्तित होती रहती हैं, इसीलिए काव्य के लक्षण भी इनके साथ ही परिवर्तित होते रहते हैं। युगानुकूल परिस्थितियों के अनुसार विचारकों ने काव्य के विभिन्न लक्षण दिये हैं। इन लक्षणों में मूलतः हमें दो भेद दिखाई देते हैं—एक प्रकार के विद्वान् वे हैं जो काव्य का स्थूल और बाह्य रूप से निरूपण करते हैं और दूसरे प्रकार के विद्वान् वे हैं जो काव्य का आन्तरिक अनुभूति के आधार पर निरूपण करते हैं। बाह्यपक्ष पर बल देने वाले विचारकों के काव्य-लक्षणों को हम वस्तुपरक कह सकते हैं और जो आत्म-तत्त्व पर बल देते हैं उनके काव्य-लक्षणों को अनुभूति-परक कह सकते हैं। प्रथम वर्ग में प्लेटो, अरस्तू, ड्राइडन, जॉनसन, कारलायल, मैथ्यू आर्नाल्ड आदि विद्वान् आते हैं, तो दूसरे वर्ग में रोमाण्टिक विचारधारा तथा मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धति के समर्थक विद्वान् आते हैं। इसमें वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शैली, ले हण्ट, एलिन पो आदि मुख्य हैं।

वैसे सभी विद्वान् इस पर सहमत हैं कि काव्य के लक्षण में अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष न होना चाहिए; स्पष्टता उसका मुख्य गुण है और संक्षेप होने से भाषा में कसावट आ जाती है। अतः इन्हीं आधारों पर हम पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के काव्य-लक्षणों का पर्यवेक्षण करेंगे।

वस्तुपरक काव्य-लक्षण—प्राचीन ग्रीक में जो विचारक हुए, उनकी काव्य-दृष्टि वस्तुपरक ही थी। यही कारण है कि काव्यशास्त्र के आद्याचार्य प्लेटो

ने काव्य को सौन्दर्य-परक दृष्टिकोण से न देखकर समाज-सुधारक की दृष्टि से देखा है। यही कारण है कि वह काव्य को 'अनुकृति की अनुकृति' कहते हैं। वह काव्य को 'प्रकृति और मानव का अनुकरण' मानते हैं और प्रकृति सत्य का अनुकरण है—अतः काव्य सत्य से बहुत दूर हो जाता है।

प्लेटो की यह दृष्टि एकांगी तथा आदर्शवादी है। उन्होंने काव्य के लक्षण काव्यशास्त्र की दृष्टि से नहीं दिये, अपितु आदर्श राज्य की दृष्टि से दिये हैं।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से सर्वप्रथम अरस्तू ने काव्य के लक्षण दिये। यद्यपि इनकी दृष्टि भी वस्तुपरक है; फिर भी वह प्लेटो की अपेक्षा व्यापक है। उनके अनुसार काव्य-कला भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। यहाँ अरस्तू का प्रकृति से अभिप्राय जड़-जगत् (नदी, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि) तथा अन्तर्जगत् (मानवीय भावनाएँ) दोनों से हैं। इसी प्रकार वह अनुकरण का अर्थ यथावत् नकल न लेकर अनुकरण को भावनामय मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि कवि अपनी संवेदना से अनुभूति और कल्पना आदि का प्रयोग करके 'अपूर्ण को पूर्ण' बनाता है। इसलिए अरस्तू की काव्य-परिभाषा स्पष्ट शब्दों में 'जीवन और जगत् का कल्पनात्मक पुनःसृजन' है।

पर अरस्तू की मूल परिभाषा के आधार पर इन दोनों का अर्थ स्पष्ट नहीं है। उनका काव्य-लक्षण अपने आप में अस्पष्ट और अर्द्ध-व्यक्त है। इसमें अव्याप्ति दोष भी है। अनुकरण का अर्थ सृजन से निकलता ही नहीं है, फिर जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कहा है, "अनुकरण और प्रकृति—ये दोनों ही वस्तु-तत्त्व पर जोर देते हैं, अतः इसमें भावपक्ष या अनुभूति के प्रति उदासीनता है।"

डा० जॉनसन की काव्य-परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है। कविता का जो प्राणतत्त्व भाव है, उसकी ओर इसमें कोई ध्यान ही नहीं दिया गया है। उनके अनुसार, "कविता वह कला है, जो कल्पना की सहायता से विवेक द्वारा सत्य और आनन्द का संयोजन करती है।" यथा—

Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason."

इस लक्षण में डा० जॉनसन ने काव्य के सभी तत्त्वों—सत्य, आनन्द, विवेक और कल्पना—को एक साथ संयोजित कर दिया है। यह काव्य में

धर्म (प्रयोजन) को स्पष्ट करता है, न कि काव्य के स्वरूप को। दूसरे, इसमें काव्य के कलात्मक पक्ष पर ही विचार किया गया है, अतः अव्याप्ति दोष भी है।

काव्य के लक्षण देते समय वस्तुपरक दृष्टि से मैथ्यू आर्नाल्ड के लक्षण सर्वप्रसिद्ध हैं। उनके अनुसार काव्य के लक्षण ये हैं—

"Poetry is the criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty."

अर्थात् "काव्य-सत्य तथा काव्य-सौन्दर्य द्वारा निर्धारित उपबन्धों के अधीन जीवन की समीक्षा का नाम काव्य है।"

काव्य के ये लक्षण जीवन तथा विचार—इन दो तत्त्वों पर विशेष बल देते हैं। साथ ही इसमें काव्य के प्रति कल्याणवादी दृष्टिकोण से विचार किया गया है। पर इनमें एक न्यूनता भी है, और वह यह है कि इसमें रागात्मक तत्त्व की ओर कोई संकेत नहीं किया गया है। यद्यपि इसमें सौन्दर्यवादी दृष्टि है; फिर भी शास्त्रीय दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं फिर इसमें अतिव्याप्ति तथा अस्पष्टता आदि दोष भी हैं—यह लक्षण बहुत उलझे हुए हैं। यद्यपि मैथ्यू आर्नाल्ड की काव्य-परिभाषा अपने से पहले विचारकों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है; फिर भी इसमें अनेक दोष हैं—

प्रथम, इसमें काव्य को साध्य की अपेक्षा साधन बना दिया गया है, जबकि काव्य के साधन तो अन्य हैं, वह स्वयं ही साध्य है।

द्वितीय, इसमें 'समीक्षा' शब्द का प्रयोग उलझावपूर्ण है। इससे अतिव्याप्ति दोष आ जाता है, क्योंकि जीवन की समीक्षा तो दर्शन और शास्त्र में भी होती है, फिर दर्शन और काव्य में क्या अन्तर रहेगा, जबकि काव्य और दर्शन दो भिन्न विषय हैं। यदि समीक्षा का अर्थ कल्पनात्मक पुनःसृजन लिया जाये, तो कुछ संगति बैठ भी सकती है, पर व्यवहारतः समीक्षा और सृजन में पर्याप्त अन्तर है, इसमें भ्रान्ति ही उत्पन्न होती है।

तृतीय और अन्त में, काव्य का लक्षण ऐसा होना चाहिए जिसकी व्याख्या की कोई आवश्यकता न हो, पर इसमें काव्य-सत्य और काव्य-सौन्दर्य शब्द ऐसे हैं जो स्वयं में उलझे हुए हैं, उनकी व्याख्या अपेक्षित है। उन्होंने इन दोनों पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। इनका अर्थ है कल्पना-तत्त्व और राग-

तत्त्व, पर ये स्पष्ट नहीं हैं, इनकी व्याख्या तो काव्य से भी अधिक सूक्ष्म हो जायेगी।

इन सब कारणों से मैथ्यू आर्नाल्ड की परिभाषा अपूर्ण तथा उलझी हुई है।

अनुभूतिपरक दृष्टिकोण—स्वच्छन्दतावाद के उदय से विचारकों की दृष्टि को भी नूतन दिशा का आलोक ज्ञात हुआ, उन्होंने भी काव्य को सूक्ष्म दृष्टि से देखना आरम्भ किया। अतः काव्य की परिभाषा काव्य की निर्माण-प्रक्रिया और कवि के व्यक्तित्व के आधार पर होने लगी, जो अनुभूतिपरक कहलाती है।

इस प्रकार की दृष्टि से सर्वप्रथम वर्ड्सवर्थ ने काव्य के लक्षणों पर विचार किया। वर्ड्सवर्थ रोमाण्टिक युग के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके अनुसार 'कविता प्रबल भावों का सहज उच्छलन है'—

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility."

वर्ड्सवर्थ की यह परिभाषा अत्यन्त प्रभावशाली है। इसके द्वारा उन्होंने काव्य की अनुभूतिपरक व्याख्या की है। काव्य का मूलतत्त्व है भाव और कविता उन भावों का उच्छलन है; अतः यह काव्य के समग्र रूप को अभिव्यक्त कर देती है, पर इसके साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि इसमें अतिव्याप्ति दोष भी है। फिर यह भावों की समग्रता से व्याख्या नहीं करती। जब हम यह कहते हैं कि कविता भावों का उच्छलन है तो प्रश्न उठता है कि क्या सभी मनोवेग काव्य हो जायेंगे। मनोवेगों की अनुभूति और भाव बन जाने पर ही कवि के भावोद्रेक प्रकट करने पर काव्य की सर्जना होती है। मन में तो अनेक भावनाएँ उमड़ती-घुमड़ती हैं, पर जब तक वे कवि की अभिव्यक्ति-भावना से संयुक्त नहीं होतीं, तब तक वे काव्य कहाँ होती हैं? इसलिए बिना अभिव्यंजना के कोई भी भाव काव्य का स्वरूप नहीं धारण कर सकता। पर इस परिभाषा में अभिव्यंजना-तत्त्व की पूर्णरूपेण उपेक्षा की गयी है।

फिर प्रबल भावों का सहज उच्छलन भी कविता नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक मनोभाव तब तक कविता नहीं बनता, जब तक कल्पना के माध्यम से वह अभिव्यक्ति न पा जाये।

इस लक्षण में वर्ड्सवर्थ ने जो Recollected शब्द दिया है, उसका अर्थ भी पूर्ण स्पष्ट नहीं है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है, पुनर्संग्रह; पर यहाँ भावों के पुनर्संग्रह से कवि का क्या तात्पर्य है, यह समझ में नहीं आता। यदि

इसका तात्पर्य अनुभूत भावनाओं के स्मरण को पुनः शब्दार्थ के द्वारा संग्रह करना लिया जाये तो कुछ बात भी बनती है, पर यह तो केवल अनुमान का विषय है, परिभाषा में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

इस पर भी वर्ड्सवर्थ की इस परिभाषा की उपादेयता निर्विवाद है। इसमें कवियों की भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है और साथ ही इसके द्वारा काव्य के अनुभूति-पक्ष पर विचार किया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्येक विचार अथवा मनोवेग काव्य नहीं बनता, पर जब इन्हें अनुभूति मिलती है तो कवि की वाणी से निःसृत होकर काव्य बन जाते हैं।

अतः कहा जा सकता है कि काव्य से अन्तरंग और बहिरंग—दोनों पक्षों का होना आवश्यक है और इनके समन्वय से ही काव्य होता है।

प्रश्न ३४—काव्य किसे कहते हैं ? पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के मतानुसार काव्य के तत्त्वों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

समय तथा परिस्थिति के अनुसार मनुष्य की मान्यताएँ परिवर्तित होती रहती हैं, इसलिए काव्य का स्वरूप भी इन मान्यताओं के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि प्रत्येक आचार्य ने काव्य की परिभाषा देते हुए भी कोई सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत नहीं की। फिर भी भारतीय आचार्यों की तरह पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी काव्य की अपनी-अपनी रुचि के अनुसार परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं।

अरस्तू ने काव्य की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी है, अपितु काव्य-हेतु में ही इसका संकेत कर दिया है। इनके अनुसार काव्य वह रचना है, जिसमें अनुकरण, सामंजस्य, लय और छन्द के माध्यम से विशिष्ट प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति की गयी हो।

काव्य की इस परिभाषा पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होता है कि छन्द और नैतिकता को काव्य का चरम लक्ष्य मानने के कारण काव्य की परिभाषा भी नैतिकता से सम्बद्ध हो गयी, यद्यपि उसमें सौन्दर्य तथा आनन्दवादी अभि-व्यक्ति का भी समावेश किया गया।

डा० जॉनसन के अनुसार, "काव्य वह छन्दोबद्ध रचना है, जो कल्पना तथा तर्क के सहयोग से आनन्द और सत्य का समन्वय करती है।"

"Poetry in metrical composition, it is the art of uniting pleasure with truth calling imagination to the help of reason."

रॅस्किन ने काव्य को कल्पना मानकर वास्तविकता के आधार पर काव्य की परिभाषा दी है। उनका कहना है, "श्रेष्ठ भावों के लिए श्रेष्ठ आधारों की कल्पना के द्वारा व्यंजना करना काव्य है।"

"Poetry is the suggestion by the imagination of noble grounds for the noble emotions."

सौन्दर्यवादी कवि एडगर एलन पो ने कविता की परिभाषा देते हुए कहा है, "काव्य सौन्दर्य की लयपूर्ण सृष्टि है।"

"Poetry is the rhythmic creation of beauty."

एडगर एलन पो की इस परिभाषा में लय का अर्थ स्पष्ट नहीं है। लय शब्द बहुत व्यापक है। प्रत्येक कला में लय होती है, संगीत और नृत्य भी सौन्दर्य की लयपूर्ण सृष्टि है। भाषा शब्द का प्रयोग न होने के कारण यह अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित हो उठा है। शैली ने सरस काव्य में करुणा को आवश्यक माना है—"Our sweetest songs are those that tell of the saddest tale." उसने काव्य को विषाद के क्षणों की ही अभिव्यक्ति कहा है—"They learn in suffering what they teach in song."

ड्राइडन ने कविता में संगीत को महत्त्व दिया है। उनके अनुसार कविता व्यक्त संगीत है, "Poetry is articulate music."

कारलायल ने काव्य को संगीतमय विचार कहा है, "Poetry we will coll musical thought."

मैथ्यू ऑर्नाल्ड काव्य को जीवन की आलोचना मानते हैं—

Poetry is a criticism of life."

इस प्रकार काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं, परन्तु सब एकांगी हैं। यदि काव्य के सामान्य विशेषण की खोज की जाय, तो हम काव्य उसे कहेंगे जिसमें भाषा लय तथा छन्दों से युक्त हो, जो सत्य हो, कल्याणकारी हो और सुन्दर होने के साथ-साथ पाठक या श्रोता को आनन्द प्रदान करे। साथ ही कल्पना के माध्यम से जीवन की ऐसी विस्तृत व्याख्या करे जो मानव को उदात्त भावों की ओर प्रेरित करे और यह अभिव्यक्ति तथा प्रेरणा उसके क्रियात्मक रूप द्वारा निष्पन्न हो।

काव्य के तत्त्व—जिस प्रकार इस संसार तथा भौतिक पदार्थों की सृष्टि पाँच-तत्त्वों से हुई है, उसी प्रकार कल्पना-प्रसूत यह काव्य भी विभिन्न तत्त्वों

के योग से ही निष्पन्न होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के इन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की है। अरस्तू, डा० जानसन, वर्ड्सवर्थ, मैथ्यू आर्नल्ड, मेकॉले आदि ने जो इन तत्त्वों का परिगणन किया है, उसके अनुसार काव्य के चार तत्त्व ठहरते हैं, जो ये हैं—भाव-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व और शैली-तत्त्व।

अब हम संक्षेप में इन चारों तत्त्वों पर प्रकाश डालेंगे।

भाव-तत्त्व—भाव-तत्त्व काव्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक तत्त्व है। यह काव्य में सबसे अधिक प्रभाव उत्पन्न करने वाला होता है और इसके बिना काव्य निर्जीव-सा हो जाता है। जो मनोवेग अभिव्यक्ति न पाने के कारण हमारे अन्तश्चेतन में जाकर स्थित हो जाते हैं और पुनः स्मृति द्वारा संस्कृत एवं परिष्कृत रूप में उद्भूत होते हैं, वही भाव हैं। भाव संक्रामक और प्रेषणीय दो प्रकार के होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति दूसरों के हृदय में भी उसी प्रकार की अनुभूति जाग्रत करती है जो उनके उद्गम स्थान में होती है। अतः **भाव-तत्त्व कविता का प्राण है।** भाव प्रबलता के अनुसार काव्य में कल्पना, छन्द, शब्द-तत्त्व आदि का प्रयोग होता है। भाव-प्रधान कविता ही श्रेष्ठ कविता होती है। भाव-तत्त्व के अभाव में कविता का रूप आकर्षक न लगकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे शब्दों का खिलवाड़ किया गया है। इसलिए कविता में भाव-तत्त्व की प्रधानता रहती है।

कल्पना-तत्त्व—कल्पना काव्य का दूसरा तत्त्व है। यह भी भावतत्त्व के समान काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कल्पना एक ऐसी शक्ति है जो निराकार को साकार करके उससे हमारा साक्षात्कार करा देती है। शेक्सपीयर के शब्दों में, "कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं का मूर्त रूप प्रदान करती है।" विविध दृश्यों को सामने प्रस्तुत करना कल्पना का ही कार्य है। निराकार वस्तुओं और भावों को आकार देना, तथ्य को चित्रमय बनाना, चरित्र या पात्र के व्यक्तित्व को साक्षात् करना कल्पना के द्वारा ही सम्भव होता है। कवि की चित्र-कल्पना उसके द्वारा हृदयंगम किये गए तथ्यों की सजीव अभिव्यक्ति-कल्पना के द्वारा ही होती है। अतीत को वर्तमान बनाना, सुदूरस्थ को प्रत्यक्ष और जीवन के अनुभव और ज्ञान को एक निश्चित रूप प्रदान करना कल्पना का प्रसार है। काव्य के अन्तर्गत सत्य का दृश्यों, पात्रों, घटनाओं, रूपों आदि के द्वारा हम साक्षात्कार करते हैं। अतः इस कार्य के

लिए कल्पना-तत्त्व का प्रधान महत्त्व है। "कल्पना के माध्यम से आए चित्र भाव को प्रेरित करते हैं तथा विचारों को भी उत्तेजित करने की शक्ति रखते हैं। सूक्ष्म विशेषताओं और गुणों को, चेष्टा, क्रियाकलाप और अभिव्यक्ति के प्रयोजन को तथा भाव की उलझन, तीव्रता और प्रभाव को कल्पना की सहायता के बिना पूर्णतया प्रकट नहीं किया जा सकता। वास्तव में कल्पना की सामर्थ्य ही कवि की प्रतिभा है।"

बुद्धि-तत्त्व—कविता में भाव और कल्पना की अपेक्षा बुद्धि का स्थान तीसरा है, परन्तु उसका महत्त्व भी कम नहीं है। मानव की कोई भी क्रिया बुद्धि के बिना सम्भव नहीं है। बुद्धिहीन कार्य को प्रशंसा नहीं मिल सकती। काव्य में बुद्धि भावना की आधारभूमि प्रस्तुत करती है, भावों को अधिकाधिक स्पष्ट करने का कार्य भी बुद्धि को करना पड़ता है। कविता में लेखक के दृष्टिकोण का परिस्फुरण उसकी वैचारिक क्षमता ही है। बुद्धि कल्पना को भी नियन्त्रित करती है और शैली को भी समन्वित करती चलती है। यों बुद्धि-तत्त्व की अनिवार्यता तो सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु काव्य में वह अनुभूति के ऊपर अपना अनुशासन स्थापित न करले, इसकी ओर सजगता की आवश्यकता है। इसके सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् मेरी (Merry) का कथन भी महत्त्वपूर्ण है—

"In literature there is on such thing as Pure thought, thought is always the handmaid of emotion."

अर्थात् "साहित्य में बुद्धि अपने शुद्ध रूप में नहीं रहती। वह सदा ही भावना की अनुगामिनी भृत्या के रूप में आती है।"

काव्य क्षेत्र में बुद्धितत्त्व अपना कार्य निम्नलिखित रूपों में करता है :

(१) भावों की आधारभूमि के रूप में, (२) भावों को स्पष्टतर करने के लिए, (३) लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप के निर्माण में, (४) भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में और (५) भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में।

शैली-तत्त्व—शैली-तत्त्व को काव्य का कलापक्ष कहा जाता है। शैली की सार्थकता और सफलता इस बात में निहित है कि वह भावानुसारिणी हो। अत: वह शैली उत्तम होती है जो भावों को भली प्रकार से अभिव्यंजित कर सके। पोप ने शैली को विचारों का परिधान कहा है, किन्तु परवर्ती विद्वानों

ने इसे त्वचा बतलाया। यह तर्कसंगत भी है। भाव चाहे कितने ही उदात्त क्यों न हों, कल्पना चाहे कितनी ही प्रखर क्यों न हो और बुद्धि चाहे जितनी ही सुलझी हुई क्यों न हो, पर यदि उसकी अभिव्यक्ति समुन्नत नहीं है तो इनकी कोई उपादेयता नहीं है। शैली के अन्तर्गत शब्द, अर्थ, अलंकार, छंद, मुहावरे आदि समस्त अभिव्यक्ति-कौशल आते हैं और इस प्रकार इसके दो रूप हो जाते हैं—शब्द-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व।

शब्द-तत्त्व का आशय भाषा से है और अर्थ-तत्त्व से तात्पर्य शब्दों के अर्थ से। कारण, बिना अर्थ के प्रयुक्त शब्द मात्र वाणी-विलास भी नहीं होते। उनकी कोई उपादेयता नहीं रहती। शैली में सर्जक का व्यक्तित्व भी निहित होता है, इसलिए शैली को काव्य-पुरुष का शरीर कहा गया है।

शैली का सरस, आकर्षक और प्रवाहपूर्ण होना आवश्यक है। कोई भी भाव या अनुभूति तभी पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर पाती है, जबकि उसको प्रस्तुत करने की शैली उत्तम हो। अतः काव्य के तत्त्वों में अभिव्यक्ति कौशल—शैली का महत्त्व निर्विवाद है।

निष्कर्ष—काव्य के इन चारों तत्त्वों के विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि ये तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु इनमें से किसी भी तत्त्व का अभाव काव्य के स्वरूप के निर्माण में बाधक हो जाता है; जैसे—'धरती, जल, आकाश, पवन और अग्नि, इनमें से किसी भी एक तत्त्व के न होने से शरीर की रचना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार इनमें से किसी भी एक तत्त्व के न होने से काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक तत्त्व अन्योन्याश्रित है और सबके संयोग से ही काव्य की सर्जना होती है और इसलिए प्रत्येक तत्त्व महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न ३५—कल्पना-तत्त्व से क्या अभिप्राय है ? इस पर विभिन्न विद्वानों के मत देते हुए काव्य में इसके महत्व का विवेचन कीजिए।

कल्पना साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। ललित या प्रेरणात्मक साहित्य कल्पना से ही अनुप्राणित होता है। साहित्य का मानव-ज्ञान के विविध क्षेत्रों से पृथक् स्वरूप व व्यक्तित्व स्थापित करने वाले जितने तत्त्व हैं, उनमें कल्पना का स्थान अत्यन्त उच्च है। पश्चिम में साहित्य के चार तत्त्वों—बुद्धि-तत्त्व, भाव-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और शैली-तत्त्व में कल्पना-तत्त्व प्रमुख रूप से समाविष्ट है। क्रोचे जैसे विचारकों ने तो कल्पना को मूर्धन्य स्थान ही दे डाला है। सामान्यतः कल्पना साहित्य में रंजन व रोचकता का तत्त्व है। वस्तु-

तत्त्व का सुन्दर व आकर्षक विन्यास करने में कल्पना का बहुत बड़ा हाथ है। इसे हम वस्तु और कला का संयोजक-तत्त्व भी कह सकते हैं।

कल्पना की परिभाषा करते हुए स्टेफेन जे० ब्राउन ने लिखा है, "कल्पना वह शब्द या वाक्य है जो इन्द्रियगोचर पदार्थ की कमनीयता अन्य किसी दूसरे पदार्थ के समकक्ष रखकर बढ़ा देता है।" फ्राकास्तारो ने प्रतिसर्जन करने वाली भावना और कल्पना को अलग-अलग बताते हुए कहा है, "ये दोनों मिलकर शिल्पकार, संझीतज्ञ और गणितज्ञ तो बना सकती हैं, किन्तु कवि नहीं।" सिडनी के विचार से, "काव्य-कल्पना में अन्वेषण की शक्ति होती है।" ड्राइडन का विश्वास है, 'कल्पना काव्य में यहाँ तक सजीवता लाती है कि उसके योग से कविता अपने आप बोलने लगती है। अनादिकाल से चित्रकला, मूर्तिकला, काव्यकला इत्यादि में प्रतीकों का बाहुल्य रहा और प्रतीक कल्पित मनोभावों के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं और उनका क्षेत्र कल्पना का ही क्षेत्र है। इस प्रकार मनोभावों की अभिव्यक्ति जब साधारण शब्दो से नहीं हो पाती, तब कल्पना का आश्रय लिया जाता है।"

डा० देवराज उपाध्याय ने कल्पना के सम्बन्ध में लिखा है, "कल्पना, आत्मा और प्रकृति में समाधान रूप से अवस्थित रहने वाली वस्तु है, जिसके कारण कवि प्रकृति-वस्तु का आदर्शीकरण अर सकता है और उसे मनन का रूप दे सकता है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भावना और कल्पना की अभिन्नता को शब्दों में अंकित करते हुए लिखते हैं—"जो वस्तु हम से अलग है, हम से दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना उपापना है। साहित्य वाले इसे भावना कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना।"

डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने कल्पना के विषय में लिखा है, "काव्य या साहित्य में जगत् और जीवन का यथातथ्य अनुकरण-मात्र स्रष्टा की वास्तविक या सर्वोच्च प्रतिभा का प्रकाशक नहीं होता है। यह अनुकरण रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में हीनकोटि का होता है। साहित्य तो कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का क्षेत्र है जिसमें वस्तु-जगत के आधार पर स्रष्टा के निगूढ़तम अवचेतन के भावों, आकांक्षाओं, स्पृहाओं, स्वप्नों व आदर्शों की तृप्ति या सिद्धि के लिए, एक नवीन व रमणीय मानसी सृष्टि का निर्माण होता है।

यह निर्माण मुख्यतः एक रहस्यमयी आन्तर शक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है, जिसे हम कल्पना कहते हैं।"

कल्पना भाव-तत्त्व के साथ कवि के चिन्तन में परिष्कार करती है, उसमें सरसता, मसृणता और रमणीयता लाती है। इसी के परिणामस्वरूप सहृदय प्रभावित होता है। महाकवि शेक्सपीयर काव्य में कल्पना को उसका प्रधान गुण मानते हैं :

"The lunatic, the lover and the poet are of imagination all compact."

अर्थात् "उन्मत्त, प्रेमी और कवि इन तीनों का कल्पना से अविरल सम्बन्ध है।" भावोद्वेलित कवि भावाभिव्यक्ति के लिए अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करता है, यही उसकी मेधा का विकास करती है। उसे साधारण से असाधारण बनाती है। इस असाधारणता का उल्लेख करते हुए पाश्चात्य विद्वान् ड्यूगल्ड स्ट्यूवर्ट कहते हैं—

"An uncomman degree of imagination constitutes poetical genius."

"कल्पना-शक्ति के मूल में ही कवि की सर्जना-शक्ति है और कल्पना का औदात्य ही उसको असाधारणता प्रदान करता है।"

कालरिज ने कल्पना के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन किया है। कालरिज मन को सक्रिय मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं—

"To make perception possible there is needed an active power of mind itself."

अर्थात् "दर्शनानुभूति के लिए मन का स्वयं सक्रिय होना आवश्यक है।" कालरिज ने कल्पना (Imagination) को फैन्सी (Fancy) से भिन्न माना है। उसके मतानुसार, "फैन्सी वह प्रवृत्ति है जो चित्र-संघातों को उत्पन्न करती है।" इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मेगनस ने इस प्रकार लिखा है—

"कालरिज के अनुसार 'फैन्सी' वह प्रकृतशक्ति है, जिसके द्वारा चित्र-संघातों की उत्पत्ति होती है। यह पूर्वपरिचित तथ्यों से ही नवीन चित्रों की उद्भावना करती है। ये उद्भावनाएँ समन्वय द्वारा होती हैं।" अस्तु, विभिन्न

विद्वानों के विचारों का समन्वय करते हुए कल्पना के निम्नांकित लक्षण बताये जा सकते हैं :

(१) कल्पना पूर्व अनुभूतियों पर आधारित होती है।
(२) कल्पना भविष्य की ओर अभिमुख होती है।
(३) कल्पना की क्रिया इच्छा-प्रेरित होती है।
(४) कल्पना बुद्धि के नियन्त्रण से मुक्त होती है।
(५) कल्पना का आलम्बन अप्रत्यक्ष होता है।
(६) कल्पना की सामग्री बिम्बों के रूप में मस्तिष्क में संचित रहती है।
(७) कल्पना का कार्य पूर्व उपलब्ध ज्ञान-सामग्री को नये रूप में प्रस्तुत करना है।

काव्य में कल्पना-तत्त्व निम्नलिखित कार्य करता है—

१. कल्पना के द्वारा हम पूर्वानुभूत पदार्थों के आधार पर मनोनुकूल विभिन्न रूपों को देखते हैं।
२. जहाँ कथानक उत्पाद्य या शुद्ध काल्पनिक होता है, वहाँ कल्पना की परिभाषा स्पष्ट ही लक्षित हो जाती है।
३. जहाँ धूमिल अतीत की विशृंखल कड़ियों को जोड़कर एक व्यवस्थित कथानक गढ़ने की आवश्यकता होती है, वहाँ कल्पना का प्रयोग न्यूनाधिक रूप में होता है।
४. पात्रों की चरित्र-सृष्टि में भी कल्पना प्रयुक्त होती है।
५. संवादों में भी कल्पना का प्रयोग स्पष्ट है, क्योंकि लेखक पात्रों पर अपने ही भावों-विचारों का प्रक्षेपण करता है।
६. वस्तु-वर्णन, व्यक्ति-वर्णन अथवा आलम्बन की रूप-प्रतिष्ठा भी कल्पना का ही व्यापार है एवं आश्रय के वचनों की उद्‌भावना भी कल्पना के बल पर ही होती है।
७. भाषा-शैली को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में कल्पना ही काम करती है।
८. वस्तु की पूर्ण प्रभावोत्पत्ति की दृष्टि से उपयुक्त व सटीक साहित्य-रूप की अवधारणा भी कल्पना के द्वारा सम्भव है।

वस्तुतः कल्पना से कुछ भी रिक्त नहीं; यहाँ तक कि वस्तु-जगत् में जो कुछ भी हम देखते हैं, वह भी हमारी भीतरी कल्पना का ही प्रतिबिम्ब है।

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने तीन प्रकार की कल्पना का उल्लेख किया है—

(१) **पुनर्निर्माण की शक्ति वाली कल्पना** (The reproductive imagination)—कॉलरिज ने इस शक्ति को 'फैन्सी' कहा है। यह शक्ति मनःक्षेत्र में वर्तमान विविध अव्यवस्थित तत्त्व-संघातों को पुनः प्रतिष्ठित करती है।

(२) **उद्भावक कल्पना-शक्ति** (The productive imagination)—इसके द्वारा मन विविध अव्यवस्थित तत्त्व-संघातों की पुनःप्रतिष्ठित सामग्री से नवीन रूपों की योजना करता है। कॉलरिज की Primary Imagination वहुत कुछ इसी से मिलती-जुलती है।

(३) **सौन्दर्यबोधक कल्पना** (Aesthetic imagination)—कांट के मतानुसार इस कल्पना का संबंध बुद्धि (Understanding) से अधिक रहता है। इस सम्बन्ध को उसने स्पष्ट भी किया है। उसने दो प्रकार के विचार बताये हैं—

(i) तर्क-प्रधान विचार (Rational ideas)

(ii) अनुभूतिमूलक विचार (Aesthetic idea)

अनुभूति-प्रधान विचारों की योजना वह सौन्दर्यबोधात्मक कल्पना से ही मानता है।

निष्कर्ष रूप में, कल्पना के अभाव सूक्ष्म विशेषताओं, गुणों, चेष्टाओं, क्रियाकलापों और भावों को पूर्णतः प्रकट नहीं किया जा सकता। उसी से असुन्दर प्रकृति भी सुन्दर बन जाती है और जड़ पदार्थ भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न ३६—कविता और छन्द से पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन कीजिए।

कविता और छन्द का इसके जन्मकाल से ही अटूट सम्बन्ध है। आरम्भिक कविता होती ही छन्दबद्ध थी, पर साथ ही विचारकों के समक्ष ये प्रश्न भी विवाद का विषय रहे हैं कि क्या छन्द कविता के लिये अनिवार्य है, क्या बिना छन्द के कविता नहीं हो सकती, क्या छन्द पर ध्यान रखने से अनुभूति की तीव्रता कम नहीं होती।

इस प्रश्नों का उदय स्वाभाविक रूप से कविता और छन्द के सम्बन्धों पर विचार करने के लिए हुआ। विचारकों ने आरम्भ से ही इन पर अपने-अपने मत दिये हैं। अरस्तू के पूर्ववर्ती आचार्यों ने कविता और छन्द को अन्योयाश्रित माना है और छन्दहीन काव्य को काव्य नहीं माना; यहाँ तक कि काव्य का वर्गीकरण भी छन्द के आधार पर ही किया।

किन्तु अरस्तू ने छन्द और कविता को दो पृथक् वस्तुएँ माना है। उसके अनुसार कविता के लिए छन्द आवश्यक नहीं है, छन्दहीन कविता भी श्रेष्ठ हो सकती है। अरस्तू ने कविता के लिए छन्द की अनावश्यकता पर जो विचार किया है, उससे विद्वानों ने विभिन्न अनुमान लगाये हैं। हो सकता है, अरस्तू की इस विचारधारा के पीछे प्रचलित कोई मान्यता या धारणा हो, पर इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मन्तव्य औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है, "जिस प्रकार भारतीय आचार्य 'काव्य' शब्द का प्रयोग केवल कविता के लिए न कर व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण सरस साहित्य के लिये करते थे, उसी प्रकार अरस्तू ने भी काव्य का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया हो और इसीलिए छन्द को वैकल्पिक माना हो।"

यही कारण हो सकता है कि अरस्तू ने छन्द का विरोध नहीं किया है, अपितु पद्य के लिए छन्द है, न कि कविता के लिए। किन्तु बाद में इस आधार पर अनेक कवियों और आलोचकों; यथा—रोनसर्ड, सिडनी, शेली, कॉलरिज आदि ने छन्द का विरोध किया है। ये विचारक छन्द को तत्त्व के रूप में ले गये। सिडनी ने इसे अलंकार-मात्र माना है। कॉलरिज के अनुसार काव्य की श्रेष्ठता छन्द के बिना भी हो सकती है, क्योंकि कल्पना का सम्बन्ध अन्तर्वेगों से है—"Poetry of the highest kind may exist without metre."

कॉलरिज छन्द को काव्य पर थोपी हुई अनावश्यक वस्तु मानते हैं, इससे अधिक-से अधिक कविता की प्रभावोत्पादक शक्ति बढ़ जाती है, यह मूल तत्त्व तो कदापि हो ही नहीं सकता।

इस दृष्टि का यहीं अन्त नहीं होता, अपितु दिन-प्रति-दिन इसका क्षेत्र-विस्तार होता जाता है। यही नहीं, बाद में गद्य और पद्य की सीमाएँ भी एक-दूसरे का संस्पर्श करने लगीं और उनका अन्तर भी मिटने लगा। विचारकों ने इसको कोई अनुचित नहीं माना। हॉपकिंस ने भी स्पष्ट लिखा है—"We must not insist on knowing where verse ends and prose (or verseless composition) begins, for they pass into one another."

अर्थात् "हमें यह जानने का किंचित् आग्रह नहीं करना चाहिए कि कहाँ पद्य समाप्त होता है और गद्य (अथवा पद्यहीन गद्य) आरम्भ होता है, क्योंकि दोनों की सीमाएँ एक-दूसरे से मिलती हैं।"

काव्य और छन्द सम्बन्धी विचारधाराएँ—इस प्रकार काव्यशास्त्र के

विचारकों में कविता और छन्दों को लेकर दो प्रकार के वर्ग हैं—एक वर्ग वह है जो कविता और छन्द को पूर्ण पृथक् मानता है और कविता में छन्द के प्रयोग को अनावश्यक मानता है। इसे छन्द-विरोधी विचारधारा कह सकते हैं। इसके विपरीत दूसरा वर्ग उन विचारकों का है जो काव्य और छन्द का अटूट सम्बन्ध मानते हैं, इन्हें छन्द-समर्थक विचारधारा के अन्तर्गत रख सकते हैं। अब हम संक्षेप में दोनों के कारणों पर विचार कर काव्य और छन्द के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करेंगे।

छन्द-विरोधी विचारधारा—इस विचारधारा के समर्थकों ने छन्द को कविता के लिए अनावश्यक माना है और इसके लिए कारण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि जब विचार-जगत् में छन्द का कोई स्थान नहीं है, न हम छन्द में सोचते हैं और न कल्पना करते हैं तो फिर छन्द में लिखें ही क्यों ? विचारों में तो कोई समानता नहीं होती, जब इनमें कृत्रिमता नहीं तो भावों के सहज उच्छलन-कविता में छन्द के द्वारा कृत्रिमता क्यों लाई जाये ? इससे तो कविता में दिये जा रहे भावों की स्वाभाविकता की हत्या होगी ? कविता को जीवन का प्रतिरूप मानें तब भी छन्दों की कोई आवश्यकता नहीं है।

दूसरे, छन्द एक प्रकार का बन्धन है जो कलाकार की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा डालता है। कवि जब अपने भावों में लीन होता है, उस समय उसके ऊपर किसी प्रकार का बन्धन लगाना, उसके भावों की हत्या करना है। छन्द, मात्रा आदि के चक्कर में फँसकर तो वह मूल-तत्त्व-भावों को सर्वथा खो बैठेगा और इसी प्रयत्न में लगा रहेगा कि छन्द के लिए अनुकूल शब्दों का चयन हो जाये। इस प्रकार छन्द के प्रति आग्रह होने से कविता में कहीं तो अनावश्यक विस्तार आ जायेगा तो कहीं जो बात कहना चाहता है, कवि उसी को छोड़ जायेगा।

छन्द को कविता के लिए अनावश्यक मानने वाले एक तर्क यह भी देते हैं कि छन्द प्राचीन परम्परा के प्रतिनिधि हैं, उनमें कोई नवीनता तो है नहीं, कवि प्रत्येक भाव को नवीन जनरुचि के आधार पर ही लिखता है। अतः इन प्राचीन छन्दों में अब ऐसा कोई भी आकर्षण नहीं रह गया है जो सहृदय की रुचि को अपनी ओर आकृष्ट कर सके, वे सभी अब पुराने पड़ गये हैं।

इन्हीं कारणों से ये छन्द-विरोधी विचार कविता को छन्दों से मुक्त

रखना चाहते हैं और उसे कृत्रिम बन्धन मानते हैं। छन्द न तो कविता का मूलतत्त्व है और न ही इन विचारकों के अनुसार अनिवार्य अंग ही।

छन्द-समर्थक विचारधारा—इसके विपरीत एक वर्ग उन विचारकों का भी है जो कविता के लिये छन्द की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। अरस्तू ने यद्यपि छन्द का प्रकारान्तर से विरोध किया है, पर उनके शिष्य स्कैजिलर ने कविता में छन्द के प्रयोग का प्रबल समर्थन किया है। दान्ते और ह्विटले ने भी छन्द का समर्थन किया और कहा कि कविता चाहे अच्छी हो या बुरी—उसका निर्णय छन्द के आधार पर ही होता है। जॉन मिल के अनुसार कविता में भाव जितना गहन होता जाता है, लय भी उतनी ही विशिष्ट तथा सुनिश्चित होती जाती है। अतः गहन भावों की अभिव्यक्ति के लिए छन्द का प्रयोग आवश्यक है।

छन्द-समर्थक विचारक कविता के लिए छन्द की अनिवार्यता स्वीकारते हैं। इसे वे बाह्य न मानकर उससे एकरूप मानते हैं। लय कोई बाहर से खोजी गई वस्तु न होकर मनुष्य के अन्दर से ही उत्पन्न होती है। कविता की तरह छन्द भी स्वाभाविक वस्तु है जो भावों की तरह मानव के हृदय से स्वतः उद्भूत होती है। अतः दोनों एक से ही हैं।

अपने कथन की पुष्टि में इन विचारकों ने अनेक तर्क दिए हैं। इसके विषय में उनका पहला तर्क यही है कि प्राचीनकाल से अबतक के सभी कवियों ने छन्द का प्रयोग किया है, अतः यदि छन्द अनावश्यक होता तो वे इसका प्रयोग ही क्यों करते ? दूसरे, इसके प्रयोग से कविता की प्रभविष्णुता कम होने की अपेक्षा और बढ़ी ही है। यद्यपि अकेले छन्द से काव्य की रचना नहीं होती, पर यह सत्य है कि इससे कविता को चिरस्थायित्व प्राप्त होता है। गेयता के कारण यह स्मरण भी शीघ्र हो जाता है। इसमें काव्य की आत्मा भी सुरक्षित रहती है, उसे इससे शक्ति भी मिलती है, अतः छन्द काव्य का अनिवार्य तत्त्व है।

तीसरे काव्य में जो रागात्मक तथा रसात्मक तत्त्व होता है, वह मन की उच्छ्वसित अवस्था का ही नाम है। मन का उच्छ्वास लययुक्त होता है, इसलिए रसात्मक अनुभूति भी लययुक्त होती है। अतः छन्द रसात्मक अनुभूति का सहज माध्यम है। यही कारण है कि व्यक्ति जब तीव्र भावावेग में

आता है तो उस समय वह बोलने की अपेक्षा गीत गाना ही अधिक पसन्द करता है।

छन्द और कविता का सम्बन्ध—ये दोनों विचारधाराएँ अतिवादी हैं; अतः अपने मत का समर्थन करने के लिए ये सीमातिक्रमण भी कर देती हैं। छन्द और कविता के पारस्पारिक समन्वय तथा सम्बन्ध को देखने के लिए हमें दोनों का सम्यक् रूप से मूल्यांकन करना होगा। इस सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ का मत दिया जा सकता है। वह यह मानते हैं कि काव्य-रचना के क्षणों में भावावेश का नियमन करना पड़ता है, भावावेश के समय कविता नहीं रची जाती। उनके अनुसार काव्य-रचना के दो सोपान होते हैं—अनुभूति और अनुभूति का प्रकाशन (अभिव्यक्ति)। अनुभूति और अभिव्यक्ति के मध्य अन्तराल होता है, चाहे वह कितना ही न्यून क्यों न हो। अतः कवि अनुभूति होने पर उस पर चिन्तन-मनन करता है, फिर उसे अभिव्यंजित करता है। इसलिए कविता भावों का पुनःस्मरण है।

इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति को चिन्तन-प्रक्रिया द्वारा नियन्त्रित करता है और इसी नियमन के द्वारा छन्द की उत्पत्ति होती है और इसी छन्द से कवि भावों को व्यवस्था देता है। छन्द की इसी सन्दर्भ में महत्ता है। छन्द भावावेग को संयत करके उनका संयमन कर देता है, इससे काव्य में उच्छृंखलता नहीं आ पाती।

छन्द से कविता की शक्ति और भी बढ़ जाती है। छन्द और लय से युक्त कविता में इसी कारण अधिक आकर्षण और मनोहरता होती है। गद्य भी यद्यपि लययुक्त हो सकता है, पर गद्य के लिए लय आकस्मिक संयोग है, लेकिन पद्य में, चाहे वह छन्दबद्ध हो या छन्दमुक्त, लय आवश्यक है। यदि पद्य में छन्द का प्रयोग किया जाता है तो इससे उसे निरन्तरता मिलती है।

अतः कहा जा सकता है कि रसानुभूति कराना कविता का लक्ष्य होने के कारण लय और छन्द से उसका अटूट सम्बन्ध है।

प्रश्न ३७—काव्य और मनोविज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना कीजिए।

काव्य और मनोविज्ञान दोनों ही परस्पर सम्बद्ध हैं। दोनों का ही कार्य-क्षेत्र मानव-जीवन है। काव्य और मनोविज्ञान के इस पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम मनोविज्ञान

के स्वरूप को प्रथमतः स्पष्ट करें। मनोविज्ञान में मनुष्य के मानसिक जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार मनोविज्ञान में मानव-मन ही केन्द्र-विन्दु होता है। मन की भारतीय और पाश्चात्य—दोनों ही दृष्टियों से विवेचना की गई है।

मन—भारतीय दृष्टि से मानव मन को ही मनोविज्ञान का केन्द्र-बिन्दु माना गया है। भारतीय विचारधारा के अन्तर्गत मन को आत्मा से पृथक् माना गया है। छांदोग्योपनिषद् में मन की निर्मिति अन्न से मानी गई है और इस प्रकार यह भौतिक पदार्थ कहा गया है। भारतीय दर्शन में आत्मतत्त्व के साथ-साथ ही मन-तत्त्व को भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। न्याय-दर्शन में मन के संदर्भ में कहा गया है कि मन की अवस्थिति के बिना बाह्य ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। मन की गति अत्यन्त तीव्र मानी गयी है और इसे चंचल कहा गया है। गीता में भी मन को अत्यन्त चंचल कहा गया है। इसी प्रकार की बात न्यायदर्शन में भी कही गई है।

न्यायदर्शन में मन की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—सुषुप्ति, स्वप्न और जागरण। स्वप्न की अवस्था में यद्यपि अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, तथापि मन सचेष्ट रहता है। स्वप्न के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि स्वप्न में हम वह सब कुछ देखते हैं जो जाग्रत अवस्था में देख चुके होते हैं। इस प्रकार स्वप्न में मन पर पड़ने वाले अनुभवों की पुनरावृत्ति होती है। इस प्रकार उद्बोधन की प्रक्रिया में मन स्मृति को आधार बनाता है।

पाश्चात्य विचारधारा और मन—मन के संदर्भ में पाश्चात्य विचारकों के मत भी द्रष्टव्य हैं। अरस्तू ने मन के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि चिन्तन या मनन करने की शक्ति का नाम ही मन है। हीगेल के मतानुसार मन तर्कों से भरे हुए विचारों का विकास मात्र है। फ्रायड ने मन के अन्तर्गत विचार, अनुभूति, इच्छा के साथ-साथ अवचेतन विचार और अवचेतन इच्छाओं को भी गिनाया है। मन के तीन भाग स्वीकार किये गए हैं—चेतन, अर्द्धचेतन और अवचेतन। इन तीनों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—यदि चेतन मन को पानी के ऊपर तैरने वाली किमी शिलाखण्ड का एक चौथाई भाग मान लिया जाए तो अवचेतन की उपमा उसके उस तीन चौथाई से दी जा सकती है जो पानी के नीचे होने के कारण अज्ञेय और

रहस्यपूर्ण है। अर्द्धचेतन इन दोनों के बीच के द्वार का काम करता है। अवचेतन हमारी ऐसी वासनाओं और प्रवृत्तियों का शरण स्थल है, जहाँ वे सामाजिक और नैतिक अंकुशों के प्रहार से बचने के लिए मुँह छिपाए पड़ी रहती हैं। इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ दमित प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं और चेतन स्तर पर आने के लिए प्रयत्न करती रहती हैं। किन्तु अर्द्धचेतन मन इन्हें सीधे चेतन स्तर पर आने नहीं देता। किन्तु यही दमित प्रवृत्तियाँ परिवर्तित वेश धारण करके स्वप्नों के रूप में उभरती हैं। साहित्य में इस प्रकार साहित्यकार अपनी दमित प्रवृत्तियों को छद्मवेश में परिवर्तित करके साहित्य में प्रस्तुत करता है। फ्रायड ने इसीलिए स्वप्नों तथा साहित्य दोनों का सम्बन्ध अवचेतन से माना है।

फ्रायड ने मन के तीन अन्य भाग भी माने हैं—इड, ईगो और सुपर ईगो। इड अथवा इदम में रागात्मक एवं विध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ आती हैं। इनका सम्बन्ध अवचेतन स्तर से है। ये प्रवृत्तियाँ क्यों, कब और कहाँ से आती हैं, इनके सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं रहता। फ्रायड की विचारधारा के आधार पर कहा जा सकता है कि 'काम' का मुख्य केन्द्र यही है और काम ही जीवन की प्रेरक शक्ति है। इस अंश पर सामाजिक बन्धनों का कोई प्रभाव नहीं होता है और काम-वासनाओं को सन्तुष्ट करना ही इसका प्रधान लक्ष्य है। ये प्रवृत्तियाँ बन्धनहीन एवं स्वतंत्र होती हैं। फ्रायड ने मानव-जीवन में दो प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रमुख माना है—काम तौर विनाश की। इन दोनों में भी 'काम' की प्रवृत्ति, जिसे 'लिबिडो' की संज्ञा दी गई है, अधिक महत्त्वपूर्ण है। ईगो (अहम्) का जन्म बाह्य जगत् के सम्पर्क का परिणाम है। अहं के सारे क्रिया-कलाप जिजीविषा की ओर उन्मुख होते हैं। अहं का द्विमुखी क्रियाक्षेत्र होता है—एक ओर तो इदं के आदेशों का पालन करना और दूसरी ओर इदं के उन विश्रृंखल तत्त्वों का दमन करना जो सामाजिक परिवेश से मेल नहीं खाते।

मन का तीसरा भाग सुपर ईगो अथवा नैतिक अहं माना गया है। इसके उदय होने के परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसका उदय कदाचित् शोच प्रशिक्षण काल में, माता-पिता से विरोध, उनसे दण्डित होने का भय, उनसे स्नेह एवं रक्षा पाने की इच्छा के कारण, उनको अपने अन्दर स्थापित कर लेने से प्रारम्भ होता है।

प्रारम्भ में यह अहं का ही एक भाग होता है, किन्तु धीरे-धीरे यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम कर लेता है। इसका सम्बन्ध इदम् और उसमें निहित प्रवृत्तियों के साथ होता है और कभी-कभी ईगो और सुपर ईगो में अन्त:विरोध हो जाता है, जिस कारण मानसिक कष्ट जन्म ले लेता है। सुपर ईगो का काम दमित आवेगों का नियन्त्रण करना है। नैतिक अहं का एक कार्य यह भी होता है कि वह असामाजिक वृत्तियों को भी दबाता है। नैतिक अहं से अहं दब जाता है और इस प्रकार पलायन करके अवचेतन में जा छिपता है। फ्रायड का यह भी कथन है कि मनुष्य के जन्म के साथ ही कुछ मूल प्रवृत्तियाँ जन्म ले लेती हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य का शारीरिक विकास होता है, त्यों-त्यों इन प्रवृत्तियों में भी विकास होता रहता है। मनुष्य का दैनिक जीवन एवं आचरण भी इन्हीं मूल प्रवृत्तियों से परिचालित होता है। फ्रायड ने इसे दो नाम दिए हैं—Life Instinct और Death Instinct अर्थात् जिजीविषा और मुमूर्षा। जिजीविषा के अन्तर्गत काम प्रवृत्ति को गिनाया गया है जो कि अपने आप में सुखकर होती है। इन सभी प्रवृत्तियों की अन्तिम परिणति आनन्द में होती है। डा० नगेन्द्र ने फ्रायड के काम सिद्धान्त की चर्चा करते हुए लिखा है—"मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है काम अथवा राग, जिसका माध्यम हैं सहज प्रवृत्तियाँ। इन सहज प्रवृत्तियों के उचित परितोष में ही जीवन की सिद्धि है। यही फ्रायड का आनन्द सिद्धान्त—प्लेजर प्रिंसिपिल है। इसे ही वे जीवन का मूल सिद्धान्त मानते हैं। मनुष्य की सभी चेष्टाएँ इसी लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं।" काम प्रवृत्ति के साथ-साथ मनुष्य में नाश-प्रवृत्ति भी होती है। इसके अन्तर्गत आत्महनन एवं परहनन—दोनों ही प्रकार के ध्वंसात्मक कार्य आ जाते हैं। इन दोनों की अलग-अलग स्थितियाँ हो सकती हैं; यथा—दोनों स्थितियों का पूर्ण संघर्ष, पूर्ण समन्वय अथवा दोनों प्रवृत्तियों में से एक का बलवान होना। इन दोनों में यदि ध्वंस की वृत्ति काम की वृत्ति से अधिक बलवान हो जाती है तो पीड़न रति का प्रादुर्भाव होता है। एडलर का यह मत है कि साहित्य में पीड़न रति की स्थिति होती है—"कलाकार का व्यक्तित्व भी प्राकृत नहीं हो सकता। कलाकार पीड़ालिप्सी होता है। इसलिए वह जान-बूझ कर ऐसे कार्यों को चुनता है, जिनसे उसके उद्देश्य की पूर्ति न हो सके। एक लेखक अपनी सृजन प्रक्रिया

से अपने आपको पूर्ण विघटन से बचाए रखता है लेकिन उसके साथ ही अपनी चिकित्सा नहीं करता।"

साहित्य का यौन-भावना अथवा सेक्स से घनिष्ठ सम्बन्ध है। फ्रायड के काम-सिद्धान्तों के कारण ही यौन-भावना को उसके सही रूप में स्वीकृति मिली। साहित्य के संदर्भ में यह कहा गया है कि साहित्य और कला की मूल प्रवृत्ति और प्रेरणा भी यही है—यौन-प्रवृत्ति केवल सन्तानोत्पत्ति और मानव के अस्तित्व के लिए ही आवश्यक नहीं, बल्कि कला और साहित्य की प्रेरणा की भी यही प्रवृत्ति है। संसार के साहित्य और कला के अधिकतर और श्रेष्ठतम भाग का विषय सेक्स है। यौन और साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध विचारक मांडसले का कथन है—"यदि मनुष्य की यौन प्रवृत्ति और प्रत्येक उस वस्तु को जो मानसिक तौर पर उससे सम्बद्ध है या उससे जन्म लेती है, समाप्त कर दिया जाए तो जीवन से कविता और सम्भवतः समस्त नैतिक भावना के अवशेष ही मिट जाएँ।" दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यौन-प्रवृत्ति जीवन की मूल प्रवृत्ति है, जो साहित्य में आकर उदात्त स्वरूप धारण करती है।

साहित्य और मनोविज्ञान—फ्रायड ने मनोविज्ञान के अन्तर्गत अचेतन मन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। अवचेतन मन में, जैसा कि पहले भी कहा गया है, मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियाँ सहज रूप में विद्यमान रहती हैं। अवचेतन मन की ये दमित इच्छाएँ चेतन मन में आने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती हैं। अचेतन संसार अपने आप में विचित्र संसार है। डा० देवराज उपाध्याय ने इस अचेतन संसार के संदर्भ में लिखा है—"१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मनुष्य अपने अन्दर रहने वाले विशाल विश्व का आविष्कार कर रहा है जिसे हम आज मनोविज्ञान की शब्दावली में अचेतन कहते हैं। इस अचेतन संसार की गति ही निराली है। उस पर हमारा नियन्त्रण नहीं है। पर हमारे जीवन का मूल सूत्र वही है और हम अधिकांशतः वहीं से परिचालित होते रहते हैं।"

स्वप्न और साहित्य में भी परस्पर सम्बन्ध है। स्वप्न में दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है, साहित्य में भी यही होता है। इन दोनों में थोड़ा-सा अन्तर यह है कि स्वप्न की भाषा निश्चितप्राय होती है, जबकि साहित्य में प्रयुक्त भाषा अनेकार्थी होती है। साथ ही साहित्य में अहम् की

स्थापना भी होती है। कला में मनोवैज्ञानिक उद्भावनाओं पर विचार करते हुए अर्नेस्ट क्रिस ने कहा है कि—"जो कुछ हमें स्वप्नों में समझौता-सा दीखता है या जिसकी व्याख्या पूर्ण निश्चय के साथ की जाती है, वह सब कलाकृति में अनेकार्थी बन जाता है।" कलाकार और सामान्य व्यक्ति में केवल अन्तर यह है कि दोनों ही अपने अचेतन को अभिव्यक्ति देते हैं, किन्तु कलाकार अपनी कला के बलबूते पर साहित्य का निर्माण करने के सक्षम हो जाता है। कलाकार अपनी अतृप्त एवं दमित इच्छाओं और वासनाओं को "किसी उच्चतर लक्ष्य से सम्बद्ध कर देता है जो नैतिक अथवा सामाजिक तौर पर ग्राह्य होता है। कला और साहित्य इन दमित वासनाओं का उदात्तीकरण है।" उदात्तीकरण के माध्यम से वर्जित एवं समाज-विरोधी वृत्तियों को सभ्य एवं समाज सम्मत रूप में प्रस्तुत किया जाता है और इस प्रकार कलाकार स्नायविक विकारों से ग्रस्त नहीं होने पाता।

फ्रायड के अतिरिक्त एडलर और युंग ने भी मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। एडलर के अनुसार मनुष्य की सभी क्रियाएँ हीन भाव के कारण होती हैं। मनुष्य अपनी इसी हीन भावना की क्षतिपूर्ति के लिए सभी क्रिया-कलाप करता है। हीनता की यह ग्रन्थि शारीरिक और मानसिक दो स्तरों पर होती है। एडलर ने साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा इसी हीन भावना को माना है—"साहित्य-सृजन के मूल में भी इसी आत्महीनता की भावना से विस्तार पाने की प्रवृत्ति है।" इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि कलाकार कला के माध्यम से अपना मन-चाहा काल्पनिक संसार बनाने में समर्थ होता है और इस प्रकार साहित्य-सृजन में उसे—"अपने अतृप्त प्रेम-दलित सम्मान और कुंठित शक्ति की क्षति-पूर्ति का क्षेत्र मिल जाता है और जिसकी अभिव्यंजना अपनी प्रातिभिक योग्यता से सर्वग्राह्य आनन्द का भी विधान करने में समर्थ हो जाती है।" एडलर ने साहित्यकार के व्यक्तित्व में तीन तत्त्व माने हैं—महत्त्वाकांक्षा, आत्मतुष्टि और यौन प्रदर्शन।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में युंग का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने अचेतन के दो स्तर माने हैं—वैयक्तिक अचेतन और सामूहिक अचेतन। युंग ने साहित्य-सृजन का सम्बन्ध इसी सामूहिक अचेतन से जोड़ा है। इसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—"यह सामूहिक अवचेतन कोई 'डस्टबिन'

नहीं है, अपितु मनुष्य की चेतनात्मक, सृजनात्मक और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों
का मूल स्रोत है।" और इसी सामूहिक अवचेतन में—"हमारे सौन्दर्य प्रेम
नैतिकता और मानवीय स्वभाव की अन्य विशेषताओं की समष्टि होती है।"

मनोवैज्ञानिकों ने साहित्य-सृजन में स्नायविक विकारों की भी चर्चा की
है। उनका कहना है कि कवि अथवा साहित्यकार स्नायविक विकारग्रस्त
व्यक्ति होता है और वह इन विकारों से मुक्ति केवल साहित्य-सृजन करके ही
प्राप्त करता है। एफ० एल० ल्यूक्स का मत है कि पिछले दो शताब्दियों के
बहुत से लेखक स्नायविक विकास से ग्रस्त थे।

सम्पूर्ण विवेचन के उपरान्त अब यह आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्य
की रचना-प्रक्रिया में मनोविज्ञान के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला जाए।
यद्यपि काव्यजगत् भावजगत् है और भाव का सम्बन्ध बुद्धि की अपेक्षा हृदय
से होता है, तथापि काव्य-सृजन की प्रक्रिया मानसिक है। इस मानसिक
प्रक्रिया में जहाँ अनुभव का स्थान होता है, वहीं स्मृति भी एक अनिवार्य
तत्त्व के रूप में विद्यमान रहती है। कल्पना स्मृति के बिना नहीं हो सकती।
यह बात दूसरी है कि वे ही स्मृतियाँ हमारे साथ स्थायी रूप में रहती हैं जो
कि भावनाओं से गहरा सम्बन्ध रखती हैं। काव्य-सृजन में स्मृतियों को, जो
कि अचेतन मन में दबी रहती हैं, उभारा जाता है। उभारने अथवा उजागर
करने की इस प्रक्रिया में Association, dissociation, synthesis, Analysis.
अर्थात् सम्बन्ध, पार्थक्य, संश्लेषण और विश्लेषण की क्रियाएँ कार्य करती हैं।
इस प्रकार इन प्रक्रियाओं में भी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ ही जुड़ी हुई हैं।

इनके अतिरिक्त काव्य और मनोविज्ञान का परस्पर सम्बद्ध यह भी है कि
मनोविज्ञान में मानव-मन को अध्ययन का विषय बनाया जाता है और
साहित्य का मूलाधार भी मानव मन ही है। इस प्रकार मनोविज्ञान और
साहित्य—दोनों का एक ही सामान्य आधार है—मन।

प्रश्न ३८—काव्य-बिम्ब की परिभाषा देते हुए बिम्ब का वर्गीकरण कीजिए और बिम्ब का प्रतीक से अन्तर भी स्पष्ट कीजिए।

आधुनिक काव्य पर समय-समय पर होने वाले आन्दोलनों का पर्याप्त
मात्रा में प्रभाव पड़ा है। बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक ढाँचे से व्यक्ति की
अनुभूति और अभिव्यक्ति में भी अन्तर आया है। आज का व्यक्ति बाह्य
यथार्थ को निजी अनुभूति और संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्त करना चाहता

है । अनुभूति की संवेदनशीलता और अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता से ही विम्बों का जन्म हुआ है। अन्य कलावादों की भाँति ही बिम्बवादी आन्दोलन का जन्म भी यूरोप में ही हुआ है। इसका उद्‌गम विल्लर्ड थोर्व ने अमरीका में माना है । इसके उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डालते हुए उनका कथन है कि अंग्रेज और अमरीकी दल के कुछ व्यक्तियों ने लंदन में १९०८ से १९१२ तक एक नई काव्य-शैली तैयार की । इस दल में लन्दन के टी० एस० ह्यूम और अमरीका के एजरापाउंड थे । १९वीं शदी के वायवीय स्वच्छन्दतावादी काव्य के विरुद्ध ह्यूम ने एक नई काव्य-शैली को जन्म देने का दृढ़ निश्चय किया । इस नई काव्य शैली में ह्यूम के अनुसार—"अब जिस नए काव्य का सृजन होने जा रहा है, वह प्रसादपूर्ण, शुष्क और परिष्कृत होगा । उनमें ऐसे शब्द हरगिज नहीं होने चाहिए जो अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में योग न देते हों । कवि को चाहिए कि अपनी रचनाओं को कला समझे, भविष्यकथन नहीं । काव्य शब्दों की पच्चीकारी से न कम है, न ज्यादा, अत: हर शब्द में भवितव्यता का होना आवश्यक है ।" १९१५ में पाउंड ने ह्यूम की पाँच कविताओं का प्रकाशन किया । इनमें से पहली कविता 'आटम' को शुद्ध बिम्बवादी कविता कहा गया और यहीं से विम्बवादी काव्य का आरम्भ हुआ । बिम्बवाद के विकास में अमरीका की कुमारी लावेल का नाम भी उल्लेख्य है । बिम्बवाद को सही रूप देने में इनका प्रमुख हाथ था ।

१९१५ में बिम्बवादी कवियों द्वारा एक घोषणापत्र निकाला गया । इस घोषणापत्र में निम्न बातों का उल्लेख किया गया—

१. सही और सटीक शब्दों का प्रयोग करते हुए भी आम बोलचाल की भाषा के शब्दों का प्रयोग करना ।
२. नये भावों की अभिव्यक्ति के लिए नवीन छन्द-विधान ।
३. विषय-चयन में पूर्ण स्वतन्त्रता ।
४. विषय का सही-सही चित्रण करना और इसके लिए बिम्ब प्रस्तुत करना ।
५. ठोस और विशद काव्य का सृजन ।

बिम्बवादी कवियों ने बिम्बों को ग्रहण करने के लिए 'सामान्य' की अपेक्षा 'विशेष' पर अधिक बल दिया । बिम्ब सदैव 'विशेष' का होता है, 'सामान्य' का नहीं । ऐन्द्रिय बोध के लिए किसी विशेष वस्तु, व्यक्ति अथवा

स्थान का होना अनिवार्य है। बिम्बवादियों की इस प्रकार दो उपलब्धियाँ थीं : (क) कविता में यथार्थ की अभिव्यक्ति के साथ मूर्तिमत्ता की स्थापना और (ख) 'सामान्य' की अपेक्षा 'विशेष' का प्रतिपादन।

बिम्ब का अर्थ और परिभाषा—बिम्ब शब्द अत्यन्त व्यापक है और इसका अर्थ भिन्न-भिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न है। इतने व्यापक परिप्रेक्ष्य को लेकर चलने के कारण ही इसके स्वरूप-निर्धारण में भी अत्यन्त मतभेद है। साधारण रूप में बिम्ब का अर्थ अनुकृति, छाया अथवा प्रतिच्छाया माना जाता है। किन्तु आज इसे इससे भी अधिक व्यापक अर्थ दिया गया है। हिन्दी में बिम्ब शब्द इमेज़ का हिन्दी रूपान्तर है। बिम्ब पर अलग-अलग परिभाषाओं को यहाँ दिया जा रहा है। 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में बिम्ब (इमेज़) की परिभाषा करते हुए कहा गया है—"बिम्ब चेतन स्मृतियाँ हैं जो विचारों की मौलिक उत्तेजना के अभाव में उस विचार को सम्पूर्ण या आंशिक रूप में प्रस्तुत करती हैं।" इस प्रकार कोश में बिम्ब को छाया अनुकृति के रूप में ही ग्रहण किया गया है। अमरीकी समीक्षक क्लिथ ब्रुक्स ने ब्रिम्ब को अरस्तू के रूपक से अभिन्न माना है। कवि ब्लैक का कथन है कि—"वह प्रत्येक वस्तु जिस पर विश्वास किया जाता है, सत्य का बिम्ब है।"

बिम्ब चूँकि 'इमेज़' का हिन्दी अनुवाद है, अतः बिम्ब की परिभाषा को समझने के लिए इमेज़ की परिभाषा को समझना जरूरी है। शार्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार इमेज़ का अर्थ इस प्रकार है—"किसी पदार्थ का मनश्चित्र या मानसी प्रतिकृति। बेब्डस्टर्स की डिक्शनरी में इमेज़ के विविध अर्थ दिए गए हैं; यथा—एक पदार्थ के लिए किसी ऐसे मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे व्यंजित करता हो जैसे मृत्यु के लिए 'निद्रा' का प्रयोग। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, बिम्ब का अर्थ विविध संदर्भों में भिन्न-भिन्न है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में बिम्ब का अर्थ है 'मानसिक पुनः निर्माण,' विश्वकोश में मनोवैज्ञानिक बिम्बों की व्याख्या करते हुए कहा गया है—"बिम्ब चेतन स्मृतियाँ हैं जो विचारों की मौलिक उत्तेजना के अभाव में उस विचार को सम्पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में प्रस्तुत करती हैं।" विश्वकोश में आगे इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि बिम्ब निर्माण पूर्णरूपेण मानसिक क्रिया-व्यापार है और

यह मस्तिष्क की आँखों से जाने वाली वस्तु है।" मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत अंग्रेजी कोश में बिम्ब की परिभाषा करते हुए लिखा है—"बिम्ब का अर्थ है : सूर्य-चन्द्र-मण्डल, प्रतिच्छवि, प्रतिच्छाया, प्रतिबिम्बित अथवा प्रत्यांकित रूप, चित्र। बिम्ब के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली कतिपय अन्य परिभाषाएँ भी द्रष्टव्य हैं—

टी० ई० ह्यूम के अनुसार—"बिम्ब पदार्थों के आन्तरिक सादृश्य की अभिव्यक्ति है।"

सी० डे० लेविस के शब्दों में—"काव्य-बिम्ब एक प्रकार का भाव गर्भित शब्द-चित्र है।"

ह्वैले के मतानुसार—"किसी अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनः निर्मित ही बिम्ब-योजना है।

मिस कोरोलिन स्पर्जियन ने बिम्ब के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"काव्य में प्रयुक्त प्रत्येक उपमा, रूपक, कल्पनाचित्र या काल्पनिक अनुभूति जिसे कवि अपने विचारों और भावों से समन्वित करके प्रस्तुत करता है, बिम्ब के क्षेत्र में आता है।"

स्टीफन ब्राउन—"रूपक, उपमा, मानवीकरण, स्निकेडोक, मेटोरिमी, समासोक्ति, मुहावरे, लोककथा और प्रतीक-चिह्न सभी कुछ बिम्ब शीर्षक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।"

रिचर्ड एच० फोगेल ने बिम्ब की संवेदनात्मकता पर बल दिया है। उनका कहना है कि "मनोवैज्ञानिकों एवं आलोचकों में कविता को संवेदना की अनुभूति का प्रकाशन मानने की धारणा है, यह संवेदना जो विभिन्न—दृश्य, श्रवण, घ्राण, स्पर्श, स्वाद—प्रकारों से आती है। मस्तिष्क के सम्मुख मूल और मौलिक संवेदना को अधिक-से-अधिक विश्वसनीय, सही और व्यापक रूप में प्रस्तुत करती है। इस प्रकार से एक काव्यात्मक बिम्ब केवल संवेदना का प्रकाशन है।"

प्रसिद्ध बिम्बवादी एजरा पाउंड ने बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार दी है : "बिम्ब वह है जो तात्कालिकता में बौद्धिक और भावात्मक संसृष्टि को उपस्थित करता है।"

काव्य बिम्ब दृश्य-अर्थ के अधीन होते हैं। प्रत्येक अर्थ का एक बिम्ब होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—

"काव्य-विम्ब का माध्यम शब्द-अर्थ है। यों तो प्रत्येक सार्थक शब्द में कोई न कोई बिम्ब निहित रहता है—वास्तव में प्रत्येक शब्द का एक बिम्ब होता है पर उनका ऐन्द्रिय या गोचर रूप निरन्तर प्रयोग से छिप जाता है। इसलिए काव्य के लिए सामान्य प्रयोग के शब्द अधिक उपयोगी नहीं रहते और कवि को अपनी समृद्ध भावना तथा कल्पना के द्वारा इन बिम्बों को फिर से उभारना पड़ता है या शब्दों को नए बिम्बों से गर्भित करना पड़ता है। यही भाषा का भावात्मक प्रयोग है। संस्कृत साहित्य शास्त्र की लक्षणा और व्यंजना इसी कल्पनात्मक प्रयोग के माध्यम-उपकरण हैं। इस प्रकार काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।"

बिम्बों की उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के अध्ययन के पश्चात् निम्न बातें प्रकाश में आती हैं :

१. बिम्ब एक प्रकार का शब्द-चित्र ही होता है।
२. बिम्ब में वस्तुओं के आन्तरिक सादृश्य को उजागर किया जाता है।
३. बिम्ब का सम्बन्ध ऐन्द्रियता से होता है और इनके माध्यम से आध्यात्मिक सत्यों को पाया जाता है।
४. बिम्ब में अमूर्त विचार और भाव की पुनः रचना होती है।
५. बिम्ब में दो अन्तःविरोधी संवेदनाओं का आन्तरिक तनाव होता है।

लेविस ने बिम्ब के छह गुणों का उल्लेख किया है :

१. भावनाओं को उद्दीप्त करने की क्षमता।
२. भावों को तीव्रता के साथ प्रस्तुत करने की सामर्थ्य।
३. परिचितता।
४. उर्वरता।
५. अभिव्यक्ति की नवीनता।
६. औचित्य।

(१) **भावों को उद्दीप्त करने की क्षमता** (Evocetiveness)—बिम्ब में इतनी सामर्थ्य एवं शक्ति होनी चाहिए कि वह सुप्त भावनाओं को एकदम जाग्रत कर दे। यह उत्तेजन-शक्ति बिम्ब के समग्र रूप में मिलती है। लेविस का कथन है कि यह पूर्णतः व्यक्ति सापेक्ष्य है।

(२) **भावों की तीव्रता**—बिम्ब में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह भाव को तीव्र कर सके। इसके लिए कम से कम शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए, ताकि कवि के भाव और अधिक समृद्ध रूप में काव्य में अभिव्यक्ति हो सकें। इसके लिए संक्षिप्त पदावली और उत्तम शब्दों का चयन आवश्यक है।

(३) **बिम्ब की नवीनता**—बिम्ब की सफलता इसी में है कि पुराने बिम्बों के स्थान पर नए और ताजे बिम्बों का निर्माण किया जाए। नवीन संदर्भों में यह अनिवार्य हो गया है।

(४) **परिचितता**—बिम्ब ग्राह्य केवल तभी हो सकता है, जबकि पाठक उससे पूर्व परिचित हो। यदि बिम्ब के लिए कोई ऐसा उपमान ढूँढ निकाला जाए, जिससे पाठक परिचित नहीं है तो उस बिम्ब की प्रभावमयता अभीष्ट मात्रा में नहीं मिलेगी।

(५) **उर्वरता**—बिम्ब से केवल भावों की अभिव्यक्ति ही नहीं, भावों की एक लड़ी भी उत्पन्न हो जाए, इसी में बिम्ब की उर्वरता निहित है।

(६) **औचित्य**—औचित्य का सम्बन्ध बिम्ब के प्रयोग पर निर्भर करता है। भाव के अनुरूप बिम्ब का निर्माण औचित्य के अन्तर्गत ही आता है।

बिम्ब : प्रकार—डा० नगेन्द्र ने बिम्ब के पाँच प्रकारों का उल्लेख किया है :

१. दृश्य।
२. श्रव्य।
३. स्पृश्य।
४. घ्रातव्य।
५. आस्वाद्य या रस्य।

(१) **दृश्य**—इन्हें चाक्षुष बिम्ब भी कहा जा सकता है। इनमें ऐन्द्रियबोध सर्वाधिक होता है और इनका रूप भी उतना ही स्पष्ट होता है।

(२) **श्रव्य**—इन्हें नादात्मक बिम्ब के नाम से भी जाना जाता है। इनका सीधा सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय (कर्ण) से है। इनमें वर्ण-ध्वनि, छन्द, लय, तुकान्त आदि सन्निहित हैं।

(३) **स्पृश्य**—इसमें स्पर्श-जन्य संवेदनाओं से बिम्ब का निर्माण होता है।

(४) **घ्रातव्य**—इनका सम्बन्ध गन्ध से होता है। इस प्रकार के बिम्ब बहुत कम मिलते हैं।

(५) **आस्वाद्य**—ये बिम्ब सौन्दर्य के आस्वाद्य की अभिव्यक्ति और व्याख्या दोनों में ही मिलते हैं। इन बिम्बों का प्रयोग अपेक्षाकृत सरल होता है।

बिम्बों का विभाजन—वर्गीकरण अन्य आधारों पर भी किया जाता है। सर्जक कल्पना के आधार पर स्मृत बिम्ब, लक्षित और उपलक्षित बिम्बों का नाम लिया जा सकता है। प्रेरक अनुभूति के आधार पर सरल, मिश्र, जटिल, पूर्ण बिम्बों को गिनाया गया है। इसी प्रकार काव्य-दृष्टि के आधार पर दो बिम्बों का नाम लिया गया है—यथार्थ और रोमानी।

बिम्ब और प्रतीक—प्रतीक का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और सभी क्षेत्रों में इसका अर्थ एक-सा नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में प्रतीक भावसत्ता से सम्बद्ध होते हैं और कवि की कल्पना से जुड़े होते हैं। संस्कृत की व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ है: प्रतिस्थापन। दूसरे शब्दों में एक वस्तु के लिए किसी दूसरी वस्तु का स्थापन। हिन्दी में यह शब्द अंग्रेजी के 'सिम्बल' के अर्थ में आया है। 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में प्रतीक के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है: "अमूर्त का मूर्त द्वारा प्रस्तुतीकरण प्रतीक है। वेनेस्टर ने कहा है कि प्रतीक अपने सम्बन्ध, सामंजस्य, रूढ़ि अथवा संयोग से किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत करता है परन्तु उसका उद्देश्य समानता अथवा सादृश्यता नहीं है, वह मुख्यतः किसी दृश्य वस्तु का दृश्य संकेत है।" प्रतीक की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि बिम्ब की भाँति ही यह भी अदृश्य अथवा अव्यक्त सत्ता को दृश्य और व्यक्त रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार किसी सीमा तक प्रतीक और बिम्ब काव्याभिव्यक्ति में समान ही दिखाई देते हैं, परन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है।

(१) प्रतीक जातीय चेतना पर आधारित होता है, बिम्ब व्यक्ति-चेतना पर।

(२) प्रतीक का उद्देश्य भावों और विचारों को प्रतिनिधित्व देना, बिम्ब का कार्य भावों और विचारों को मूर्त रूप देना है।

(३) प्रतीक में एक भाव अथवा वस्तु का प्रतिनिधित्व रहता है, जबकि बिम्ब में समग्रता का।

(४) प्रतीक में स्थूलता को सूक्ष्मता दी जाती है, जबकि बिम्ब में सूक्ष्मता को स्थूलता ।

(५) प्रतीक में भाव के मानसिक और आध्यात्मिक अर्थ दिए जाते हैं। बिम्ब में भाव को दृश्य बनाया जाता है ।

(६) प्रतीक व्यंग्यात्मक होता है, बिम्ब लाक्षणिक ।

(७) अर्थ-ग्रहण की प्रक्रिया में प्रतीक और बिम्ब में अन्तर आ जाता है। प्रतीक जब भी कोई अर्थ ग्रहण करता है, उसे परम्परा, इतिहास और समाज की स्वीकृति से बँधना पड़ता है, जबकि बिम्ब इस दृष्टि से स्वतन्त्र और आकस्मिक होता है ।

(८) बिम्ब में जीवन और जगत् की अनेकता होती है, जबकि प्रतीक में एकता ।

(९) प्रतीक में तार्किक संगति रहती है, बिम्ब में नहीं ।

(१०) प्रतीक मूर्त और अमूर्त दोनों ही होता है, बिम्ब के लिए मूर्त होना आवश्यक है ।

प्रश्न ३९—मिथक के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए इसके विविध रूपों का उल्लेख कीजिए ।

मिथक का प्रयोग अन्य आधुनिक विधाओं के समान पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के संदर्भ मे ग्रहण किया गया है । मिथक के अर्थ-विकास को जानना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है । हिन्दी में यह अंग्रेजी के 'मिथ' (Myth) का समानार्थी शब्द है । मिथक का पहला अर्थ 'देवकथा' था, किन्तु कालान्तर में इसके अर्थ में विकास हुआ और यह काव्य अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों से सम्बद्ध हो गया । आज मिथक का क्षेत्र साहित्य ही नहीं, अपितु लोक साहित्य, धर्म, समाजशास्त्र एवं मनोविश्लेषणशास्त्र भी हो गया है । दूसरे शब्दों में, मिथक की परिधि अब विशाल एवं विस्तृत हो गई है । हिन्दी में भी मिथक प्राय: इसी रूप में ग्रहण किया जा रहा है जैसे अंग्रेजी में । यहाँ मिथक शब्द के अन्य पर्यायवाची शब्दों का भी उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है, जो हिन्दी-आलोचकों, विद्वानों द्वारा प्रयुक्त हो रहे हैं । डा० कैलाश वाजपेयी ने मिथक को 'पुराख्यान तत्त्व' माना है तो डा० कामिल बुल्के ने इसे 'पूराण कथा' कहा है । डा० नगेन्द्र ने इसे कल्पकथा कहा है । इस प्रकार मिथक शब्द का

अर्थ हिन्दी साहित्य में अतिमानवीय एवं दैविक कथाओं एवं संदर्भों से जोड़ा गया है। किन्तु यह अपने आप में एकपक्षीय अध्ययन है। कारण, मिथक के और भी तत्त्व हैं और इस प्रकार मिथक का अर्थ सीमित कर देना है।

मिथक शब्द के अर्थ-विकास की अपनी कहानी है। सामान्यतः मूल रूप में मिथ अथवा मिथक का सम्बन्ध कथा-मात्र से ही था। यूनानी परम्परा में भी इसे कथामात्र ही माना गया है। धीरे-धीरे इसमें विकास हुआ और यह सामान्य कथा से विशेष प्रकार की कथा में परिवर्तित हो गया। कैसल के इनसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर में इसके संदर्भ में कहा गया है—"A myth is a story which for those who tell it and for those who receive it has a kind of cosmic purpose."

इस प्रकार इस विशेष कथा में ब्रह्माण्ड सम्बन्धी कथा को जोड़ दिया गया। और यही अर्थ थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ ग्रहण किया जाने लगा। यह बात दूसरी है कि कालान्तर में मिथक में दैवी शक्ति का उतना प्राधान्य नहीं रहा, जितना पहले था। किन्तु कथा का कोई न कोई संदर्भ धार्मिक अवश्य ही होता था। अंग्रेजी के विभिन्न शब्दकोशों में मिथक का जो अर्थ दिया गया है उसमें इसी ओर संकेत मिलता है। चैम्बर की डिक्शनरी में इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है :

"An ancient traditional story of gods or heroes,esp. one offer an exrplanation of some fact or phenomenon."

वेब्स्टर्स ने मिथक की नवीन संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में विवेचना की है : सत्य का उद्घाटन। मिथक के अर्थ से इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मिथक की कथा मानवीय विश्वासों, आस्थाओं को लेकर चलती है और इसमें प्रतीकात्मक ढँग पर अनुकुल सत्य की अभिव्यक्ति की जाती है।

मिथक : परिभाषा एवं स्वरूप-विवेचन—मिथक का स्वरूप-विवेचन पाश्चात्य जगत् में विविध संदर्भों में दिया है; यथा—साहित्य, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नृतत्वशास्त्र इत्यादि। यहाँ मिथक की विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। धर्म के परिप्रेक्ष्य में इसकी व्याख्या करते हुए ई० ए० गाडनर ने लिखा है : "वह प्रायः प्रत्यक्षतः या परोक्षतः कथा रूप में होता है। सामान्य कथा से अंशतः यह इस रूप में भिन्न है कि मनुष्यों में यह कथा प्रथम बार प्रचारित होती है, वे अवश्य ही इसे तथ्यतः सत्य

मानते हैं। इस प्रकार मिथक कथा, नीति कथा या अन्योक्ति से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार कहानी या रोमांस से।"

समाजशास्त्र के अन्तर्गत मिथक को लोककथाओं के समान माना गया है और इसमें अलौकिक संसार की कहानियों की चर्चा की गई है। समाज-विज्ञान के इनसाइक्लोपीडिया में मिथक की परिभाषा करते हुए कहा गया है : "मिथक लोक साहित्य के समान जातीय आकांक्षाओं का एक सुस्पष्ट माध्यम है। इसके भी आगे कहा गया है कि—"Myth like folk tales are primarily novelistic tales, the two are to be distinguished by the fact that myths are the tales of super-natural world and share also therefore the characterisitic of religious complex."

इसी प्रकार स्टैण्डर्ड डिक्शनरी आफ फोरलोर माइथालाजी एण्ड लीजेण्ड में मिथक के साथ देवी-देवता का वृत्त जोड़ा गया है।

कैसल्स इनसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर में भी मिथक में धार्मिक तथा अलौकिक वातावरण पर बल दिया है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में मिथक की परिभाषा इस रूप में प्रस्तुत की गई है—"मिथक समूहगत विश्वासों को अभिव्यक्त, विकसित और संहिताबद्ध करता है; यह नैतिकता की सुरक्षा और प्रवर्तन करता है, यह धार्मिक अनुष्ठान की सफलता का साक्षी बन कर मानस के पथ-प्रदर्शन के लिए व्यावहारिक नियमों का निर्धारण करता है। मिथक इस प्रकार से मानव-सभ्यता का एक अत्यावश्यक उपादान है। यह एक निराधार प्रथा नहीं, अपितु एक सुपरिचित सक्रिय शक्ति है, यह कोई बौद्धिक व्याख्या या कलात्मक विधान प्रस्तुत नहीं करता, अपितु आदिम विश्वासों और नैतिक विवेक का एक व्यावहारिक दस्तावेज है।" किन्तु इसके विपरीत मैक्समूलर ने मिथक को भाषा का एक रोग माना है। मिथक के जन्म के सम्बन्ध में इनका कहना है—What is commonly called mythology is but a part of a much more general phase through which all languages have at one time or other, to pass।" इस प्रकार मैक्समूलर ने मिथक का जन्म भाषाओं के विकास से जोड़ा है।

अर्न्स्ट कैसिरर ने मिथक की परिभाषा को नए आयामों से सम्बद्ध करके देखा है। उन्होंने मिथक में से अतिप्राकृत तत्त्व को भी निकाल दिया है।

उनके मतानुसार मिथक का क्षेत्र प्रकृति नहीं, समाज है। कैसिरर के मतानुसार मिथक निश्चित ज्ञान की नीति पर आधारित होता है। जार्जकैले ने मिथक को धार्मिक परिवेश में देखा है। उनके अनुसार "प्रतीकात्मक या कथात्मक संरचना में स्पष्टतः वास्तविकता की झलक दिखाता है।"

मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में युंग ने मिथक की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—"मनुष्य अपनी जाति की परम्पराओं को अजाने ही आत्मसात किए रहता है, मोटे तौर पर यही उसका सामूहिक अवचेतन है। मिथक और कविता में यह सामूहिक अवचेतन आद्य रूप अथवा आदर्श रूप में अभिव्यक्ति पाता है।" प्रो० गिलबर्ट मरे ने मिथक का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ अत्यन्त घनिष्ठ माना है—"....that such stories and situalions aure deeply implanted in the memory of the race, stamped as it were upon our Physical organism." कु० माडवोडकिन ने मिथक के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि मिथक में कवि अपनी जातीय संवेदनाओं को प्रकट करता है। इसी प्रकार आई० ए० रिचर्ड्स ने भी मिथक को मानवता के उद्‌गारों की अभिव्यक्ति माना है। रेने वेलेक का सम्बन्ध समाज से जोड़ा है और इसे कलाकार के लिए एक अभिव्यक्ति का साधन स्वीकार किया है। किन्तु इसके साथ ही, उन्होंने इसके धार्मिक पक्ष को भी माना है।

लेवीज़ स्पेन्स ने मिथक में आदिम मानस, धार्मिकता, सामाजिकता एवं अति-प्राकृत तत्त्वों को सन्निहित करते हुए लिखा है कि—"मिथक में किसी देवता अथवा पराप्राकृत सत्ता का एक विवरण होता है। इसे साधारणतः आदिम विचारों की शैली में लाक्षणिकता से अभिव्यक्त किया जाता है।" मिथक के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हैरल्ड के हिंलिग का कथन है—"A myth is that literary from that is peculiarly suitable for the expression of the most basic and deepest faith-belief insights of a culture." मिथक के सम्बन्ध में परिवर्तित विचारधारा का द्योतन ऐडिथ हैमिल्टन की परिभाषा में मिलता है जिन्होंने मिथक में से धर्म को बाहर निकाल दिया है। उनका कथन है: 'अधुनातन विचार के अनुसार धर्मगाथा का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह प्रकृति की किसी बात की व्याख्या होती है, जैसे विश्व में कोई या प्रत्येक वस्तु किस प्रकार अस्तित्व में आई........धर्मगाथाएँ आरम्भकालीन विज्ञान हैं, मनुष्य के

उस प्रथम प्रयत्न का प्रतिफल जिसके द्वारा उसने अपने चारों ओर की वस्तुओं की व्याख्या की........किन्तु तथाकथित धर्मगाथाओं में ऐसी भी हैं जो कोई व्याख्या नहीं करतीं।"

हेनरी जे० मरे० के शब्दों में—"मिथक किसी अनुमानित, विलक्षण अथवा आवृत्त घटना का बोधात्मक तथा नाटकीय प्रतिवस्तुस्थापन है, यह घटना किसी महत्त्वपूर्ण विचार वस्तु को धारण करती है जो सर्वप्रथम मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होती है और तत्पश्चात् शब्दों में, अर्थकार्यों में या किसी कलात्मक रूप में अभिव्यक्ति पाती है। ये हैं क्रमशः बिम्बात्मक, इतिवृत्तात्मक, अभिनीत और चित्रांकित मिथक।"

मिथक : तत्त्व-विवेचन

(१) **कथातत्त्व**—मिथक में प्रायः सभी विद्वानों ने कथा का होना आवश्यक माना है। यह बात दूसरी है कि इसमें कथा का वह शिल्प नहीं होता जो हम सामान्य काव्य-रूपों में पाते हैं। कथा के माध्यम से सत्य एवं संवेदनाओं की अभिव्यक्ति होती है। इसमें व्यक्त घटनाएँ, यह आवश्यक नहीं है कि, ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य ही हों। परन्तु जनसमूह में व्यक्त आस्थाएँ एवं विश्वास ही इसे सत्य रूप प्रदान करते हैं। मिथक में तथ्यों का बहुत अधिक महत्त्व नहीं होता।

(२) **आदिम मनोवृत्ति**—मिथक के स्वरूप-विवेचन विश्लेषण में आदिम मनोवृत्ति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रायः सभी विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि मिथक में आदिम मस्तिष्क की धारणा ही कार्य करती है।

(३) **प्रतीकात्मकता**—मिथक की प्रायः सभी घटनाएँ, पात्र एवं वर्णन प्रतीकात्मक महत्त्व रखते हैं। जब तक मिथक के प्रतीकों को नहीं समझा जाता, तब तक मिथक के प्रयोजन को भी नहीं समझा जा सकता। मिथक में प्रयुक्त प्रतीक परम्परागत अर्थों अथवा निश्चित अर्थों को लेकर नहीं चलते। कलाकार अपनी इच्छा से उनका प्रयोग करता है और इस प्रकार एक ही प्रतीक के विविध अर्थ हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, मिथक में प्रयुक्त प्रतीक रूढ़ि को जन्म नहीं देते।

(४) **धार्मिकता एवं अलौकिकता**—मिथक में परम्परा से धर्म का तत्त्व इतने गहरे रूप में समाया हुआ है कि पहले-पहल मिथक का अर्थ धर्मगाथा से

ही लगाया जाता था। यद्यपि आधुनिक विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया है कि मिथक धर्मगाथा है, परन्तु यह तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है कि मिथक का मूलाधार धर्म ही है परन्तु आज वह मात्र धर्म का वाचक न होकर समाज के सांस्कृतिक मूल्यों एवं आस्थाओं की भी अभिव्यक्ति करता है।

(५) **रचनाकार अज्ञात**—मिथक एक दीर्घ विश्वास एवं आस्था की परम्परा से उद्भूत होता है। प्राचीन युग के मिथकों का जनक कौन है, यह जानना बहुत कठिन है। कारण, मिथक व्यक्ति की अपेक्षा जाति और समूह से सम्बद्ध होता है। और इस प्रकार यह जानना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो जाता है कि अमुक मिथक का प्रेरणा-स्रोत कौन है।

(६) **तत्त्वों का रहस्योद्घाटन**—मिथक में लौकिक रीति-रिवाजों अथवा अलौकिक रहस्यों का उद्घाटन होता है। पहले-पहल इसमें ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित रहस्यों का अधिक उद्घाटन होने के कारण मिथक में इसे अपरिहार्य तत्त्व गिना गया। बाद में चलकर इसमें यह भी समाविष्ट कर दिया गया कि मिथक में मानव-जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का उद्घाटन होता है।

(७) **तत्त्व की प्रधानता**—मिथक में तथ्य की अपेक्षा तत्त्वों की प्रधानता होती है। इसी कारण मिथक में प्रतीकात्मकता आती है और यह इतिहास से पृथक् होता है।

(८) **सत्य का विशिष्ट रूप**—मिथक का सत्य इतिहास का नहीं, जनसमूह का सत्य होता है। जनसमूह की आस्थाएँ, विश्वास ही उसे सार्थक आधार प्रदान करती हैं।

(९) **विकसनशीलता**– मिथक युग-युग के प्रवाह से निर्मित होता है। उसे कोई एक व्यक्ति नहीं बनाता। यही कारण है कि एक ही मिथक में भिन्न-भिन्न युगों की भावनाओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार युगीन संदर्भों में मिथक का स्वरूप एवं कलेवर परिवर्तित होता रहता है।

(१०) **समूह की अभिव्यक्ति**—मिथक में जाति या समूह की भावनाएँ, आस्थाएँ और विश्वास अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मिथक रचना में कवि की निजी अनुभूति का कोई स्थान नहीं रहता। वास्तव में मिथक व्यक्ति और समाज का तादात्म्य हो जाता है।

मिथक : प्रकार

ई० ए० गार्डिनर ने विविध प्रकार के मिथकों को १२ श्रेणियों में विभाजित किया है—

(क) प्राकृतिक परिवर्तनों से सम्बन्धित मिथक ।
(ख) प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्धित मिथक ।
(ग) असामान्य प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्धित मिथक ।
(घ) सृष्टि के उद्‌भव से सम्बन्धित मिथक ।
(ङ) देवताओं के जन्म से सम्बन्धित मिथक ।
(च) मनुष्य और पशुओं के जन्म से सम्बन्धित मिथक ।
(छ) आवागमन से सम्बन्धित मिथक ।
(ज) परिवारों एवं राष्ट्रों से सम्बन्धित मिथक ।
(झ) सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित मिथक ।
(ञ) मृत्यु के उपरान्त स्थिति से सम्बन्धित मिथक ।
(ट) दानवों और दैत्यों से सम्बन्धित मिथक ।
(ठ) ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित मिथक ।

प्रश्न ४०—सौन्दर्य किसे कहते हैं ? सौन्दर्य की व्युत्पत्ति बतलाते हुए इसकी परिभाषाएँ दीजिए तथा इसके दृष्टिकोण का विश्लेषण करते हुए सौंदर्य के विविध रूपों का वर्णन कीजिए ।

सौन्दर्य शब्द की सिद्धि संस्कृत के सुन्दर (विशेषण) शब्द से भाव अर्थ में 'ष्यञ' प्रत्यय जुड़कर हुई है । सुन्दर शब्द की व्युत्पत्ति 'वाचस्पत्यम्' कोश के अनुसार 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्द्' धातु में 'अरन्' प्रत्यय जुड़कर हुई है । सुन्दर का अर्थ होता है अच्छी तरह प्रसन्न करना—सु=अच्छी प्रकार, सुष्ठु और उन्द्=आर्द्र करना, अरन्=कर्तृ वाचक प्रत्यय ।

सौन्दर्य शब्द की एक व्युत्पत्ति और है—'सुन्द राति इति सुन्दरम्, तस्य भावः सौन्दर्यम्' अर्थात् जो सुन्द को लाता हो वह सुन्दर और जहाँ उसका भाव हो वह सौन्दर्य कहलाता है ।

सौन्दर्य शब्द के अनेक अर्थ हैं और इसलिए इसे व्यापक अर्थ वाला कहा जाता है । अंग्रेजी में इसे Beauty (बाह्य आंगिक सौन्दर्य) कहते हैं । सर मोनियर विलियम्स और बेवेस्टर ने इस शब्द का बाह्य तथा आन्तरिक—दोनों ही प्रकार के सौन्दर्य को समाविष्ट करने वाला अर्थ किया है ।

सौन्दर्य की परिभाषाएँ—सौन्दर्य के स्वरूप को समझने के लिए कुछ भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की एतद्विषयक परिभाषाओं पर विचार करना आवश्यक है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सौन्दर्य को आन्तरिक और बाह्य—दोनों ही प्रकार का माना है। उसकी व्याख्या करते हुए वह लिखते हैं—"सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। यूरोपीय कला समीक्षा की यह एक बड़ी उँची उड़ान या दूर की कौड़ी समझी गयी है, पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। हमारी अन्त:सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।....जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी।"

बाबू सम्पूर्णानन्द के अनुसार, "कुछ ऐसे दृग्विषय हैं जिनको देखकर हृदय में रस का संचार होता है....हम इन सबमें जो मनोहारिता पाते हैं, उसको सौन्दर्य कहते हैं।"

डा० रामविलास शर्मा आनन्ददायक गुण को सौन्दर्य मानते हुए लिखते हैं—"प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सौन्दर्य का विवेचन करते हुए सत्य व सौन्दर्य की सत्ता का प्रतिपादन किया है—This is the ultimate object of our existence that we must ever know that beauty is truth, truth beauty."

पाश्चात्य विचारकों ने भी आरम्भ से ही सौन्दर्य के सम्बन्ध में विचार किया है। प्रथम दार्शनिक विचारक प्लेटो ने भी सौन्दर्य-तत्त्व पर विचार किया है और इसकी सार्थकता शिवत्व के प्रकाशन में मानी है। विक्टर कूजियाँ ने सौन्दर्य के प्रति ऊँची धारणा व्यक्त करते हुए ईश्वर में ही उसे माना है—

Thus the absolute being, which is at one and the same time absolute unity and infinite variety, God, is necessarily

the final cause, the ultimate basis, the realized ideal of all beauty."

हीगल के अनुसार "सौन्दर्य आत्मा का प्रकाशन है।"

"Beauty is the shining of the Idea through matter."

अभिव्यंजनावादी विचारक क्रोचे सौन्दर्य को एक अत्यन्त कल्पनामूलक, निरपेक्ष तथा आत्मपरक सत्ता मानते हुए लिखते हैं—"The beautiful is not a physical fact, beauty does not belong to things, it belongs to the human aesthetic activity, and this is a mental or spiritual fact."

इन परिभाषाओं के आधार पर हमें सौन्दर्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के दृष्टिकोण दिखाई देते हैं—(१) वस्तुपरक दृष्टिकोण और (२) आत्मपरक दृष्टिकोण। जो विचारक इसको बाह्य मानते हैं, उनके दृष्टिकोण वस्तुपरक तथा जो उसे आन्तरिक मानते हैं उनके दृष्टिकोण को आत्मपरक दृष्टिकोण कहा जाता है। कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं जो इन दोनों का सम्बन्ध मानते हैं।

वस्तुपरक दृष्टिकोण—वस्तुवादी दार्शनिकों में सुकरात, अरस्तू, डिडरो, होगार्थ, वर्क, प्रो० बेन, हेमिल्टन, डारविन आदि मुख्य हैं। इन्होंने सौन्दर्य का विवेचन भौतिक अथवा वस्तुवादी दृष्टि से किया है। इनके सौन्दर्य के मापदण्ड मानव की पंचेन्द्रियाँ हैं जिन्हें सुखानुभूति होती है। ये वस्तु या व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं।

आत्मपरक दृष्टिकोण—इस वर्ग के विचारकों ने सौन्दर्य का सूक्ष्म चिन्तन किया है। प्लाटिनस, पीयर एण्ड्री, विवेक, लोज, हरवर्ट, रॅस्किन, क्रोचे आदि इसी वर्ग में आते हैं। इन्होंने वस्तु को अत्यल्प महत्व दिया है। इन विचारकों के अनुसार सृष्टि के मूल में कोई-न-कोई एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ता विद्यमान है जो प्रत्येक क्षण सक्रिय रहकर कार्य कर रही है। यह अध्यात्मिक सत्ता निरपेक्ष ज्ञान या प्रज्ञा कहलाती है। विशर का अनुमान है कि सौन्दर्य की सम्यक् मीमांसा अद्वैत की भूमि पर ही हो सकती है। फिर सौन्दर्य सम्बन्धी निर्णय व्यक्तिगत भी होता है। मन के बाहर सौन्दर्य की सत्ता कहीं भी नहीं है। सौन्दर्य एक मानसिक वृत्ति मात्र है। प्लेटो की धारणा है कि सृष्टि का मूल सौन्दर्य है, जो सदा अखण्ड और एक रस रहता

है। जाफ्राय के अनुसार सौन्दर्य और ईश्वर एक ही है। प्रकृति का समस्त सौन्दर्य उसी परमात्मा का प्रकाश है।

भारतीय विचारधारा के अनुसार भी जगत् का सौन्दर्य परमात्मा के नाते स्वीकार किया गया है। कोरा बाह्य सौन्दर्य अपने आप में क्षुद्र है, ब्रह्म भावना से युक्त होकर ही वह रमणीय और आकर्षक होता है। यह सौन्दर्य इन्द्रियों से सम्बद्ध न होकर आत्मतत्त्व है। सौन्दर्य के प्रति यह दृष्टि आदर्शवादी रही है, पर इसमें यथार्थ का भी सुन्दर समन्वय हुआ है। शंकराचार्य ने भी 'सौन्दर्य लहरी' में इसी तथ्य का समर्थन किया है।

विवेचन—सौन्दर्य-विषयक इन दोनों दृष्टिकोणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये दोनों ही विचारणायें अतिवादी हैं। कुछ सौन्दर्यशास्त्री सामंजस्यवादी दृष्टि भी रखते हैं। फिर सौन्दर्य को काव्योपयोगी बनाने के लिए इसका समन्वय आवश्यक ही है। स्वयं प्रकृति भी किसी वस्तु के अतिरेक को प्रोत्साहित नहीं करती। इसीलिए प्रसाद बुद्ध के विचारों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

"छोड़कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगत सुधार।"

सौन्दर्य के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक आधार—अब हम सौन्दर्य-भावना के उत्पादन में सहायक कारणों तथा उनके मनोवैज्ञानिक आधारों का वर्णन करेंगे।

सौन्दर्य-भावना के निर्धारण में अनेक बातें सहायक होती हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के सौन्दर्य-निर्धारण का अपना मानदण्ड होता है। किसी पदार्थ को देखकर मन में अनेक मधुर और सुन्दर भावनाएँ जागृत होती हैं। वस्तु सुन्दर न हो पर इन नवोदित भावों के कारण उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक होती हैं। इस प्रकार सौन्दर्य की उत्पत्ति का कारण यौनभावनाएँ ही हैं। यौनभावना की क्षीणता या उसकी समाप्ति के साथ ही द्रष्टा विशेष के लिए सौन्दर्यानुभव की क्षमता भी क्षीण या समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की आयु भी सौन्दर्य निर्धारण में सहायक होती है। इससे भी सौन्दर्य का काम-सम्बन्धी आधार सिद्ध होता है। पर आयु-विशेष ही इसमें मूल नहीं है, साथ ही साहचर्य एवं सामीप्य भी सौन्दर्य-भावना को जाग्रत अथवा निर्जीव कर देता है। जो वस्तु प्राप्य होती है, उसके प्रति उदासीनता और जो अप्राप्य, सुदूर तथा रहस्यपूर्ण होती है, उसके प्रति जिज्ञासा-जन्य

सौन्दर्य होता है। शिक्षा और संस्कार व परम्पराएँ भी सौन्दर्य-भावना की उत्पत्ति में सहायक होती हैं।

साहित्यिक आधार—मनोवैज्ञानिक आधार तो सौन्दर्य की भावना के अस्तित्व का एक आधारमात्र है, पर साहित्यकार तो रसात्मक पद्धति से सौन्दर्य-निरूपण द्वारा जीवन के सर्वोच्च-तत्त्व का दर्शन हमें कराने का आकांक्षी होता है। यही कारण है कि कवि की सौन्दर्यानुभूति का ढंग अन्य सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। वह इस सौन्दर्य को कल्पना-चित्रों के माध्यम से ग्रहण करता है और फिर उनका रसात्मक निरूपण करता है। अतः साहित्य में केवल मनोवैज्ञानिक नीरसता का ही उल्लेख नहीं होता, वरन् वह इससे ऊपर उठकर प्रकृति व मानव-जगत् के सौन्दर्य को कला के जगत् में लाकर उसका जीवन्त रसानुभव कराता है। इस प्रकार सौन्दर्य की यह अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक धरातल से भी ऊपर उठ जाती है।

सौन्दर्य की सामान्य विशेषताएँ—सौन्दर्य की प्रथम विशेषता आकर्षण है। सौन्दर्य के साथ-साथ सौन्दर्य-द्रष्टा में भी आकर्षणीयत्व होना चाहिए; अन्यथा वह सौन्दर्य को ग्रहण न कर सकेगा। इन्द्रिय-व्यापार की सहायता से द्रष्टा अपने मन में सौन्दर्य की परम अनुकूल भावना का अनुभव करता है। आदर्शवादियों की दृष्टि में सौन्दर्य ईश्वरीय देन है। इसी प्रकार प्रकृति का सौन्दर्य भी ब्रह्म के नाते ईश्वरीय सौन्दर्य है। कालिदास ने सौन्दर्य की अनुभूति के साथ-साथ जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध माना है।

सौन्दर्य का दूसरा गुण पवित्रता तथा पापरहितता है। जो सौन्दर्य निर्दोष अथवा पवित्र नहीं है, वह दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। सौन्दर्य के साथ गर्वादि दुर्गुण नहीं रह जाते। सूरदास की मान्यता है कि सौन्दर्य के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने वाले पूर्ण निर्भय हो जाते हैं, यह तत्त्व अनिर्वचनीय है—**'शोभा कहत कहे नहिं आवै।'**

सौन्दर्य का दर्शन करते ही सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इसकी अन्य प्रमुख विशेषताएँ आश्चर्य एवं कुतूहल की भावना है। साथ ही इसका सम्बन्ध स्वाभाविक तथा अकथनीय रहस्य-भावना से भी है। दार्शनिकों की तो यहाँ तक धारणा है कि रहस्य के अभाव में सौन्दर्य ही नहीं रहता।

सौन्दर्य के प्रकार—यों तो सौन्दर्य अखण्ड, अनिर्वचनीय तथा अविच्छेद्य

है, किन्तु सुविधा तथा वस्तु के अनुसार उसे चार प्रकार का माना जा सकता है—

(१) मानवीय सौन्दर्य।

(२) प्राकृतिक सौन्दर्य।

(३) वस्तुगत सौन्दर्य।

(४) कलागत सौन्दर्य।

इनमें से प्रथम तीन रूप तो प्रकृति अथवा जीवन में ही प्राप्त होते हैं, परन्तु चौथे कलागत सौन्दर्य का आधार मन की भावना अथवा कल्पना है। यह प्रकार प्रथम तीन प्रकारों से अपनी सामग्री का संचयन करता है। इस प्रकार जब प्रथम तीन रूप कवि-कल्पना के माध्यम से काव्य या कला में वर्णित होते हैं, तो उसकी अभिव्यक्ति के अनुसार कलागत सौन्दर्य की सृष्टि होती है।

(१) **मानवीय सौन्दर्य**—लोक-व्यवहार और कला—दोनों में मानवीय सौन्दर्य निहित होता है। यह सौन्दर्य काव्य की मूल प्रेरणा का अखण्ड स्रोत है। कवि मानवीय सौन्दर्य का अनुमान करके ही चराचर को उसका रसपान कराता है। यह मानव-सौन्दर्य प्रकृति का ऋणी है। इस सौन्दर्य को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) नारी-सौन्दर्य और (२) पुरुष-सौन्दर्य। इन दोनों का वर्णन शृंगार की रस-व्यंजना के लिए भी होता है। इनमें भी नायिका का सौन्दर्य-वर्णन कवियों ने अधिक किया है और यह वर्णन प्रायः बाह्य सौन्दर्य-वर्णन पर ही आधारित रहा है। यद्यपि वात्सल्य रस के माध्यम से, शिशु-सौन्दर्य का भी वर्णन किया जाता है, पर यह समय-समय पर ही होता है—प्रचलित दो ही हैं।

स्त्री-सौन्दर्य—इसको भी दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल सौन्दर्य में बाह्यपक्ष—रूप का तथा सूक्ष्म सौन्दर्य में आन्तरिक पक्ष—शील का वर्णन आता है। दोनों मिलकर ही पूर्ण सौन्दर्य की भावना उत्पन्न करते हैं।

पुरुष-सौन्दर्य—इस सौन्दर्य का काव्य में अपेक्षाकृत कम वर्णन मिलता है। स्त्री की तरह पुरुष के बाह्यरूप का इतना महत्त्व नहीं है, जितना उसके कर्म-सौन्दर्य का। यह कर्म-सौन्दर्य प्रायः रण-क्षेत्र में शौर्य के रूप में दिखाया जाता

है। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के कार्यों में भी साधु-पुरुषों का सौन्दर्य उभारा जाता है।

शिशु-सौन्दर्य—शिशु के रूप-सौन्दर्य को देखकर हृदय सात्त्विक उल्लास से भर जाता है। इस सौन्दर्य में बालक की चंचलता, भोलापन, निष्कपटता, सरलपन, हँसी, रूठना, इठलाना, हँसना, अटपटाकर बोलना आदि आता है।

(२) **प्राकृतिक सौन्दर्य**—प्रकृति का मानव से गहन सम्बन्ध है। यह शुद्ध व निष्काम आनन्द का अनुभव कराती है। इसी से इसका साहित्य में महत्त्व-पूर्ण स्थान है। प्रकृति का सौन्दर्य कवि के भाव-विस्फोट का प्रबल प्रेरक तत्त्व है। इस सौन्दर्य के माध्यम से कवि अपने भावों की व्यंजना करता है। मानवीय सौन्दर्य के सम्बन्ध में व्यक्ति और राष्ट्र की दृष्टि से रुचि में भेद हो सकता है पर प्रकृति का सौन्दर्य सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहता है। मानव प्रकृति में अपने भावों की प्रतिच्छवि भी देखता है। काव्य में प्रकृति से सौन्दर्य का उपयोग अनेक रूपों में होता है; यथा—(१) आलम्बन रूप में, (२) उद्दीपन रूप में, (३) मानवीकरण रूप में; (४) अलंकार रूप में, (५) प्रतीक रूप में, (६) रहस्यमयी सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में. (७) नैतिकता तथा उपदेश ग्रहण के रूप में. (८) वातावरण-सृष्टि एवं पृष्ठभूमि के रूप में (९) दार्शनिक तथ्यों की उद्भावना के रूप में, और (१०) दूतिका रूप में।

प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभव करके कवि की भावना दो प्रकार से अभिव्यक्त होती है—

(क) गम्भीर भाव-व्यंजक के रूप में।

(ख) प्रकृति-चित्रण के रूप में।

(३) **वस्तुगत सौन्दर्य**—तीसरे प्रकार का सौन्दर्य वह होता है जो आविष्कार-बुद्धि से उत्पन्न मानवकृत वस्तुओं में पाया जाता है। इस सौन्दर्य को वस्तुगत-सौन्दर्य कहते हैं। सुविधा के लिए इसे दो भावों में बाँटा जा सकता है—(१) मानव-कृत उपयोगी वस्तुओं का सौन्दर्य और (२) मानव-कृत कलाकृतियों का सौन्दर्य।

यद्यपि इन दोनों प्रकार के सौन्दर्यों के बीच किसी प्रकार की सीमारेखा खींचना दुष्कर है, क्योंकि उपयोगी पदार्थ कला-चातुरी से निर्मित किए जाने के कारण उच्चकोटि की कलाकृतियों का-सा सौन्दर्य धारण कर लेते हैं। पर अनुभूति और उपयोगिता के आधार पर ही ये भेद हो सकते हैं।

साधारण उपयोगी वस्तुओं के प्रति हमारे हृदय में सौन्दर्य की सूक्ष्म भावना अधिक नहीं रहती। उनके आकार-प्रकार, रूप-रंग आदि की चर्चा मात्र ही होती है। हाँ, कुछ परिस्थितियों में यह सौन्दर्य-बोध काफी गहरा हो जाता है और यह भावना पर आधृत होता है। जिन पदार्थों में सौन्दर्य-तत्त्व जितना अधिक होगा, वह वस्तु उतनी ही आनन्ददायिनी हो जाएगी।

(४) **कलागत सौन्दर्य**—कलागत सौन्दर्य मनोजगत् का सौन्दर्य है, जिसकी सामग्री बाह्य जगत् से प्राप्त की जाती है। बाह्य जगत् की सामग्री जब अन्तः-करण में जाकर वहाँ की प्रक्रिया से मिलकर बाहरी जगत् में चित्र, संगीत, काव्य आदि के रूप में लौट आती है, तब वह कलागत सौन्दर्य कही जाती है। इस सौन्दर्य की उत्पत्ति उच्च आनन्द के लिए कलाएँ करती हैं।

यह सौन्दर्य बाह्य चरम चक्षुओं से दिखाई न पड़कर अनुभूति का विषय होता है। इस सौन्दर्य की विशेषता यह है कि जो दृश्य या भाव सामान्य को प्रभावित नहीं करते, वे कलागत-सौन्दर्य के माध्यम से अत्यन्त प्रभावकारी हो जाते हैं। यह कलागत-सौन्दर्य सभी विद्वानों द्वारा मान्य रहता है। रसवादी आचार्य इसे काव्य की आत्मा मानते हैं।

निष्कर्ष—इस विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्य की सत्ता का अस्तित्व तो सभी विद्वान् मानते हैं पर उसे एक ही काव्य-धर्मों में न मानकर विभिन्न काव्य-धर्मों में मानते हैं और इसी से सौन्दर्य के विविध रूप हैं।

प्रश्न ४१—पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों द्वारा किये गए काव्य के वर्गीकरण का उल्लेख कीजिए और उसके विविध रूपों को स्पष्ट कीजिए।

काव्य को मानवीय भावनाओं का सहज उच्छ्वास माना जाता है। एतदर्थ, मानव की विभिन्न भावनाओं की तरह काव्य के भी अनेक रूप हैं तथा मानवीय विचारों की तरह काव्य का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक है। जैसे कवि किसी घटना, स्थिति अथवा दृश्य से अनुभूति के जाग्रत होने पर उसकी काव्य के रूप में अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार यह अभिव्यक्ति भी अनेक रूपों में आभासित होती है। कवि की अनुभूति मुख्यतः तीन प्रकार की होती है—(क) व्यक्तिगत अनुभूति, (ख) समाजगत अथवा समष्टिगत अनुभूति और (ग) दोनों की मिश्रित अनुभूति।

इस आधार पर काव्य के भी तीन भेद किए जा सकते हैं—

(१) आत्मप्रधान काव्य (Subjective Poetry)
(२) विषयप्रधान काव्य (Objective Poetry)
(३) मिश्रित अथवा नाट्यकाव्य (Dramatic Poetry)

इन तीनों प्रकार के काव्यों का कवि-अनुभूति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आत्मप्रधान काव्य में कवि अपनी अनुभूति तथा धारणाओं की विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति करता है, विषय-प्रधान काव्य में कवि की दृष्टि समाजगत रहती है, यद्यपि इसमें भी उसका व्यक्तित्व रहता है, पर वह रहता प्रच्छन्न रूप में ही है। तीसरे रूप में कवि न तो अपनी भावनाएँ प्रत्यक्ष रूप में ही कहता और न वह उससे तटस्थ ही रहता है, इस रूप में वह दोनों ही प्रकार के काव्यरूपों का सामंजस्य करता है। इसी से काव्यरूप में नाटकीयता का समावेश हो जाता है, पर यह नाटकीयता घटना और शैली की ही होती है।

यहाँ हम संक्षेप में इन तीनों काव्यरूपों का अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन से पहले हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि यह वर्गीकरण काव्य के रूढ़ अर्थ कविता अर्थात्—लय—छन्दबद्ध काव्य के स्वरूप के आधार पर किया गया है। काव्य शब्द का प्रयोग यहाँ पर साहित्य के अर्थ में नहीं है।

(१) **आत्मप्रधान काव्य** (Subjective poetry)—इस प्रकार के काव्य में कवि की दृष्टि पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी रहती है। वह बाह्य जगत् को भूलकर अपनी आन्तरिक इच्छाओं व भावनाओं की व्यंजना ही करता है। इस तरह के काव्य को व्यक्तिपरक अथवा आत्मपरक काव्य भी कह सकते हैं। इसमें सर्वत्र भावनाओं की प्रबलता रहती है। कवि आत्मलीन होकर अपने हृदयगत उद्‌गारों की अभिव्यक्ति करता है। इस रूप के काव्य में कवि अलंकृत शैली की अपेक्षा सरल, प्रवाहपूर्ण तथा संगीतमयी भाषा-शैली का प्रयोग करता है। कवि अपनी इच्छाओं, निराशाओं, अतृप्त आकांक्षाओं, विषाद, व्यथाओं, उत्फुल्लता आदि का मार्मिक शब्दों में वर्णन करता है। इसका मूलकारण स्वान्तःसुखाय होता है। भावुकता में बहकर कवि मानसिक स्थिति की विवेचना करता है और प्रत्येक चित्रण को अपनी भावनाओं के अनुरूप देखता है।

आत्मप्रधान काव्य की विवेचना करते हुए हडसन ने कहा है कि इस काव्य में कवि अन्तर्मुखी होकर अपने अनुभवों, विचारों और अनुभूतियों को ही खोजता है और इसी से अपने विषय की प्रेरणा प्राप्त करता है—

"There is the poetry in which the poet goes down into himself and finds his inspirations and his subjects in his own experiences, thoughts and feelings."

आत्मप्रधान काव्य का प्रमुख रूप गीतिकाव्य है। इसका जन्म मानवीय वेदनामयी अनुभूति से ही होता है। एक हिन्दी कवि ने भी लिखा है—

"चाहे कोई लिखे किसी के लिए लिखे,
जन्म गीत का सदा दर्द से होता है।
अब तक का तो कहता है इतिहास यही
कवि पीछे लिखता, पहले तो रोता है।"

पर इस वेदना की अभिव्यक्ति भी अनेक रूपों में होती है। अतः मानवीय भावों के भेद के आधार पर गीतिकाव्य के भी अनेक भेद किये जा सकते हैं, जिसमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

(i) **स्तुति-गीत** (Hymns Lyrics)—गीतिकाव्य के भेदों में स्तुति-गीत का प्रमुख स्थान है। मनुष्य प्रारम्भ से ही किसी-न-किसी भावना से प्रेरित होकर किसी सत्ता की पूजा करता आया है। वह कभी भयवश, कभी श्रद्धा से और कभी किसी अन्य विशेष भावना से प्रेरित होकर पूजा करता है। इस प्रकार भाव-गीतों की रचना में प्रवृत्त होता है। भावपूर्ण गीतों को ही 'स्तुति-गीत' कहते हैं।

(ii) **राष्ट्रीय गीत** (Patriotic Lyrics)—राष्ट्रीय गीतों के अन्तर्गत कवि के स्वदेश एवं सांस्कृतिक भावना से परिपूर्ण गीत आते हैं। अपने देश और जाति के प्रति कवि की भावपूर्ण प्रेमाभिव्यक्ति ही इस प्रकार के गीतों का मुख्य विषय होती है।

(iii) **प्रणय-गीत** (Love Lyrics)—प्रणय-गीतो में कवि अपने व्यक्तिगत जीवन से ओत-प्रोत प्रेमभावना की अभिव्यक्ति करता है। यह अभिव्यक्ति शृंगारिक भी हो सकती है और कारुणिक भी; किन्तु उसके मूल में प्रणय-भावना विद्यमान रहती है। शृंगार के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग प्रणय-गीतों के प्रेरक होते हैं।

(iv) **शोक-गीत** (Elegy)—शोक-गीतों की रचना के मूल में आत्यन्तिक दुख की भावना होती है। इन गीतों में दुःख की भावना ही प्रधान होती है। ये अधिकतर शोक आदि को व्यक्त करने के लिए ही लिखे जाते

हैं। इसके मूल में हृदय का गहन आघात होता है, जो मानव-हृदय को भाव-विह्वल करके झकझोर डालता है। निराला का 'सरोज स्मृति' गीत इसी प्रकार की रचना है।

(v) **गौरव-गीत** (Ode)—गौरव-गीत वस्तुतः छन्द कविता होती है। पश्चिम में इसका विशेष प्रचलन है। यह एक व्यक्तिगत गीत होता है, जिसकी शैली प्रभावयुक्त, ओजस्वी एवं आह्लादात्मक होती है। विशुद्ध गीत में और 'ओड' में इतना ही अन्तर होता है कि जहाँ गीतों में केवल भावना ही प्रधान होती है, वहाँ ओड में थोड़ा-सा कथानक विद्यमान रहता है। कुछ विद्वान् इसको गीत नहीं मानते, किन्तु यह मत अमान्य है, क्योंकि 'ओड' भी एक प्रकार का गीत ही है। इसे सम्बोधन गीत भी कहते हैं।

(vi) **हर्ष-गीत** (Convivial or Baechanolan Lyrics)—हर्ष-गीतों की रचना हर्षातिरेक के परिणामस्वरूप आविर्भूत भावाभिव्यक्ति के कारण है। ये विशेषतः किसी पर्व, समारोह या उत्सव पर गाये जाते हैं।

(vii) **पत्र-गीत** (Epistile Lyrics)—पत्र शैली के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले भावनापूर्ण गीतों को पत्र गीत कहा जाता है। यह भेद भावों के आधार पर न होकर शैली के प्रकार-विशेष पर आधृत होता है।

(viii) **व्यंग्य-गीत** (Satire Lyrics)—व्यंग्य-गीतों में व्यंग्य की प्रधानत्ता होती है। इस व्यंग्य का मूल कारण प्रधानतः प्रेम होता है, इसमें घायल-हृदय के मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति-व्यंग्य शैली में होती है।

(२) **विषयप्रधान काव्य** (Objective poetry)—विषयप्रधान काव्य की दृष्टि बहुमुखी होती है। वह उनमें अपने वातावरण का चित्रण करता है। यहाँ कवि अपने विचारों की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष शैली से न करके अप्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में करता है। इस प्रकार के काव्य में वैयक्तिक भावना का अभाव होता है और विषय का चित्रण प्रमुख। ऐसी कविताएँ विषयप्रधान काव्य के अन्तर्गत आती हैं। हडसन ने आत्म-प्रधान और विषय-प्रधान काव्य का अन्तर इस प्रकार बताया है—"आत्म-प्रधान काव्य अन्तःप्रेरणा का काव्य है; उसमें कवि लेखन-सामग्री के लिए अपने हृदय को टटोलता है; यहाँ तक कि बाह्य-जगत् को भी वह अपने में समा लेता है और अपने भावों में इसका अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करता है। विषय-प्रधान काव्य में कवि स्वयं में केन्द्रीभूत न होकर जीवन में उतरता है और वहाँ अपने भावों तथा विषयों को पाकर

उसमें अपने व्यक्तित्व का यथासम्भव कम-से-कम मिश्रण करके अभिव्यक्ति करता है।"

विषय-प्रधान काव्य के भी अनेक भेद किये जा सकते हैं जिनमें से सात-भेद प्रमुख हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(i) **महाकाव्य** (Epic)—महाकाव्य काव्य का प्राचीन रुवरूप है। पश्चिम में इलियट और ओडेसी प्राचीनतम महाकाव्य हैं, परन्तु भारत में रामायण और महाभारत उनसे भी अधिक प्राचीन हैं। लाक्षणिक रूप में महाकाव्य का स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता, परन्तु विषय एवं शैली को दृष्टि में रखकर महाकाव्य के दो भेद किये जा सकते हैं—(क) विकसनशील महाकाव्य (Epic of growth) और (ब) साहित्यिक महाकाव्य (Epic of Art)। प्रथम काव्य पर लेखक का एकाधिकार होता है और समय-समय पर आवश्यकतानुसार वे उसे लिखते रहते हैं। विकसनशील महाकाव्य की रचना कई पीढ़ियों तक चलती रहती है। उसमें कई प्रक्षेप जुड़ जाते हैं और उसकी प्रामणिकता सन्देहास्पद हो जाती है। साहित्यिक महाकाव्य और विकसनशील महाकाव्य में कथावस्तु और रचयिता का अन्तर होता है। साहित्यिक महाकाव्य की रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा होती है और इसमें कथावस्तु का प्रतिपादन भी तर्कपूर्ण रीति से होता है। साहित्यिक महाकाव्य के चार भेद हैं—उपहास महाकाव्य (Mock Epic), प्रामाणिक नृत्य-गीत (Authentic), साहित्यिक नृत्य-गीत (Literary Balled) और उपहास नृत्य-गीत (Mock Balled)।

(ii) **रूपक काव्य** (Allegory)—रूपक में बाह्य एवं स्थूल रूप में तो काव्यात्मकता होती है जो साहित्यिक रुचि को आकर्षित करने में समर्थ होत है, किन्तु आन्तरिक एवं सूक्ष्म रूप में प्रतिकार्य भी होता है। इसमें कवि अपनी इच्छानुसार कोई आध्यात्मिक, सामाजिक अथवा अन्य प्रकार का सन्देश उपदेशात्मक या व्यंग्यात्मक शैली में देता है।

(iii) **दृष्टान्त-काव्य** (Parables)—दृष्टान्त-काव्य में पाठकों को कवि द्वारा उपदेश मिलता है। इसके विषय विशेषतः सामाजिक होते हैं। जैसे लोभ, स्वार्थ, अतिव्ययिता, प्रेम, मित्रता आदि। संस्कृत का 'पंचतंत्र' इसका सुन्दर उदाहरण है!

(iv) **कल्पित-कथा या मिथक** (Myth)—काव्य में कल्पित कथाओं की प्रचुरता होती है और काव्य की रचना ही कल्पना के आधार पर होती है। व्यक्तिगत बात को सामान्य बनाने के उद्देश्य से तथा अपने कथन को चमत्कार-पूर्ण बनाने के लिए कवि द्वारा कल्पना का प्रयोग किया जाता है। कल्पना के द्वारा ही शब्द अधिक विस्तृत और चामत्कारिक बनते हैं। काव्य में वह इन्हीं विभिन्न तत्त्वों के योग से कथा का निर्माण करता है, जो घटना-क्रम दृष्टि की अपेक्षा भावात्मकता दृष्टि से तथ्ययुक्त होती है।

(v) **प्रबोधक काव्य** (Deductive Poetry)—प्रबोधक का अर्थ है उप-देशक। प्रबोधक काव्य में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति विशेष होती है। इसमें कवि व्याख्यात्मकता की उपेक्षा करके प्रतिपाद्य आदर्श और नैतिकता पर अधिक ध्यान देता है।

(vi) **पत्र-काव्य** (Apistles)—रोमी नाटककार व आलोचक होरेस के समय में पत्र-काव्य प्रचलित हुआ। होरेस ही इस काव्य-भेद के जनक कहे जाते हैं। पत्र-काव्य की कथावस्तु कुछ भी हो सकती है, किन्तु पत्रों में उप-देशात्मकता और नैतिक आदर्शों से सम्बन्धित विषय ही अधिक उपयोगी होते हैं।

(vii) **ग्राम्य-काव्य** (Pastoral Poetry)—सृष्टि के आरम्भ में जब मानव का अधिक विकास नहीं हुआ था, उसने कुछ-कुछ संस्कृत होकर अपनी भावाभिव्यक्ति बेडौल भाषा में करनी प्रारम्भ कर दी थी। उस समय के काव्य ग्राम्य-काव्य के अन्तर्गत आते हैं। आज का ग्राम्य-काव्य पर्याप्त संस्कृत एवं परिष्कृत है। प्राकृत-भाव और ग्राम्य-भाषा (Rustic Language) इसके अनिवार्य तत्त्व हैं।

(३) **नाट्य काव्य** (Dramatic Poetry)—नाट्य-काव्य में आत्मप्रधान और विषय-प्रधान—दोनों काव्यों का मिश्रण होता है। नाटक में कुछ पात्र नाटककारों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और कुछ अन्य सामान्य बातों का। वे दोनों ही प्रकार के पात्र क्रमशः आत्म-प्रधान और विषय प्रधान काव्याभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। नाट्य-काव्य में पठनीय नाट्य-काव्य ही आता है, अभिनय नहीं। इसके तीन भेद हैं—(i) नाट्य-गीत; (ii) नाट्य-कथा और (iii) नाट्य-स्वकथन। संक्षेप में यहाँ इनका विवेचन प्रस्तुत है।

(i) **नाट्यगीत** (Dramatic Lyric)—हडसन ने नाट्यगीत की परिभाषा इस प्रकार की है, "यह (नाट्यगीत) भाव एवं पद्धति की दृष्टि से आत्म-प्रधान कविता है, किन्तु विषयी तत्त्व कवि से सीधे सम्बन्धित न होकर अन्य व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं। कवि उसके अनुभवों और स्थितियों में प्रविष्ट होकर उसके विचारों और भावों की विभिन्न अभिव्यक्ति प्रदान करता है।"

(ii) **नाट्यकथा** (Darmatic Story)—नाट्यकथा में संवादों या कथनोपकथन के माध्यम से किसी कथा का वर्णन होता है। संवादों से कथा आकर्षक बनती है और संवादों से ही कथा की गति में प्रवाह और कौतूहल आता है।

(iii) **नाट्य-स्वकथन** (Dramatic Monologue or Soliloquy)—नाटच-स्वकथन उसे कहते हैं जहाँ स्वयं पात्र अकेले में स्वयं से बात करता है। स्वगत कथन की परिपाटी तो प्राचीन नाटकों में प्राप्त होती है, पर नाटच-स्वगत कथन काव्य का रूप आजकल दिखाई नहीं देता; क्योंकि इन कथनों में स्वाभाविकता नहीं होती। भला यह कैसे सम्भव है कि जिन स्वगत-कथनों को दर्शक सुन सकता है, उन्हें मंच का दूसरा पात्र न सुने। चारित्रिक दृष्टि से यह असंगत है। यदि यह कहा जाये कि अभिनेता दर्शकों के लिए ही अपनी मानसिक स्थिति का द्योतन करता है, तो यह उसके अभिनय की कमी है कि वह अपनी मुख-मुद्रा से उसकी अभिव्यक्ति न कर पाए, लेकिन काव्य की दृष्टि से इस काव्य-रूप का काफी महत्त्व है।

हडसन के अनुसार नाट्य-स्वकथन का मुख्य उद्देश्य वक्ता के व्यक्तित्व का बाह्य परिस्थितियों के अभाव में स्वतः प्रकाशन करना होता है। वह लिखते हैं—

"The ideal aim of a dramatic monologue may, therefore be defined as the faithful self-portrayal, without ulterior purpose, of the personality of the supposed Speake.r"

काव्य के ये भेद विचार, विषय तथा आत्मरूप की दृष्टि से किये गए हैं। काव्य के इस वर्गीकरण को हम आगे दी गई तालिका द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

- काव्य
  - विषयप्रधान काव्य
    - महाकाव्य
      - उपहास
      - प्रामाणिक
      - साहित्यिक
      - उपहास नृत्यीत
    - रूपक
    - दृष्टान्त
    - कल्पितकथा
    - प्रबोधक काव्य
    - ग्राम्यकाव्य
    - पत्रकाव्य
  - व्यक्तिप्रधान काव्य
    - स्तुति गीत
    - राष्ट्रीय गति
    - प्रणय गीत
    - शोक गीत
    - गौरव गीत
    - हर्ष गीत
    - पत्र गीत
    - व्यंग्य-गीत
  - नाट्य काव्य
    - नाट्यगीत
    - नाट्यकथा
    - नाट्य-स्वकथन

प्रश्न ४२—पाश्चात्य काव्य के प्रयोजनों पर संक्षेप में विचार कीजिए।

पश्चिमी काव्यशास्त्रियों की काव्य-प्रयोजनों के सम्बन्ध में एक-सी दृष्टि नहीं है, वह सभ्यता के विकास के साथ-साथ परिवर्तित होती रही है। आरम्भ में, सभ्यता के साथ-साथ धर्म का इतना अधिक प्रभाव था कि उस समय प्रत्येक वस्तु उसी के आलोक में देखी गयी और इसीलिए उस समय के विचारकों ने काव्य-प्रयोजनों पर विचार भी धर्म के सन्दर्भ में ही किया और काव्य को धर्म-प्रचार अथवा मानव-कल्याण का एक साधन माना। इन विचारकों का उद्देश्य सुधारवादी था। पर बाद में इसकी इतनी प्रतिक्रिया हुई कि काव्य का सम्बन्ध धर्म तथा नैतिकता से पूर्ण पृथक् करके 'कला, के लिए कला' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया। तदन्तर दोनों सिद्धान्तों का भी समन्वय किया गया। इस प्रकार काव्य के प्रयोजन सदैव परिवर्तित होते रहे हैं।

प्राचीन यूनानी विचारक हैसियड ने स्पष्टतया काव्य का प्रयोजन उपदेश देना माना है और होमर ने कहा कि उसका प्रयोजन आनन्द है। **प्लेटो** आदर्श-वादी दार्शनिक थे, अतः उनका काव्य-विवेचन समाज-सुधारक की दृष्टि लिये

हुए है। यही कारण है कि वह काव्य का प्रयोजन लोकमंगल मानते हैं और इसीलिए उन्होंने होमर की भी निन्दा की है, क्योंकि वह काव्य का प्रयोजन आनन्द मानते हैं—

"It would be wrong to honour a man at the expense of Truth."

यही कारण है कि वह कविता के आकर्षण पर मुग्ध होने की अपेक्षा उसके बहिष्कार का समर्थन करते हैं और उसमें सत्य का समावेश मानते हैं—

"We are very conscious of her charms; but we may not on that account betray the truth."

इसलिए वह कवि को भी यह आदेश देते हैं कि वह सत्य का न्यायपूर्वक काव्य में वर्णन करे। कविता का प्रयोजन राज्य और मानव-जीवन के लिए उपयोगी होता है, उसका प्रयोजन इन्द्रिय-आनन्द न होकर बुद्धिगत आनन्द है, जो धार्मिक तथा नैतिक होता है। इसलिए प्लेटो काव्य के प्रयोजन को स्पष्टतः मानव-स्वभाव के उदात्त व महान् का उद्घाटन तथा सम्वर्धन मानते हैं। उनके अनुसार—

"The right function of art is to put before the soul the images of what is intrinsically great and beautiful."

अरस्तू—अरस्तू ने काव्य के दो प्रयोजन माने हैं—(१) ज्ञानार्जन तथा (२) आनन्द। यह उनकी सूक्ष्म दृष्टि ही थी जिसने उन्हें एकांगी दृष्टिकोण अपनाने से रोका और इसलिए उन्होंने सन्तुलित मध्यम मार्ग ग्रहण किया। उन्होंने काव्य का मूल प्रयोजन आनन्द मानते हुए भी उसके नैतिक स्तर को भी पूर्ण महत्त्व दिया। उनका विचार था कि नैतिकता के द्वारा ही काव्य का पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है। "कला का विशिष्ट उद्देश्य आनन्द है, पर यह आनन्द नीति-सापेक्ष है, यह अनैतिक नहीं हो सकता।"

अरस्तू ने काव्य-प्रयोजन में जिस आनन्द को प्रयुक्त किया है, वह न तो आध्यात्मिक है, न मनोविनोद, न ऐन्द्रिय है और न बौद्धिक। वास्तव में तो वह कल्पना विशिष्ट आनन्द है जो प्रत्यभिज्ञान से प्राप्त होता है और ऐन्द्रिय-आनन्द से पूर्णरूपेण भिन्न होता है।

लोंजाइनस—लोंजाइनस से पूर्व काव्य का प्रयोजन शिक्षा देना, आह्लाद प्रदान करना और अपनी बात मनवाना समझा जाता था, उसने काव्य के

प्रयोजन को इससे कुछ ऊपर माना; उसने काव्य का प्रयोजन चरमोल्लास प्रदान करना माना; तर्क द्वारा अपनी बात मनवाना नहीं।

"For a work of geneous does not aim at persuasion, but ecstasy, or lifting the reader out of himself."

इसके पश्चात् काव्य के प्रयोजन में समन्वयवादी दृष्टिकोण चला है। निओतालमेस ने काव्य-प्रयोजनों के समीकरण पर बल दिया और आनन्द तथा नीति-शिक्षा दोनों को काव्य का प्रयोजन माना। होरेस ने भी निओतालमेस से प्रभावित होकर इसी आधार पर कहा कि कवि का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है या आह्लाद या फिर वह उपयोगी और आह्लाद—दोनों का समिश्रण कर देता है। उसका विचार है कि जो कवि इन दोनों का समन्वय कर देता है, वही सफल कवि होता है, क्योंकि वह पाठक को आह्लादित भी करता है और शिक्षित भी—

"The poet's aim is to profit or to please, or to blend in one the delightful the useful....The man who mingles the useful with the sweet carries the day by charming his reader and at the same time instructing him."

होरेस काव्य का प्रयोजन राष्ट्र की संस्कृति को अक्षुण्ण रखना और समाज की बर्बरता से मुक्त करना मानते हैं। काव्य एक ओर तो वीरों के हृदयों में वीरता का संचार करता है तो दूसरी ओर श्रम से क्लान्त व्यक्तियों को आनन्द प्रदान करता है। इस प्रकार होरेस ने काव्य के प्रयोजन में समन्वयवादी दृष्टि अपनाई है।

नव्यशास्त्रवादी युग में भी यही समन्वयवादी दृष्टि दिखाई देती है। यद्यपि कुछ विद्वानों का यह मत था कि काव्य का प्रयोजन आनन्द प्रदान करना है, परन्तु इस सम्बन्ध में भी उन्होंने प्रमुखता नीति-उपदेश को ही दी है। इस तरह नव्यशास्त्रवादी समन्वय करते हुए भी अरस्तू के विपरीत रहे। **लॉ वोस्यू** का मत था कि लेखक पहले यह निर्णय करे कि उसे कौन-सा उपदेश देना है, इसके बाद ही वह विषय का चयन करे। इसी का समर्थन करते हुए **रैने बैलेक** ने लिखा है—

"But on the whole neo-classicism suffered mostly from the excesses of literal minded moralists who thought of art as a mere intellectual statement of moral precepts."

इसी तरह समन्वयवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए ड्राइडन ने भी लिखा है कि कविता का प्रयोजन मधुर रीति से शिक्षा देना है।

"To teach delightfully is the function of poetry."

स्पष्ट है कि ड्राइडन शिक्षा और आनन्द दोनों में समान रूप से महत्त्व ही नहीं देते, अपितु दोनों को अन्योन्याश्रित सिद्ध करते हैं। यही नहीं, वह आनन्द को—अरस्तू की तरह—मुख्य और शिक्षा को गौण मानते हैं। कविता की सफलता इसी में है कि वह आत्मा को प्रभावित करे और पाठक के मनोभावों को उद्वेलित करे—

"To effect the soul and excite the passions and above all to move admiration"

शिलर (Schiller) ने अठारहवीं शताब्दी में काव्य और कला के सम्बन्ध में विचार करते हुए भी आनन्द पर ही बल दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में यह धारणा और भी प्रबल हो गयी। शिलर के अनुसार काव्य का प्रयोजन आह्लाद है।

"समस्त कला का लक्ष्य है, आह्लाद, क्योंकि मानव सुख से अधिक उदात्त और गम्भीर समस्या अन्य कोई नहीं है।"

कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ, शेली तथा अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों ने काव्य को पूर्णरूपेण आनन्दवादी धरातल पर स्थित किया और उसका प्रयोजन केवल आनन्द माना है। यद्यपि विक्टर कंजिन ने कला का उद्देश्य नैतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति माना पर रोमाण्टिक कवियों ने नैतिकता का पूर्ण बहिष्कार किया और बाद में सौन्दर्य की प्राप्ति का मूल आधार आनन्द हो गया।

रोमाण्टिक कवि शैली काव्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध मानते हैं और इसीलिए यह कहते हैं कि जिस कविता में जीवन-जगत् के सत्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, वह कविता, कविता के पद पर आसीन होने के उपयुक्त नहीं। पर साथ ही आनन्द प्रदान करना ही वह काव्य का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक माना जाने लगा कि कला और नीति में कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः साहित्य को लोकमंगल की दृष्टि से देखना व्यर्थ है। इन विद्वानों ने 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त का प्रतिपादन

किया। ऑस्कर वाइल्ड तथा डा० ब्रेडले जैसे विद्वानों ने भी इसका प्रबल समर्थन किया। उनका मत है कि कवि काव्य-सर्जना के समय कोई प्रचारवादी दृष्टिकोण नहीं रखता, उसकी प्रतिभा तो स्वच्छन्द रूप में प्रस्फुटित होती है, अतः उस पर किसी भी प्रकार का बन्धन अपेक्षित नहीं। डा० ब्रेडले के अनुसार काव्यास्वाद अपना लक्ष्य स्वयं है उसका अपना मूल्य है। अतः उसका जीवन के अन्य मूल्यों से क्या सम्बन्ध ?

काव्य-प्रयोजनों के रूप—इस विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने काव्य के तीन प्रयोजन माने हैं—

(१) **लोकमंगल**—प्राचीनकाल के विचारक काव्य को नैतिकता की कसौटी पर कसने के कारण उसका प्रयोजन नैतिकता तथा सुधार मानते हैं जो लोक-जीवन को शिक्षा दे। इस वर्ग में प्लेटो, रँस्किन, टालस्टाय, होरेस आदि आते हैं।

(२) **आनन्द**—काव्य का प्रयोजन आनन्द है, यह स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से माना गया। मात्र मनोरंजन ही कवि कर्म रहा और इसीलिए ये विचारक काव्य का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं मानते। शिलर, पेटर, शैली, स्विनगर्न आदि इसी मत के समर्थक हैं।

(३) **आनन्द और लोकमंगल**—इसके अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग उन विचारकों का है जो इन दोनों प्रयोजनों को काव्य का प्रयोजन मानता है। इस वर्ग के भी दो रूप हैं—एक वर्ग नीति-सापेक्ष आनन्द का समर्थन करता है, आनन्द को मानते हुए भी नीति पर विशेष बल देता है; यथा—अरस्तू, ड्राइडन, मैथ्यूआर्नाल्ड आदि; और दूसरे वर्ग के विद्वान् नीति की अपेक्षा आनन्द को प्रमुखता देते हैं, उनके अनुसार आनन्द मुख्य है, नीति-उपदेश गौण है। इस वर्ग में लॉ बोस्यू आदि आते हैं।

निष्कर्ष—इन काव्य-प्रयोजनों पर विचार करने से स्पष्ट है कि ये एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं और परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। काव्य का मूल प्रयोजन सौन्दर्य की सृष्टि करना है और यह नैतिकता तथा आनन्द दोनों के समावेश से ही सम्भव है।

प्रश्न ४३—काव्य के कारण या काव्य-हेतु किसे कहते हैं ? पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के किन हेतुओं पर विशेष जोर दिया है ? पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विवेचित काव्य-हेतुओं का वर्णन कीजिए।

जिन कारणों से काव्य की सर्जना होती है, वे कारण काव्य-हेतु कहलाते हैं। काव्य-हेतु कवि-सापेक्ष होते हैं, अर्थात् इन कारणों का उदय कवि में होता है और इन्हीं से प्रेरित होकर वह काव्य की सर्जना करता है। ये कारण कौन से हैं, इस प्रश्न पर भारतीय मनीषियों के समान पाश्चात्य विचारकों में भी पर्याप्त मतभेद है। प्रत्येक विचारक ने विभिन्न काव्य-हेतुओं को काव्य की सर्जना का कारण कहा है।

प्लेटो कवि को विक्षिप्त (Physical) प्राणी मानते हैं और काव्य को उन विक्षिप्त क्षणों की वाणी। अतः यह विक्षिप्तता ही काव्य का कारण होती है। पर यह साधारण विक्षिप्तता से पृथक् होती है। ऐसे समय कवि जो बात सोचता है, वह निश्चिय ही तर्क से परे होती है। अतः प्लेटो कवि की शक्ति को असाधारण मानते हैं। यह असाधारणता ही प्रतिभा कहलाती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कला-साधना के विषय में विचार करते समय कलाकार के लिए चिन्तन और कला-शिल्प से परिचित होना भी आवश्यक माना है और यह परिचय अध्ययन से होता है, इसके लिए अभ्यास और शिक्षण भी आवश्यक है। इस प्रकार प्लेटो के अनुसार काव्य की सर्जना के हेतु प्रतिभा, चिन्तन, अध्ययन, अभ्यास और शिक्षण हैं।

अरस्तू कला को अनुकरण मानते हैं, पर यह अनुकरण पुनरावृत्ति या प्रत्यंकन न होकर कलात्मक पुनर्सृजन हैं। यह पुनःसृजन कल्पना, स्वतन्त्र-चिन्तन और प्रतिभा के माध्यम से होता है। इसके लिए प्राचीन कवियों के काव्य का अनुशीलन आवश्यक है। कवि को वर्तमान तथा अतीत दोनों के प्रति भी पूर्ण सजग रहना चाहिए। अतः उनकी दृष्टि में सजगता, प्रतिभा, अभ्यास, चिन्तन, कला, चमत्कार और अध्ययन काव्य के हेतु होने चाहिए।

होरेस अरस्तू से पर्याप्त प्रभावित थे, इसलिए वह भी अनुकरण पर बल देते हैं, पर इस अनुकरण के लिए वह निरीक्षण और सूक्ष्म अध्ययन को आवश्यक मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'रचनात्मकता' के लिए उन्होंने 'Invention' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे स्पष्ट है कि वह नवीन उद्भावनाओं को भी आवश्यक मानते हैं। नवीन उद्भावना प्रतिभा से ही सम्भव है। अतः प्रतिभा भी उनकी दृष्टि में एक प्रमुख काव्य हेतु है। यही नहीं, उन्होंने प्रतिभा और शास्त्र-ज्ञान के समीकरण पर भी बल दिया है—

'For my part I fail to see the use of study without wit,

or of wit without training; So true is it that each requires the other's aid in helpful union."

शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास दोनों के विना प्रतिभा के व्यर्थ हैं। इसमें दोनों का समीकरण आवश्यक है। इस प्रकार होरेस के अनुसार काव्य-हेतु हुए—प्रतिभा, शास्त्र-ज्ञान, अभ्यास, चिन्तन और सजग विवेक।

नव्यशास्त्रवादियों ने कविता को कला माना है और उसमें नीति व उपदेश को आवश्यक माना, इसलिए वे कवि के लिए एक ओर तो यह आवश्यक मानते थे कि वह शास्त्रीय ग्रन्थों का पूर्ण अध्ययन किए हो, शास्त्रीय नियमों से अवगत हो और दूसरी ओर उसे नीतिमान और ज्ञानवान होना भी आवश्यक मानते थे। यद्यपि इसमें प्रतिभा तथा प्रेरणा की आवश्यकता भी स्वीकारते थे, पर उनका मुख्य बल कलात्मक ज्ञान पर विशेष था। इस प्रकार नव्यशास्त्रवादियों ने प्रतिभा की अपेक्षा शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास पर विशेष बल दिया।

लेकिन वर्ड्सवर्थ की दृष्टि में कल्पना का महत्त्व भी कम नहीं है। वह भावना की सच्चाई पर पर्याप्त बल देते थे—

"It the unction of a devout heart be wanting, everything else is of no avail."

इस प्रकार वर्ड्सवर्थ के अनुसार प्रतिभा, चिन्तन, मननशीलता, अध्ययन, भावना के प्रति सचाई आदि काव्य के हेतु हैं।

काव्य के महत्त्व का प्रतिपादन करते समय **शैली** ने कवि के लिए अपेक्षित गुणों का भी उल्लेख किया है। शैली का कथन है कि कवि चित्र का स्रष्टा मात्र ही नहीं होता, वह उसका प्रतिष्ठापक, जन्मदाता एवं जीवन-कलाओं का आविष्कर्ता भी होता है। इसके अतिरिक्त कवि अदृश्य जगत् की शक्तियों को जो अंशत: बोधात्मक हैं, उन्हें सत्य और सुन्दर से समंजित करके प्रस्तुत करने वाला भी होता है। उनके अनुसार कवि को परम बुद्धिमान, श्रेष्ठ तथा विश्रुत होना आवश्यक है।

इन पाश्चात्य विचारकों के कथनों से स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के लिए प्रतिभा, मनन, अभ्यास, चिन्तन, अध्ययन, विवेक और कल्पना को काव्य का मुख्य हेतु माना है। इनमें से प्रतिभा पर प्रत्येक ने बल दिया है, लेकिन यह भी माना है कि मात्र प्रतिभा से काव्य की सर्जना नहीं हो सकती;

इसके लिए अन्य हेतु भी उतने ही आवश्यक हैं। अभ्यास और लोक-ज्ञान अध्ययन-सापेक्ष हैं, अतः प्रतिभा के साथ-साथ अध्ययन भी आवश्यक है, क्योंकि इससे प्राचीन और नवीन गतिविधियों का स्वरूप स्पष्ट होता है।

प्रतिभा और अध्ययन—दोनों ही काव्य-हेतु काव्य-सर्जना के मूलकारण हैं। यह ठीक है, पर कभी-कभी केवल इन्हीं दोनों से कार्य नहीं चलता। इनसे यांत्रिकता तथा कलात्मकता तो आ जाती है, पर काव्य का जो मूलतत्त्व अनुभूति है, वह बिना भावों के उच्छलन के कहाँ संभव है ? अतः कवि के हृदय में भावों का जाग्रत होना भी आवश्यक है, क्योंकि भले ही कवि प्रतिभा-वान है, उसका अध्ययन भी पर्याप्त है, पर जब तक काव्य-सर्जना के भाव जाग्रत नहीं होते, तब तक सब व्यर्थ है। इसीलिए 'मूड' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'मूड' का बनना भी आवश्यक है और यह मूड प्रेरणा से बनता है। अतः काव्य का एक अन्य हेतु प्रेरणा भी है, जो भावों को जाग्रत करती है। इस प्रेरणा के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने विचार किया है। **हीगेल** के अनुसार मानव का जन्मजात सौन्दर्य-प्रेम, आत्म-प्रदर्शन तथा अनुकरण की प्रवृत्ति साहित्य की मूलप्रेरणाएँ हैं। उनके द्वारा की गयी काव्य की परिभाषा से यह बात भलीभाति सिद्ध हो जाती है। कवि सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है और फिर उसमें डूब जाता है और भावों के उद्‌बुद्ध होने पर फिर काव्य की सर्जना करता है। अतः सौन्दर्य के प्रति आकर्षण ही काव्य की मूल प्रेरणा है।

क्रोचे आत्माभिव्यक्ति की भावना को ही काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा मानता है, क्योंकि उसके अनुसार सौन्दर्य वस्तु में नहीं, कवि के मन-मस्तिष्क में रहता है; एक समय कवि को एक वस्तु असुन्दर और उपेक्षणीय दिखाई देती है, पर दूसरे समय वही वस्तु सुन्दर और आकर्षणमय दिखाई देती है—इसके मूल में कवि की स्वतःप्रेरणा है। जब वह अभिव्यक्ति के लिये आतुर हो जाता है, तो वर्ण्य-वस्तु उसे सुन्दर दिखाई देती है। जगत् के संसर्ग से उसके मन पर प्रतिक्रिया होती है, अनेक अरूप झंकृतियाँ होती हैं। कवि इन अरूप झंकृतियों को ही रूप प्रदान करता है और इसी प्रयास में काव्य या कला का जन्म होता है। अतः क्रोचे के अनुसार आत्माभिव्यक्ति ही काव्य की मूल प्रेरणा है।

फ्रायड प्रत्येक कार्य और साहित्य-सर्जन के पीछे मूलप्रवृति काम को मानते

हैं। जब कवि समाज के रीति-नियमों में आबद्ध होकर अपनी वासना की पूर्ति नहीं कर पाता, तो वह वासना उसके अन्तर्मन में जाकर विलुप्त हो जाती है। फिर उसी अवस्था में वह स्वयं की परितृप्ति के नाना उपाय खोजती है, जिनमें स्वप्न और काव्य-सृजन मुख्य उपाय हैं। मन की अचेतनावस्था में वह स्वप्न के माध्यम से तृप्ति पाती है और अर्द्धचेतनावस्था में काव्य-सृजन के माध्यम से। अतः फ्रायड के अनुसार वासना के दमन की स्वस्थ प्रवृत्ति ही काव्य की प्रेरणा है।

एडलर ने काम के स्थान पर हीनता की भावना को कवि के काव्य की सृजन की मूल प्रेरणा कहा है। मानव-जीवन इतना अभावग्रस्त है कि कवि के जीवन में सदैव कोई-न-कोई अभाव बना ही रहता है। प्रयत्न करने पर भी प्रत्यक्ष जीवन में ये अभाव दूर नहीं होते, अतः कवि को जो प्रत्यक्ष तथा वास्तविक जीवन में प्राप्त नहीं होता, वह उसे कल्पना के माध्यम से पाना चाहता है, इसलिए काव्य एक प्रकार से जीवनगत अभावों की काल्पनिक पूर्ति है। इसलिए एडलर के अनुसार, साहित्य-सृजन की प्रेरणा जीवन के अभावों को दूर करने की कामना में निहित है।

युंग के अनुसार प्रतिष्ठा तथा जीवित रहने की कामना भी काव्य-सर्जन की मूल प्रेरणा है—व्यक्ति नाशवान है, पर अमर रहने की इच्छा प्रत्येक में होती है, सन्तानोत्पत्ति इसी जीवनेच्छा का परिणाम है, पर प्रभावशाली कवि इससे भी अधिक स्थायी कारण की खोज करता है और वह है काव्य। इसके माध्यम से उसका नाम अमर हो जाता है, यही भावना काव्य-सर्जना की मूल-प्रेरणा है; क्योंकि काव्य के प्रचार से उसे प्रतिष्ठा भी मिलती है। अतः आत्माभिव्यक्ति की अदम्य कामना के पीछे भी अर्थोपार्जन, प्रतिष्ठा प्राप्ति तथा अमर होने की इच्छा जुड़ी हुई है।

निष्कर्ष—इन मतों के विवेचन और पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य-सर्जना के मूल हेतु दो प्रकार के हैं—(१) जो कवि में मूल रूप से आवश्यक हैं, जिनसे काव्य की सर्जना होती है; यथा—प्रतिभा, अभ्यास, शास्त्रज्ञान आदि तथा (२) वे कारण, जिनसे काव्य-सर्जना की कवि को प्रेरणा होती है—अर्थात् प्रेरक तत्त्व। ये मूल तत्त्व और प्रेरक तत्त्व दोनों ही काव्य के हेतु हैं। परन्तु इनमें से किसी विशेष को ही मान्यता नहीं दी जा सकती। काव्य-शास्त्रियों ने काव्य-हेतुओं पर जो विचार किया है, वह एकांगी है। जिस

प्रकार अकेली प्रतिभा ही काव्य-सर्जना का मूल हेतु न होकर उसके साथ अध्ययन, अभ्यास, चिन्तन-मनन आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य की प्रेरक-वृत्ति भी एक न होकर अनेक होती है जो न्यूनाधिक रूप से कवि में विद्यमान होती है। वह सबके संयोग से ही काव्य-सर्जन में प्रवृत्त होती है।

समग्रतः काव्य-हेतु के सन्दर्भ में काव्य-सर्जना के तीन कारण देखे जा सकते हैं—(१) प्रेरक कारण, (२) निमित्त कारण और (३) उपादान कारण। पहले कारणों में कवि की सामाजिक, पारिवारिक, तथा वैयक्तिक स्थितियाँ आती हैं, प्रेरक प्रवृत्तियाँ आदि; दूसरे कारणों में प्रतिभा और तीसरे कारणों में लोकशास्त्र का ज्ञान, मनन-चिन्तन आदि आते हैं। ये तीनों ही काव्य के प्रमुख हेतु हैं, इसलिए डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है—"अपनी अनुभूति को प्रकट करने अथवा उसे दूसरों की अनुभूति में परिणत करने की विह्वलता का जब कवि अनुभव करता है, तभी प्रतिभा काव्य-रचना में प्रवृत्त होती है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से काव्य का विकास होता है।"

प्रश्न ४४—महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ देते हुए उसके तत्त्वों पर प्रकाश डालिए।

काव्य की विषय-प्रधान विधाओं में महाकाव्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसका स्वरूप परिवर्तनशील रहा है, पर मूल रूप एक ही रहा है। महाकाव्य को प्रबन्ध के अन्तर्गत रखा जाता है। अतः इसमें वर्णनात्मकता तथा परस्पर सम्बद्धता का होना आवश्यक है। इसके स्वरूप पर पाश्चात्य विचारकों ने अनेक रूपों में विचार किया है। सर्वप्रथम इसके स्वरूप का विशदता से विवेचन अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' में मिलता है। यद्यपि त्रासदी की तरह उन्होंने महाकाव्य की कोई परिभाषा नहीं दी है; फिर भी उनके एतद्‌विषयक विचार सुस्पष्ट हैं। उनके अनुसार, "महाकाव्य वह काव्यरूप है जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जिसमें उच्चकोटि के पात्र होते हैं, जिसका रूप समाख्यानात्मक होता है, जिसमें षट्पदी छन्द का प्रयोग होता है, जिसका कथानक दुःखान्त नाटक के समान अन्वितियुक्त होता है, जिसकी सीमाएँ विस्तृत होती हैं।"

अरस्तू के इस विवेचन के अनुरूप महाकाव्य दुःखान्त नाटक की भाँति अन्वितियुक्त होता है और इसका कथानक सम्पूर्ण आद्यन्त कथा का वर्णन

करता है। यह पाठक को अलौकिक आनन्द प्रदान करता है और इसमें युग-जीवन के विविध पक्षों का सम्यक् उद्घाटन होता है। इसका छन्द कथावस्तु के अनुरूप होता है।

परवर्ती समालोचकों ने अरस्तू की इस धारणा की आलोचना की और स्वतन्त्र मत स्थापित किये हैं। इसका कारण यह रहा कि आरम्भिक महाकाव्य धार्मिक वातावरण के कारण अलौकिक तत्त्व पर विशेष बल देते थे, इसलिए उन्होंने अपना कथानक प्राय: दैवी चरित्रों से चुना। रोमांटिक कल्पनाएँ भी अतिप्राकृत तत्त्वों के आश्रय से प्रयुक्त की गईं। परन्तु पुनर्जागरणकाल के महाकाव्यकारों ने इस अतिप्राकृत तत्त्व का विरोध किया और इसके स्थान पर युग-संस्कृति के चित्रण पर विशेष बल दिया। उन्होंने शास्त्रीय नियमों के प्रति भी अपना विरोध प्रकट किया है। इसलिए टिलयर्ड उसी को महाकाव्य मानते हैं जिसमें गौरवपूर्णता, समृद्धता, संयम, संगीतात्मकता, अपने समय के समाज तथा संस्कृति की झाँकी, प्रणय, व्यंग्य-विनोद आदि स्पष्ट अथवा अथवा प्रच्छन्न—दोनों रूपों से दिद्यमान हों।

वांक्विलिन (Vanquelin) महाकाव्य को विश्व का समग्र दर्पण मानते हैं। वह लिखते हैं—

"An Epic is the mirror of this world and contains all in itself."

आधुनिक आलोचकों ने महाकाव्य की परिभाषा को और भी अधिक व्यापक बनाने का प्रयास किया है; वे महाकाव्य की सफलता-असफलता का समस्त क्षेत्र कवि की कल्पना को ही देते हैं।

ऐबरक्राम्बी केवल वृहदाकार वर्णनात्मक प्रबन्ध के कारण ही किसी रचना को महाकाव्य नहीं मानते, अपितु उनके अनुसार महाकाव्य उसी प्रबन्ध को कहेंगे जिसकी शैली महाकाव्योचित होगी और जिसमें कवि की कल्पना और विचारधारा का उदात्त रूप दिखाई पड़ेगा। इसमें एक पुष्ट, स्पष्ट तथा प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है, जो महाकाव्य की गति का आद्यन्त संचालन करता है।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने काव्य की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं पर मूलरूप से—आकार-प्रकार की दृष्टि से—सभी एक हैं। अन्तर जो भी है, वह विचारधारा का है। अत: महाकाव्य के विषय में कहा जा सकता है कि

"महाकाव्य काव्य का वह परिष्कृत रूप है जो वृहदाकार होने के साथ-साथ समाज-सापेक्ष होता है और कवि अपनी अनुभूति को सम्पूर्ण युग के चित्रण में सन्निहित करके गम्भीर व महत्त्वपूर्ण घटनाओं के माध्यम से उसका उद्घाटन करता है और क्रियाशील जीवन-पक्ष का अपने महान् व उदात्त पात्रों के द्वारा लोकरंजक रूप में वर्णन करके कल्पना-प्रसूत उदात्त, सुष्ठ तथा प्रतीकात्मक शैली से महान् उद्देश्य का आधान करता है।"

महाकाव्य के तत्त्व—महाकाव्य के इस स्वरूप को समझ लेने के पश्चात् हम उसके तत्त्वों पर विचार करते हैं। इन परिभाषाओं में ही महाकाव्य के तत्त्व सन्निहित हैं। सी० एम० बोवरा (C. M. Bowra) ने महाकाव्य के पाँच तत्त्व बतलाए हैं—(१) बृहत् प्रबन्धात्मक प्रबन्ध, (२) गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन, (३) पात्रों के क्रियाशील तथा प्रभावशाली जीवन-पक्ष का उद्घाटन, (४) रंजन-तत्त्व के द्वारा पाठकों का आह्लाद और (५) घटनाओं व पात्रों के माध्यम से गौरव का संचार।

फ्रांसीसी आलोचक ला वोस्यूमहाकाव्य के तीन आवश्यक तत्त्व मानते हैं—(१) प्राचीन घटनाओं का वर्णन, (२) पद्य-बद्ध रचना और (३) युग संस्कृति का चित्रण।

इटैलियन आलोचक मिन्तुरनो महाकाव्य के तत्त्वों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"The hero must be a king or atleast a noble of birth and possessed of every virtue, vigorality, force, courage, ability." इस प्रकार मिन्तुरनो के अनुसार महाकाव्य के निम्नलिखित तत्त्व होते हैं—(१) भव्य तथा महान् पात्र, (२) उदात्त उद्देश्य, (३) सम्यक् व अलंकृत शैली, जो जन-साधारण की भाषा से दूर, असाधारण होनी चाहिए और (४) एक छन्द में षट्पटी का प्रयोग।

रोमांचक महाकाव्यों के अभ्युदय के कारण विद्वानों ने रोमांच को भी महाकाव्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने अपने युग व समाज के अनुसार विभिन्न तत्त्व बताये हैं। स्थूल रूप से महाकाव्य के निम्नलिखित तत्त्व माने जा सकते हैं :

(१) महत् उद्देश्य, महत्प्रेरणा और महान् काव्य-प्रतिभा।

(२) गुरुत्व, गाम्भीर्य आदि का समावेश।

(३) युग जीवन और संस्कृति का महत्कार्यों के परिप्रेक्ष्य में चित्रण ।

(४) सुसंगठित जीवन्त कथानक ।

(५) इतिहास-प्रसिद्ध अथवा श्रेष्ठ एवं कुलीन नायक तथा अन्य पात्र ।

(६) गीरिमामयी उदात्त शैली ।

(७) तीव्र प्रभावान्विति और रस-व्यंजना ।

(८) गतिशील जीवन-शक्ति तथा सशक्त प्राणवत्ता ।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्देशित ये काव्य-तत्त्व इस प्रकार मूलतः पाँच होते हैं, शेष तत्त्वों का उन्हीं में समावेश हो जाता है। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं:

(१) **कथानक**—महाकाव्य के लिए कथानक-तत्त्व विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना महाकाव्य का ढाँचा खड़ा ही नहीं हो सकता । कवि पहले मन में किसी वस्तु की कल्पना करता है, तद्नुसार महाकाव्य के स्वरूप की विवेचना करता है और महाकाव्य को आकृति प्राप्त होती है । कथानक- तत्त्व पर विचार करते समय, काव्य-शास्त्रियों ने इतिहास-प्रसिद्ध ख्यात तथा उदात्त कथानक पर विशेष बल दिया है । पर ऐतिहासिक कथानक होते हुए भी वह शुद्ध ऐतिहासिक नहीं होता, कल्पना की भी उसमें प्रधानता होती है और कल्पना के माध्यम से कवि उस वस्तु को सुगठित रूप प्रदान करता है । अतः उत्पाद्य अंश भी उसमें गृहीत होता है । लेकिन महाकाव्य यथार्थ जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी यथार्थ जीवन से कहीं श्रेष्ठ होता है और उसकी कथावस्तु भी अधिक व्यापक होती है ।

महाकाव्य में घटनाओं का व्यापक चित्रण होता है, उस पर देशकाल की सीमा का कोई प्रभाव नहीं होता । यद्यपि महाकाव्य में एक ही विशेष घटना का नियोजन होता है, पर फिर भी उस विशेष घटना से सम्बद्ध अनेक उप-कथाएँ और आवान्तर कथाएँ होती हैं, जिनसे मुख्यकथा को गति तथा प्रवाह मिलता है और कथानक में रोचकता तथा आकर्षण की उत्पत्ति होती है ।

महाकाव्य में प्रयुक्त कथानक के लिये आवश्यक है कि उसका क्रम पूर्व से सम्बद्ध हो, उसमें सम्भावना तथा कौतूहल आदि गुण हों । उसमें अतिप्राकृत तत्त्व का भी समावेश होता है । अतः असम्भव और अविश्वसनीय बातों का "वर्णन भी पाठक के कौतूहल वर्द्धन में सहायक होता है । पर महाकाव्य में असम्भव घटनाओं के प्रयोग से जहाँ तक हो सके, बचना चाहिए और यदि

इसका प्रयोग हो तो इतना सौन्दर्य उत्पन्न किया जाय कि वह खटके नहीं; अरस्तू ने स्पष्ट कहा है—

"But here the absurdity is concealed under the various beauties of other kinds with which the poet has embellished it.

अतः महाकाव्य में युग-संस्कृति का समग्र जीवनपरक चित्रण होता है, परन्तु जीवन की कल्पनाजन्य यथार्थपरकता का चित्रण होने से कार्य की अन्विति होती है।

(२) **चरित्र-चित्रण**—महाकाव्य का दूसरा अनिवार्य तत्त्व पात्र तथा चरित्र-चित्रण होता है। इसके अन्तर्गत उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्य-बद्ध अनुकृति आती है। महाकाव्यों के पात्र भद्र, कुलीन, वैभवशाली, यशस्वी, सहज मानवीय गुण-दोषों से युक्त और उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण होते हैं। चरित्र-चित्रण के आधार पर पात्रों के तीन रूप होते हैं—(क) वास्तविक पात्र, (ख) परम्परागत पात्र और (ग) आदर्श पात्र। इसके साथ ही अरस्तू नायक को महान् गुणों से परिपूर्ण तथा मुख्य घटना के अनुरूप होना आवश्यक मानते हैं—

"He must always be portraying one of the three following types—the real (past of present), the traditional (or conventional) or the ideal."

(३) **कथा-वर्णन की शैली**—भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा-शैली ही होता है। कोई भी सशक्त-से-सशक्त कथानक तथा उदात्त पात्र तब तक महाकाव्य का स्वरूप धारण नहीं कर सकता, जब तक उसकी अभिव्यक्ति-शैली न हो। महाकाव्य की शैली का समाख्यानात्मक होना आवश्यक है। इसकी भाषा अलंकृत तथा जन-सामान्य की भाषा से पृथक् होनी चाहिए। अरस्तू महाकाव्य के लिए नाटकीय शैली को आवश्यक मानते हैं; क्योंकि इसमें दृश्यात्मकता के साथ-साथ पात्रों के व्यक्तित्व से उत्पन्न सहज वैचित्र्य का भी समावेश होता है। इससे रचना मनोरंजक तथा आह्लाददायक बन जाती है।

शैली को सुव्यवस्थित तथा अलंकृत करने के लिए महाकाव्य में छन्द की भी अनिवार्यता मानी गई है। सम्पूर्ण काव्य में अनेक छन्द प्रयुक्त हो सकते

हैं, किन्तु एक सर्ग में एक ही छन्द रहना चाहिए, इससे कथा-प्रवाह खण्डित नहीं होता। महाकाव्य की गरिमा में अभिवृद्धि होती है।

शैली के लिए गरिमा तथा प्रसाद गुण आवश्यक है। गरिमा लाने के लिए ही कवि असामान्य शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना तथा छन्द, मुहावरों, अलंकारों आदि का प्रयोग करता है। इससे भाषा-शैली का धरातल जन-सामान्य की भाषा से कुछ ऊपर उठकर आकर्षक हो जाता है, पर अरस्तू का विचार है कि यह असामान्यतः अधिक नहीं होनी चाहिए, सीमातिक्रमण से इसे वाग्जाल मात्र समझा जायेगा। अतः सामान्य और प्रचलित शब्दों का बहिष्कार भी उपयुक्त नहीं है।

शैली महाकाव्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसीलिए ऐबरक्रोम्बी ने कहा है, "बड़े आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्योचित होगी, तभी वह महाकाव्य माना जायेगा।"

(४) **उद्देश्य**—महाकाव्य का एक अन्य तत्त्व उद्देश्य है। महाकाव्य के उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए अरस्तू ने मनोवेगों का विवेचन तथा तज्जन्य मनःशांति को इसका उद्देश्य माना है। परन्तु यह अंशतः भले ही सत्य हो, पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि महाकाव्य को पढ़ते-सुनते समय मनोवेग उतने जाग्रत नहीं होते, जितने त्रासदी में। तब प्रश्न यह उठता है कि फिर आनन्द कैसे प्राप्त होता है। इस आनन्द-प्राप्ति का कारण यह है कि महाकाव्य में आत्मा का विस्तार और उदात्तीकरण करने की क्षमता है, इसी से पाठक प्रभावित होता है। इस प्रकार महाकाव्य का उद्देश्य धार्मिक तथा नैतिक होने के साथ जन-भावना का परिष्करण तो होता ही है, पाठकों को असीम आनन्द प्रदान करना भी होता है। महाकाव्य के उद्देश्य के लिए आवश्यक है कि वह पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक हो तथा आदि से अन्त तक उसमें रमा रहे।

(५) **पृष्ठभूमि अथवा वातावरण**—महाकाव्य का वातावरण घटनाओं और पात्रों के अनुकूल होना आवश्यक है। उसमें किसी जाति या राष्ट्र के समग्र जीवन को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण, अतिप्राकृत तत्त्व, युद्ध-द्वन्द्व आदि के वर्णन भी दिये जाने चाहिए, जिससे युग-संस्कृति का समग्र रूप झलक सके।

निष्कर्ष—महाकाव्य की इन परिभाषाओं के आधार पर विवेचित इन

तत्त्वों को किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता । ये तत्त्व मूल रूप से प्रत्येक महाकाव्य में विद्यमान रहते हैं, चाहे समय और रुचि-भेद से इनका स्वरूप भले ही परिवर्तित हो जाये । डा० नगेन्द्र ने भी महाकाव्य के ये ही पाँच तत्त्व गिनाये हैं—उदात्त कथानक, उदात्त पात्र, उदात्त उद्देश्य (कार्य), उदात्तभाव और उदात्त शैली । इन तत्त्वों की व्यापकता के कारण प्रत्येक देश तथा काल के महाकाव्य इस सीमा में आ जाते हैं—चाहे उनमें कितना ही भेद क्यों न हो । अतः यही उचित है कि परिभाषा के झमेले में न पड़, हम इन्हीं कसौटियों पर महाकाव्य का परीक्षण करें ।

प्रश्न ४५—विकसनशील महाकाव्य (Epic of Growth) **और साहित्यिक महाकाव्य** (Literary Epic) **किसे कहते हैं ? इनकी विशेषताएँ बतलाते हुए महाकाव्य के विभिन्न रूपों का उल्लेख कीजिए ।**

अथवा

महाकाव्य के भेदों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए ।

अरस्तू ने महाकाव्य पर विचार करते समय लिखा है, "महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार होने चाहिए जितने त्रासदी के । अर्थात् सरल, जटिल, नैतिक और करुण ।" परन्तु अरस्तूकृत यह वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं है और इसका बाद में स्वयं अरस्तू ने भी अनुभव किया था, क्योंकि महाकाव्यों में सरलता और जटिलता, नैतिकता तथा करुणा—सभी साथ-साथ दिखाई देते हैं ।

कुछ विद्वानों ने रसों के आधार पर भी महाकाव्यों का वर्गीकरण किया है; यथा—वीररस-प्रधान महाकाव्य, शृङ्गाररस-प्रधान महाकाव्य, भक्तिरस-प्रधान महाकाव्य, करुणरस-प्रधान महाकाव्य । पर, अरस्तू के वर्गीकरण के समान यह वर्गीकरण भी अवैज्ञानिक है, क्योंकि महाकाव्य में प्रधानता किसी भी रस की हो, पर अन्य सभी रसों का उसमें पूर्ण परिपाक होता है और किसी-किसी महाकाव्य में तो दो-दो रस बिल्कुल समान चलते हैं ।

यदि उद्देश्य के आधार पर महाकाव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो नैतिकता की शिक्षा देने वाले महाकाव्य, धार्मिक महाकाव्य, मनोरंजक महाकाव्य तथा आदर्शवादी महाकाव्य आदि भेद हो सकते हैं । लेकिन इस वर्गीकरण में भी अवैज्ञानिकता है । कारण, प्रत्येक महाकाव्य में येन-केन-प्रकारेण ये सभी उद्देश्य आ जाते हैं ।

महाकाव्यों का वर्गीकरण मुख्य रूप से विषय के आधार पर तथा समय के आधार पर किया जा सकता है।

समय के आधार पर महाकाव्यों का वर्गीकरण—किसी भी महाकाव्य की रचना में कितना समय लगा है तथा वह किसी एक व्यक्ति द्वारा लिखा गया है अथवा अनेक व्यक्तियों द्वारा—इस आधार पर महाकाव्य के दो भेद होते हैं—(१) विकसनशील महाकाव्य और (२) साहित्यिक महाकाव्य ।

विकसनशील महाकाव्य—इस प्रकार के महाकाव्य किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा एक समय-विशेष में न लिखे जाकर अनेक व्यक्तियों द्वारा विभिन्न समयों में लिखे जाते हैं। भारत की तरह यूरोप के महाकाव्यों का विकास भी विकसनशील महाकाव्यों से हुआ है और आरम्भिक महाकाव्य विकसनशील ही थे। 'इलियड' तथा 'ओडेसी' इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। इन महाकाव्यों की रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी एक समय में न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा विभिन्न समयों में हुई है।

इन विकसनशील महाकाव्यों की एक विशेषता यह है कि इसमें वीर-भावना का प्राबल्य रहता है। कवि अपने युग की वीर-भावनाओं को किसी एक इतिहास-प्रसिद्ध वीर-पात्र के माध्यम से प्रस्तुत करता है, बाद के कवि भी उसमें अपने युग की भावनाएँ जोड़ते जाते हैं।

इसके अतिरिक्त इसका कथानक गम्भीर होता है, पात्र महान् होते हैं, जिनके साहसिक कार्यों तथा वैयक्तिक शौर्य की रूढ़ियों के आधार पर कथानक में भरमार होती है, इससे इसमें अतिशयोक्ति की भरमार, असंगतियाँ एवं क्षेपक भी आ जाते हैं।

विकसनशील महाकाव्य का उद्देश्य किसी युग की अविस्मरणीय तथा प्रख्यात् घटनओं, महान् चरित्रों को जीवनरूप में प्रस्तुत कर पाठकों में मनोरंजन के साथ-साथ जीवन के प्रति आस्था, साहस, धैर्य आदि आदर्शों को उपस्थित करना भी होता था। इसकी सबसे बड़ी विशेषता सादगी तथा अलंकृति है।

साहित्यिक महाकाव्य—जिन महाकाव्यों की किसी एक व्यक्ति द्वारा एक ही निश्चित समय में रचना की जाती है, उन अलंकृत महाकाव्यों को साहित्यिक महाकाव्य कहते हैं। इस प्रकार के महाकाव्य संख्या में पर्याप्त हैं। इनमें पुस्तकीय ज्ञान और पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति पाई जाती है। सी०

एम० बोवरा ने इसके लिए लिखित महाकाव्य (Written Epic) शब्द का प्रयोग भी किया है। इसकी रचना पढ़ने के लिए होती है और इसको साहित्य-क्षेत्र में परिगणित किया जाता है। इसमें भाषा के प्रसाधन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है।

विषय के आधार पर महाकाव्यों का वर्गीकरण—विषय के आधार पर महाकाव्यों के निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

ऐतिहासिक महाकाव्य—जिन महाकाव्यों की कथा इतिहास-प्रसिद्ध हो और जिनका उद्देश्य इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों पर प्रकाश डालना हो, वे महाकाव्य ऐतिहासिक महाकाव्य कहलाते हैं। इस प्रकार के महाकाव्यों की पृष्ठभूमि भी ऐतिहासिक होती है और कथानक से सम्बद्ध काल की युग-संस्कृति तथा भाषा आदि का इसमें प्रस्तुतीकरण होता है।

इन महाकाव्यों का उद्देश्य महान् होता है। इनके द्वारा देश के गौरव का चित्रण, इतिहास के भूले-बिसरे पृष्ठों का उद्घाटन अथवा किसी विश्व-विश्रुत पात्र के चरित्र की गरिमा का प्रस्तुतीकरण होता है।

इसकी शैली सचेष्ट, कलात्मक तथा प्रयत्न-साध्य होती है, क्योंकि वर्तमान से हटकर प्राचीन कालीन सभ्यता-संस्कृति को प्रस्तुत करने के लिए कवि को उस काल की परिस्थितियाँ, वेश-भूषा, बोलचाल आदि बातों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना होता है।

धार्मिक तथा नैतिक महाकाव्य—जब कवि किसी सुधार-भावना से अथवा किसी नैतिक आदर्श को प्रस्तुत करने के लिए महाकाव्य की रचना करता है या धार्मिक भावनाओं के प्रस्तुतीकरण की धारणा रखता है, तो ऐसे महाकाव्य धार्मिक अथवा नैतिक कहलाते हैं। इनका उद्देश्य अधिकतर प्रचारात्मक होता है। इनमें अलौकिक तथा अप्राकृतिक तत्त्वों का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग होता है। पात्र दैवी अथवा दैवी-कृपा के आश्रित होते हैं; मानवीय पात्रों को नहीं लिया जाता और अस्वाभाविकता के दर्शन से पाठकों के मन में आश्चर्य भाव जाग्रत कर उनसे अपनी बात मनवायी जाती है; यहाँ तक कि रोमांस का चित्रण भी देवी-देवताओं द्वारा ही किया जाता है।

इन महाकाव्यों को पढ़ते समय पाठक श्रद्धाभक्ति से परिपूर्ण रहता है, अतः ये महाकाव्य पाठकों से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते।

शास्त्रीय महाकाव्य—काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के जो नियम निर्धारित

किये हैं, उनका अक्षरशः पालन करने वाले महाकाव्य, शास्त्रीय महाकाव्य कहलाते हैं। इस प्रकार के महाकाव्यों के जन्मदाता वर्जिल हैं और इनका चरम उत्कर्ष अंग्रेजी कवि मिल्टन के महाकाव्यों 'Paradise Lost' और 'Paradise regained' में प्राप्त होता है। यद्यपि इसके अनेक तत्त्व विकसनशील महाकाव्यों से भी मिलते हैं, पर अधिकतर लक्षण पृथक् ही होते हैं। इसमें कथा गम्भीर और प्रख्यात होती है। कार्यान्वित भी अधिक होती है, कथानक भी बहुत लम्बा नहीं होता और अवान्तर कथाएँ भी कम होती हैं। इसका उद्देश्य महान् होता है, शैली कलात्मक तथा प्रयत्नसाध्य होती है। प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ कवि प्रत्येक भाव के लिए नवीन शब्दों का प्रयोग करता है। वह शब्दों में नये अर्थ का भी आधान करता है; इसी से पाठक विस्तार की अपेक्षा अंशों पर अधिक ध्यान देता है।

इनमें नायक की व्यक्तिगत वीरता के स्थान पर उसकी समाजगत सेवा का चित्रण होता है, वह अपना प्रत्येक कार्य समाज-हित अथवा देश-हित के लिये करता है, इसी से नायक की सुख-शान्ति के लिए प्रेम का भी पर्याप्त चित्रण होता है। इसमें राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उपदेश देने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इस सम्बन्ध में सी० एम० बोवरा का कथन है :

"Their herose are examples of what men ought to be or types of human destiny whose very mistakes must be marked and remembered....so these poets wished to inspire, to elevate, to instruct."

प्रतीकात्मक महाकाव्य—इस प्रकार के महाकाव्यों में आध्यात्मिक भावनाओं को प्रतीक के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। कथा द्वैयार्थक होती है और प्रत्यक्ष अर्थ की अपेक्षा अप्रत्यक्ष अर्थ मुख्य होता है। इसमें महाकाव्योचित अन्य सभी गुण होते हैं, पर इसकी कथा का विकास स्वाभाविक न होकर रचयिता की इच्छा पर निर्भर होता है। वह अपने प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कथा को कहीं भी तोड़-मरोड़ सकता है, उसे नया रूप दे सकता है। इसका उद्देश्य आध्यात्मिक भावनाओं को मूर्तरूप में अभिव्यक्त करना होता है। हिन्दी में इस प्रकार का महाकाव्य प्रसाद की 'कामायनी' है।

रोमांचक महाकाव्य—यूरोप के मध्ययुग में रोमांचक महाकाव्यों का प्रणयन हुआ। यद्यपि आरम्भिक महाकाव्यों में भी रोमांच-तत्त्व होता था, पर उस समय वह गौण रहता था। रोमांचकारी कथाओं के ऊपर रचना होने से इस तत्त्व का बहुत प्रयोग होने लगा, फलतः इसका एक स्वतन्त्र स्वरूप ही विकसित हो गया। लैटिन भाषा में टैसो का 'यरुसलम लिबरेटा' तथा अंग्रेजी में स्पेन्सर का 'फेयरी क्वीन' इसी प्रकार के महाकाव्य हैं।

रोमांचक महाकाव्यों में बौद्धिक स्तर की अपेक्षा भावुकता तथा कल्पना की प्रधातता होती है और युद्ध, प्रेम, यात्रा की भयंकरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होता है। इसका प्रधान उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन होता है। न यह यथार्थ जीवन का ही सहारा लेता है, और न ही उसमें किसी उर्ध्व-आदर्श की ही अन्विति रहती है। इसका कथानक सरल, प्रवाहमय तथा वैविध्यपूर्ण होता है।

मनोवैज्ञानिक महाकाव्य—मनोवैज्ञानिक महाकाव्यों में मानसिक संकल्पों-विकल्पों तथा मानसिक दशाओं का चित्रण होता है। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ वर्जिल के 'एनीड' में भी मिलती हैं। पर इसका विवेचन शास्त्रीय पद्धति से हुआ है। गेटे का 'फाउस्ट' और टामस हार्डी का 'दि डाइनेस्ट्स' इसके सुन्दर उदाहरण हैं। इनमें पात्रों के मन का विश्लेषण मुख्य होता है, अतः इन्हें स्वच्छन्दतावादी मनोवैज्ञानिक महाकाव्य भी कहा जाता है।

इस प्रकार यूरोपीय साहित्य में अनेक प्रकार के महाकाव्यों का प्रचलन है।

प्रश्त ४६—महाकव्य की रचना का युग बीत चुका है। क्यों और कैसे ? स्पष्ट करें।

आज का जीवन इतना संघर्षमय, द्वन्द्वप्रधान तथा स्पष्टतापूर्ण है कि कोई भी बात जितने कम तथा सरल शब्दों में कह दी जाए, उतनी ही प्रभावपूर्ण होती है। यदि महाकाव्यों के विकास पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि महाकाव्य सामंतवादी युग का साहित्य है। उस समय लेखक के पास, राज्याश्रय के कारण इतना समय होता था कि वह अधिकाधिक समय लगाकर अपने भावों को कृत्रिमता का बाना पहनाकर पद्यमय रूप में प्रस्तुत कर सके। इसी प्रकार पाठकों तथा श्रोताओं के पास भी इतना समय था कि वे चमत्कार-प्रधान रचना सुन-पढ़ कर वाहवाही कर सकें। राज-दरबारों में काव्यशास्त्र-

पर ही अधिक विचार होता था; समय इसी प्रकार व्यतीत होता था। पर आज वह शान्ति-प्रधान-युग नहीं है। आज मनुष्य के समक्ष जीवन को जीने की समस्या विकराल रूप से खड़ी हो गयी है। शिक्षा के प्रचार और प्रसार से प्रत्येक में जीने की अदम्य कामना ठाठे मार रही है, ऐसे में न तो कवि के लिए ही सम्भव है कि वह शब्दार्थ-चमत्कार-प्रधान साहित्य की सर्जना करके वाहवाही लूट सके और न ही पाठक के पास ही इतना समय है कि वह उसके शब्दार्थों में ही उलझता रहे। यही कारण है कि वह स्पष्ट शब्दों में होने वाली अभिव्यक्ति को ही अधिक पसन्द करता है और उसे ही ग्रहण करता है; क्योंकि वह उसके वास्तविक जीवन के निकट होती है।

इसी से यह स्पष्ट है कि आज महाकाव्यों की रचना नहीं होती है, चतुर्दिक् उपन्यासों का ही बोलबाला है। तो यहाँ प्रश्न यह उठता है कि महाकाव्यों की रचना का युग बीत क्यों गया। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें निम्नलिखित कारण ज्ञात होते हैं; जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है—

(१) महाकाव्यों का युग बीत जाने का पहला कारण यह है कि पाठक के पास अब इतना समय नहीं है कि वह शब्दार्थ के चमत्कार से पूर्ण साहित्य में अपना समय नष्ट करता रहे। महाकाव्य की भाषा गम्भीर, पद्यपूर्ण तथा कृत्रिम होती है। अतः उसमें निहित भाव सहज ही बोधगम्य नहीं होते, परन्तु आज का पाठक वर्तमान जीवन की समस्याओं से इतना संत्रस्त है कि उसका उन्हीं से पीछा नहीं छूटता, वह इनमें समय दे ही कहाँ सकता है ? समयाभाव के कारण पाठक का मन उधर अधिक रम नहीं पाता।

(२) महाकाव्यों में वर्तमान जीवन की वास्तविकता के दर्शन भी नहीं होते। महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्यों ने उसे इस प्रकार सीमाबद्ध कर दिया है कि वर्तमान जीवन की कुण्ठा, निराशा तथा वास्तविकता का उसमें कोई स्थान नहीं होता। कवि प्रायः उदात्त पात्रों के द्वारा उदात्त ऐतिहासिक कथानक के आधार पर ही महाकाव्य की रचना करता है, इससे उसमें कल्पना की प्रधानता हो जाती है और वर्तमान परिवेश का पूर्ण बहिष्कार होता है। जब साहित्य में वर्तमान समस्याओं का निदर्शन ही नहीं है, तो वह पाठकों को प्रभावित क्या करेगा ? इसलिए आज के पाठक की महाकाव्यों की ओर कोई रुचि नहीं दिखाई देती।

(३) फिर महाकाव्यों में विचारों की अभिव्यक्ति स्पष्टतः नहीं हो पाती। छन्दबद्ध रचना होने के कारण कवि का ध्यान विचारों की अपेक्षा कला-चमत्कार की ओर अधिक रहता है। कलापक्ष को सबल बनाने के फेर में भावानुभूति गौण पड़ जाती है, परिणामतः महाकाव्य में स्वाभाविकता की अपेक्षा कृत्रिमता अधिक दिखाई देती है। पर आज का पाठक कृत्रिमता की अपेक्षा स्वाभाविकता को ही अधिक पसन्द करता है। यही कारण है कि कविताओं में भी गद्यात्मकता की ओर लेखकों का रुझान है, ताकि अनुभूति में कोई कमी न रहे—वह प्रौढ़ तथा सशक्त रहे।

(४) मनुष्य की रुचि भी परिवर्तनशील रही है। किसी समय उसे कोई वस्तु पसन्द आती है और दूसरे समय अन्य कोई वस्तु। एक समय था जब मनुष्य महाकाव्यों को बहुत पसन्द करता था, पर अब उसकी रुचि उसकी ओर से हट गयी है, अब वह गद्य शैली को अधिक पसन्द करता है। अतः महाकाव्यों का बहिष्कार होने में मानव की रुचि भी एक प्रमुख कारण है।

(५) हिन्दी साहित्य में उपन्यासों के आ जाने से महाकाव्यों का रहा-सहा प्रभाव भी समाप्त हो गया। आज के उपन्यास वही कार्य करते हैं, जो पहले महाकाव्य किया करते थे। जैसे महाकाव्यों का उद्देश्य मानव का मनोरंजन के साथ-साथ उसे कान्तासम्मित उपदेश देना होता था, उसी प्रकार आज के महान् उपन्यासकार मनोरंजन के साथ-साथ जनता का मार्गदर्शन भी करते हैं। आज का उपन्यास जनरुचि के काफी अनुकूल है। इसमें विचारों पर कृत्रि-मता का आवरण नहीं रहता, उपन्यासकार गद्यमय भाषा में सन्तुलित रूप में अभिव्यक्ति में सक्षम होता है। कथात्मक प्रवाह भी इसमें महाकाव्य की अपेक्षा अधिक होता है। वातावरण का चित्रण पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का आश्रय भी आज के उपन्यासों की विशेषता है। इस नयी साहित्य-विधा ने महाकाव्य की कमियों को दूर किया—छन्द का इसमें कोई स्थान नहीं, पद्य की अपेक्षा गद्य को ग्रहण किया और शब्द-अर्थ चमत्कार की अपेक्षा अनुभूति की अभिव्यक्त को प्रश्रय दिया। इससे महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यासों का प्रचलन होने से महाकाव्यों का युग समाप्त-सा हो गया है।

(६) महाकाव्य का रूप ऐसा सीमाबद्ध है कि उसमें वर्तमान समस्याओं के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रायः सभी उपन्यास इतिहास-प्रसिद्ध कथा पर आधारित हैं। वीरगाथाकालीन महाकाव्य हों या भक्तिकालीन-रीतिकालीन

महाकाव्य हों या आधुनिककालीन महाकाव्य हों—पृथ्वीराजरासो से लेकर भोजराज तक सभी महाकाव्य किसी-न-किसी इतिहास-प्रसिद्ध कथा पर आधारित हैं; यहाँ तक कि भक्तिकाल के महाकाव्य भी राम और कृष्ण-दिव्य पुरुषों के कथानक पर आधारित हैं। ये महाकाव्य भी वर्तमान जीवन का चित्रण नहीं करते। यही कारण है कि आज के युग में महाकाव्यों की कोई उपादेयता नहीं है।

निष्कर्ष—इस विवेचन से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान संघर्ष-प्रधान युग में महाकाव्यों की अपेक्षा उपन्यासों का अधिक प्रचलन है। आज के विद्यार्थी भी पाठ्य-पुस्तकों के रूप में इन महाकाव्यों का अध्ययन समालोचन भले ही करें, जन-साधारण की इनके प्रति कोई रुचि नहीं है। उदाहरणार्थ सुमित्रानन्दन पन्त ने 'लोकायतन' और रघुवीरशरण मित्र ने 'मानवेन्द्र' आदि महाकाव्यों की रचना की, किन्तु वे जनसाधारण की रुचि को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके। इसके विपरीत विमलमित्र का उपन्यास 'खरीदी कौड़ियों के मोल', शंकर का उपन्यास 'चौरंगी' 'ये आनजाने'; शोलोखोव का उपन्यास 'धीरे बहो दोन रे' तथा अमृतलाल नागर का उपन्यास 'अमृत और विष' आदि आकार-प्रकार में बडे होते हुए भी अत्यन्त लोकप्रिय रहे। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अब महाकाव्यों का युग बीत चुका है। वे विगतकाल की एक साहित्य-विधा बनकर रह गये हैं। इनका ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही मूल्य हो, किन्तु वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में इनकी कोई उपादेयता नहीं है। वस्तुतः महाकाव्यों की जगह अब उपन्यासों ने ले ली है। उनमें स्पष्ट रूप से युग-संस्कृति का रूप झलकता है, इसलिए महाकाव्यों का युग समाप्त हो गया है।

प्रश्न ४७—"जिस उद्देश्य की पूर्ति पहले महाकाव्य किया करते थे, उसकी पूर्ति अब उपन्यासों के द्वारा होती है।" इस कथन के आधार पर उपन्यास तथा महाकाव्य के समानधर्मी उपकरणों का विवेचन कीजिए।

साहित्य की अनेक विधाओं में महाकाव्य और उपन्यास ऐसी विधाएँ हैं जो उद्देश्य की दृष्टि से पर्याप्त साम्य रखती हैं। महाकाव्य उसे कहते हैं जो उदात्त कथानक के द्वारा उदात्त उद्देश्य की पूर्ति करे। इसी प्रकार उपन्यास भी उदात्त कथानक के द्वारा उदात्त उद्देश्य की पूर्ति करता है। इन दोनों

साहित्य-विधाओं का अध्ययन करने पर अनेक समानताएँ दिखाई देती हैं। ये समानताएँ मुख्य रूप से इस प्रकार हैं—

(१) महाकाव्य समाज-सापेक्ष होता है, इसमें जीवन का तत्कालीन परिवेश में विशद् वर्णन होता है। महाकाव्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करने के साथ-साथ जीवन का विशद् चित्रण करना होता है; आज के उपन्यास का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करने के साथ-साथ जीवन की विशद् व्याख्या भी होती है। आज का उपन्यास जीवन के विशद् परिवेश को अपने में समाहित करता है। मैखाइली शोलोखोव का उपन्यास 'And the quite Flows the Doan' (धीरे बहो दोन रे) अथवा विमलमित्र का उपन्यास 'खरीदी कौड़ियों के मोल' अथवा शंकर का उपन्यास 'चौरंगी' आदि ऐसे उपन्यास हैं, जिनके परिवेश में तत्कालीन सम्पूर्ण सामाजिक जीवन एवं वातावरण आ जाता है। जिस प्रकार महाकाव्य जीवन का व्यापक परिवेश में चित्रण करते थे, उसी प्रकार आज के उपन्यास जीवन का विशद्‌रूप से मूल्यांकन करते हैं।

(२) कथानक कि दृष्टि से भी उपन्यास तथा महाकाव्य में पर्याप्त समानता है। स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों में संकल्प-विकल्पों और पात्रों की मानसिक दशाओं का चित्रण और विश्लेषण होता है। उसमें आवश्यकता उदात्त कथानक की ही है। इस प्रकार उपन्यासों में भी उदात्त कथानक होता है और दोनों का विकास इस तरह होता है कि कौतूहल की निरन्तर वृद्धि होती रहे। पाठक की उसमें आदि से अन्त तक जिज्ञासा बनी रहे।

(३) महाकाव्य और उपन्यास दोनों में विचारों, भावनाओं, अन्तर्वेगों, सुख-दुख, संघर्ष, सफलता-विफलता आदि का चित्रण होता है। और यह चित्रण करते समय कृतिकार अपने दृष्टिकोण को भी अभिव्यक्त करता है। महाकाव्य में भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है और उपन्यासों में भी। कथानक की परिणति पात्रों के चरित्र और संवाद आदि द्वारा होती है। महाकाव्यकार की तरह महान् उपन्यासकार भी गम्भीर विचार प्रस्तुत करने वाले तथा जीवन-द्रष्टा होते हैं और उनमें जीवन-सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप में होती है। दोनों में ही सिद्धान्त इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि पाठक को उनके पृथक् अस्तित्व का भान ही नहीं होता। उपन्यास और महाकाव्य—दोनों का ही उद्देश्य जीवन को विविध पक्षों में प्रस्तुत करना और चित्रण द्वारा उसकी व्याख्या करना है तथा कथानक के द्वारा अपना

दृष्टिकोण प्रस्तुत करना होता है—"Merely by selection and organization of material, emphasis, presentation of character and development of story, the novelist shows us in a general way what he thinks about life".

उपन्यास की तरह महाकाव्य भी जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करता है, अतः कथानक-विस्तार की दृष्टि से भी वर्तमान उपन्यास महाकाव्यों के निकट है।

(४) उपन्यास तथा महाकाव्य दोनों में ही सत्य का सम्बन्ध सार्वभौम मानव-स्वभाव से होता है, तथ्यों तथा ब्यौरों की अपेक्षा जीवन का समग्र चित्रण करते हैं। इसलिए गेटे ने कहा है, "The arti·t's works is real in so for it is always true, ideal in that it is never actual."

(५) चूँकि उपन्यास तथा महाकाव्य—दोनों का ही सम्बन्ध जीवन तथा उसकी नैतिक समस्याओं से है, अतः उसमें नीति का आना स्वाभाविक ही है; किन्तु दोनों ही उपदेशक नहीं होते, जीवन-दर्शन कहानी के शरीर में इस प्रकार घुलमिल जाना चाहिए कि नीति पृथक् ज्ञात न हो। उपन्यासकार और महाकाव्यकार—दोनों का कार्य उपदेश देना नहीं होता, इसलिए उनका उपदेश कान्तासम्मित उपदेश होता है। वे जीवन-दर्शन को कला के मंजुल आवरण में आवृत्त कर प्रस्तुत करते हैं। माइमण्ड ने स्पष्ट लिखा है—"Art grows out of life; it is fed by life; it reacts upon life. This being so, it cannot disregard its responsibilites to life." किन्तु यह नीति-उपदेश मोहक तथा मंजुल होता है—He embodies and delight."

(६) उपन्यासकार तथा महाकाव्यकार दोनों ही वातावरण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि उसमें जीनव पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो सके। ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल की परिस्थिति का भी पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। महाकाव्य के समान उपन्यास में भी प्राकृतिक पृष्ठभूमि तथा काल-विशेष से सम्बद्ध आचार-विचार, रीति-रिवाज आदि का चित्रण होता है। प्राकृतिक वातावरण तथा परिस्थितियाँ पात्रों के चरित्र पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं। इसमें चतुराई, व्यापकता तथा कलात्मकता होती है। प्रकृति कहीं तो मानव से सहयोग करती प्रतीत होती है और कहीं उसकी भावनाओं को उभारती है। उसके आन्तरिक द्वन्द्व के समय मानसिक द्वन्द्व को भी प्रकट करती है और

इस प्रकार प्रकृति रसोद्रेक में सहायक होती है तथा चित्रण को गरिमामय बनाती है ।

(७) अरस्तू ने महाकाव्य की शैली के लिए समाख्यानात्मक होना माना है । कवि कुछ अपनी ओर से कहता है, कुछ कथा का विकास पात्रों द्वारा कराता है और इसके लिए नाटकीय शैली की आवश्यकता होती है, क्योंकि समाख्यानात्मक शैली से एकरसता पैदा होती है और नाटकीय शैली से विचित्रता, जिससे रचना अधिक आह्लादकारी बन जाती है । इसी प्रकार उपन्यास में भी वर्णनात्मकता तथा नाटकीयता का पर्याप्त समावेश होता है । कोई भी उपन्यास तब तक सफल नहीं माना जा सकता, जबतक उसमें एक-रसता और विचित्रता का समावेस न हो ।

उपन्यासों द्वारा महाकाव्यों के उद्देश्य की पूर्ति—इस समानधर्मी विवेचना से यह स्पष्ट है कि वर्तमान उपन्यास भी वही कार्य करते हैं जो प्राचीन समय में महाकाव्य किया करते थे । महाकाव्यों का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करने के साथ-साथ जनता की भावना को सुधारना होता था और यह सुधार वह मोहक रूप में यथार्थ को प्रस्तुत करके करता था । इसी प्रकार आज के उपन्यास का उद्देश्य भी पाठकों का मनोरंजन करने के साथ-साथ समाज का विशद् चित्रण करना तथा जनता की भावनाओं को उदात्त बनाना होता है । जिस प्रकार महाकाव्यों में गम्भीर विचार मिलते हैं, उसी प्रकार आज के उपन्यासों में भी गम्भीरता दिखाई देती है । इसलिए महाकाव्य तथा उपन्यास इतिहास की अपेक्षा महान् होते हैं तथा इनमें दर्शन नहीं होता, दार्शनिकता का पुट होता है । उपन्यास और महाकाव्य में केवल शैली का ही अन्तर होता है । महाकाव्य पद्यमय होते हैं और उपन्यास गद्यमय; परन्तु उद्देश्य की दृष्टि से दोनों ही समान होते हैं । इसीलिए कहा जा सकता है कि उपन्यास और महाकाव्य—शैली-भेद के होते हुए भी—उद्देश्य की दृष्टि से समान होते हैं और आज का युग उपन्यासों का युग है, पाठक पद्य की अपेक्षा गद्य को पढ़ना ही अधिक उपयुक्त समझता है; इसीलिए उदात्तता का समावेश आज के उपन्यासों में भी महाकाव्यों की तरह हो गया है ।

इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस उद्देश्य की पूर्ति महाकाव्य किया करते थे, उसकी पूर्ति अब उपन्यासों के द्वारा होती है ।

प्रश्न ४८—गीतिकाव्य किसे कहते हैं ? विभिन्न भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की एतद्विषयक परिभाषाओं के द्वारा उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए उसके मूल तत्त्वों तथा विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

काव्यशास्त्रियों ने कवि की दृष्टि से काव्य के दो भेद किये हैं—(१) विषय-प्रधान काव्य और (२) विषयी-प्रधान या स्वानुभूतिपरक काव्य । पहले में कवि अपने को गौण रखकर संसार के नाना विषयों का वर्णन करता है और स्वानुभूति-परक काव्य में कवि अपनी भावना, अनुभूति तथा विचारों का निरूपण करता है। स्वानुभूतिपरक काव्य को ही गीतिकाव्य (Lyrical Poetry) कहा जाता है ।

गीतिकाव्य में किसी भाव की सहज व सरल अभिव्यक्ति होती है । यह पूर्णतया कवि-दृष्टि से लिखा जाता है अतः आत्मपरक होता है । इसके माध्यम से कवि स्वानुभूत भावनाओं का चित्रण करता है जो केवल उसी की होती है और अपनी भावनाओं में वह हँसता है, रोता है, प्रकृति से अपना तादात्म्य—विराग स्थापित करता है और अनुभवों का प्रकाशन करता है। इसमें किसी कथा की अपेक्षा विशिष्ट भाव या अनुभूति विशेष का ही चित्रण होता है ।

गेय होने कारण गीतिकाव्य का प्रयोग 'लिरिक' (Lyric) के लिए किया जाता है । ग्रीक देश में आरम्भ में 'लायर (Lyre) नामक वाद्य-यन्त्र पर गाये जाने वाले गीतों को 'लिरिक' कहा जाता था। बाद में सभी प्रकार के गेय गीतों को लिरिक कहा जाने लगा । इसके मुख्य गुण गेयता तथा संगीतात्मकता के माध्यम से स्वानुभूति का प्रकाशन है ।

हिन्दी में गीतिकाव्य, गीत और प्रगीत का प्रायः पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है। तीनों में ही गेयतत्त्व प्रधान होता है और स्वानुभूति का प्रकाशन होता है। कवि गीतिकाव्य में अपने मन के विविध भावों को नाना रंगों में रँगकर आकर्षक तथा अलंकृत शैली में प्रस्तुत करता है ।

गीत के स्वरूप का निदर्शन करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र लिखते हैं, "मन में जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब कवि उसे गीतिकाव्य में प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकता ।"

उनके अनुसार गीतिकाव्य मनुष्य (कवि) के मन में उत्पन्न हुआ वह वेगवान भावावेग है, जिसका प्रकाशन हुए बिना नहीं रहता ।

सुश्री महादेवी वर्मा सुख-दुखात्मक अनुभूति के गेय शब्द रूप को गीति-काव्य अथवा गीत मानती हैं। उनका विचार है, "गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

इस प्रकार महादेवी वर्मा व्यक्तिगत अनुभूतियों के आरोह-अवरोह की भाँति गीत में भी गेयता मानती हैं और साथ ही यह आवश्यक है कि उसका जन्म तीव्र भावानुभूति के क्षणों में हुआ हो।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी गीति पर विशद् रूप से विचार किया है 'इन्साइक्लोपीडियाब्रिटेनिका' में गेयता पर ध्यान केन्द्रित करके कहा गया है—

"Lyrical poetry a general term for all poetry which is, or can be supposed to be, suscapteble of being sung to accompaniment of a musical instrument."

अर्नेस्ट राइस गीतिकाव्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि सच्चा गीत वही है, जिसमें भाव या भावात्मक विचार का भाषा में स्वाभाविक विस्फोट हो। इस प्रकार गीतिकाव्य उनके अनुसार एक स्वाभाविक भाव-विस्फोट है, जो प्रवाह और चयन की कुशलता से स्वाभाविकता लाता है।

हीगेल के मतानुसार, गीतिकाव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐश्वर्य का उद्घाटन हो, उसमें तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक विशेष रूप का प्रतिबिम्ब होता है। इसका उद्देश्य कलात्मक शैली में आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, आशाओं, आह्लाद-विषाद की तरंगों और वेदना की चीत्कारों का उद्घाटन करना होता है।

गोमर महोदय ने गीतिकाव्य की जो परिभाषा दी है, इससे उसके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनके मतानुसार, "गीतिकाव्य वह अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी कविता है, जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है, जिसका सम्बन्ध घटनाओं से नहीं, अपितु भावनाओं से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है।"

हडसन भी इसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं, "गीतिकाव्य की सबसे बड़ी कसौटी वैयक्तिकता की छाप है। किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होती है, जिससे

प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके ।"

गीतिकाव्य का स्वरूप—इन परिभाषाओं के आधार पर गीतिकाव्य के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा जा सकता है कि **गीतिकाव्य में वैयक्तिक अनुभूतियों का गेयात्मक तथा संगीतात्मक माध्यम से सहज प्रकाशन होता है।** वह अन्त:वृत्ति-निरूपिणी कविता है। इसमें कवि की किसी एक अनुभूति का चित्रण होता है। इसमें संक्षिप्तता के साथ-साथ लय तथा प्रवाह होता है और हृयद की भावनाओं के अनुरूप सरसता, कोमलता आदि होती है।

गीतिकाव्य की विशेषताएँ—गीतिकाव्य के इस स्वरूप-विवेचन के आधार पर निम्नलिखित विशेषताएँ मानी जा सकती हैं :

(क) हृदयपक्ष की प्रधानता—गीतिकाव्य की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसका सम्बन्ध मस्तिष्क से न होकर हृदय से होता है और इसी कारण उसकी अनुभूति बहुत कोमल तथा सरस होती है।

(ख) प्रकरण की संक्षिप्तता—यह गीतिकाव्य की बड़ी विशेषता है और इसके लिए सुन्दरता, मनोहरता तथा प्रभावोत्पादकता आदि गुण आवश्यक हैं।

(ग) तीव्र भावाभिव्यक्ति—इससे गीतिकाव्य में सम्प्रेषणीयता (Communication) का गुण आ जाता है। अत: तीव्र भावाभिव्यक्ति ही गति को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए कवि को प्रेरित करती है।

(घ) मार्मिकता—गीतिकाव्य की एक अन्य विशेषता उसकी मार्मिकता है। इसमें प्रस्तुत सहज भाव पाठक अथवा श्रोता के हृदय को छू लेते हैं। यदि कवि ने केवल एक ही भाव का प्रकाशन किया है तो वह पाठक के मन को स्पर्श कर लेता है और वह उसमें पूर्णरूपेण लीन हो जाता है।

(ङ) संक्षिप्तता—यह भी गीतिकाव्य की एक अनिवार्य विशेषता है। जो गीत जितना संक्षिप्त होगा, वह उतना ही कसा हुआ होगा। लम्बा होने से भाव की विच्छिन्नता का भय रहता है, दूसरे, भावावेग क्षणिक होने के कारण अल्प समय के लिए रहता है। अत: गीत के भी संक्षिप्त होने से उसमें प्रवाहमयता और स्वाभाविकता आ जाती है पर साथ ही इस पर ध्यान रखना चाहिए कि यह संक्षिप्तता ऐसी न हो जाये कि उस भाव का अर्थ ही स्पष्ट न हो पाये, पूर्णानन्द से पहले ही वह समाप्त हो जाये।

(च) सुकुमारता—गीतिकाव्य सुकुमार भावनाओं का प्रेरक होता है, अतः इसकी एक अन्य विशेषता सुकुमारता है। कोमल मसृण भावनाएँ ही कवि-हृदय से निःसृत होकर अभिव्यक्ति प्राप्त करती हैं और इसके लिए गीत में संगीतात्मकता का प्राधान्य होता है।

(छ) स्पष्टता—अलंकार तथा क्लिष्ट भाषा बुद्धि के लिए भले ही सामग्री प्रदान करे, हृदय-पक्ष के लिए घातक ही सिद्ध होती है। गीति, चूँकि अनुभूतिप्रधान होता है, अतः इसकी एक विशेषता यह है कि यह सरल शब्दों में हृदयगत भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति करे। इस स्पष्टता के कारण ही कवि अपनी भावनाओं को उसी रूप में पाठकों तक पहुँचा पाता है, जिस रूप में वह अनुभव करता है। स्पष्टता गुण के कारण ही गीतिकाव्य अन्तर्वृत्तियों का सहज प्रकाशन समझा जाता है।

गीतिकाव्य के तत्त्व—विशेषताएँ तो वे होती हैं जिनके होने से कोई भी भाव य अभिव्यक्त काव्य सुन्दर व आकर्षक बनता है, पर तत्त्व वे होते हैं जिनसे काव्य को कलेवर प्राप्त होता है, अर्थात् विशेषताएँ तो प्रसाधन हैं पर तत्त्व मूल हैं, काव्य का शरीर और प्राण है। इन्हीं तत्त्वों के माध्यम से काव्य के स्वरूप का निर्माण होता है। गीतिकाव्य के प्रमुख मूलतत्त्व निम्न-लिखित है :

(क) तीव्र भावावेग—तीव्र भावानुभूति के बिना गीतिकाव्य का निर्माण हो ही नहीं सकता। कवि की तीव्र भावनाएँ अनुभूति द्वारा भाव बनकर ही अभिव्यक्त होती हैं। अतः यदि भावावेग नहीं है तो काव्य का स्वरूप ही क्या होगा ? अतः गीतिकाव्य की आत्मा भाव है। तो काव्य किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीत रूप में फूट पड़ता है। एक कवि ने लिखा भी है :

"गीत तुम कहते जिसे हो, प्रेरणा का व्रण है आकुल।
और है वह शक्ति जिससे, वेदना व्रण भी सके घुल।।"

इसी से गीतिकाव्य में हार्दिकता (Spontaniety) तत्त्व आवश्यक है और यह तत्त्व भाव ही है। ब्रूनलियर ने भी स्पष्ट लिखा है, "गीतिकाव्य में कवि भावानुकूल लयों में अपनी आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना का प्रकाशन करता है।" वर्ड्सवर्थ ने भी कविता की जो परिभाषा दी है, वह भी भावतत्त्व को ध्यान में रखकर दी है, क्योंकि कविता तीव्र भावों का तीव्र उच्छलन है—

Poetry is a spontaneous overflow of powerful tellings."

(ख) **व्यक्तित्व**—इसी तत्त्व के कारण गीतिकाव्य अन्य काव्यरूपों से भिन्न होता है। गीतिकाव्य आत्मप्रधान होने के कारण इसमें व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता होती है। इसका दृष्टिकोण, विषयपरक न होकर उसके रचयिता के हर्ष-विषाद, सुख-दुख, लज्जा-ग्लानि, वेदना-उल्लास, क्षोभ आदि को व्यक्त करना ही होता है। इसीलिए रस्किन ने कहा है—"गीतिकाव्य कवि की अपनी भावनाओं का प्रकाशन है।"

(ग) **गेयता**—गीतिकाव्य का तीसरा प्रमुख तत्त्व उसकी गेयता है। गीति मूलतः संगीतात्मक होता है। इसका उद्भव ही ग्रीक वाद्य लायर (Lyre) पर गाये जाने वाले लिरिक (Lyric) से हुआ है। यद्यपि अब इसके लिए वाद्ययन्त्रों के आश्रय की आवश्यकता नहीं रही; फिर भी शब्दों की ध्वनि में निहित स्वर-ताल तो आवश्यक है ही। यदि गीतिकाव्य में गेयता या संगीतात्मकता न हो तो उसे गीत नहीं कह सकते। यहाँ संगीतात्मकता से अभिप्राय स्वरताल के संगीत से नहीं है, इसके लिए कोमलकान्त पदावली, सुचारु शब्द-गुम्फन, वर्णाक्षर-मैत्री आदि से उत्पन्न संगीतात्मकता (संगीत नहीं) आवश्यक है। इसमें बाह्य संगीत की अपेक्षा आन्तरिक संगीत होता है और इसलिए गेयता प्रमुख तत्त्व है।

(घ) **रागात्मक अन्विति**—कवि गीति की रचना करते समय पहले तो किसी एक भाव-विशेष से अनुप्रेरित होता है और फिर उस तीव्र भावावेग से उसका अन्तर्बाह्य—सभी झंकृत हो उठता है। इसी झंकार को वह शब्दों के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है। कवि का मूलभाव एक ही पंक्ति में केन्द्रित हो जाता है और यही पंक्ति सभी अन्य पंक्तियों को जीवन प्रदान करती है। महादेवी के गीत इसका सुन्दर उदाहरण हैं। उनके गीतों की प्रथम पंक्तियाँ उनके भावों को शब्द-बद्ध कर लेती हैं और शेष पंक्तियों में उसी भावना का विकास किया जाता है। अतः गीत के लिए रागात्मक अन्विति का होना आवश्यक है। यही रागात्मक अन्विति गीत को सम्बद्धता प्रदान करती है।

(ङ) **शैली तत्त्व**--विशिष्ट प्रवाहमयी शैली गीतिकाव्य का एक अन्य प्रमुख तत्त्व है। कारण, शैली के माध्यम से ही भाव गीतिरूप में प्रस्तुत होते हैं। शैली में तरलता और तारतम्य का होना आवश्यक है, क्योंकि गीति का मूल भाव-अन्तःप्रेरणा से उत्स् होता है। अतः शैली भी प्रवाहमयी होनी

चाहिए। यदि पाठक पढ़ते समय उसमें कोई व्याघात का अनुभव करे तो वह इसकी असफलता है। प्रवाहमयी शैली से ही प्राणतत्त्व की स्थापना होती है।

(च) **आन्तरिक प्रेरणा**—सम्पूर्ण गीति-कविता आत्मद्रव की अन्तर्धारा से प्रवाहित होती है और यह आत्मद्रव कवि की आन्तरिक प्रेरणा से अनुस्यूत होता है। कवि की प्रेरणा जितनी अधिक होगी, गीतिकाव्य उतना ही भावमय बन सकेगा। आवेग का इसीलिए स्वाभाविक होना आवश्यक है, क्योंकि कृत्रिम आवेग से प्रवाह नहीं आ पाता। यह आवेग पीड़ा और दर्द के क्षणों में बहुत ही तीव्र तथा घनीभूत हो जाता है। जितने भी महान् गीतिकार हुए हैं, सभी ने अपनी वेदना तथा पीड़ा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। इसीलिए एक कवि ने लिखा है :

"चाहे कोई लिखे, किसी के लिए लिखे
पर जन्म गीत का सदा दर्द से होता है।
अब तक का तो कहता है इतिहास यही,
कवि पीछे लिखता पहले तो रोता है॥"

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन्हीं तत्त्वों से गीतिकाव्य का निर्माण होता है और विशेषताएँ उसके स्वरूप को सुन्दर तथा आकर्षक बनाती हैं। अतः गीति के लिए दोनों की ही अनिवार्यता ग्राह्य है।

प्रश्न ४९—गीतिकाव्य अथवा प्रगीत के प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए।

गीतिकाव्य का अनेक दृष्टियों से वर्गीकरण किया जा सकता है। यों तो गीतिकाव्य कवि की अनुभूति का सहज प्रकाशन है, अर्थात् अनुभूति-प्रकाशक काव्य गीत है, पर अनुभूति में भी अनेकरूपता होती है। अतः गीतों के भी अनेक रूप हो जाते हैं। उनके प्रमुख भेद संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

तत्त्वों की दृष्टि से वर्गीकरण—तत्त्वों की दृष्टि से गीत के दो भेद किये जा सकते हैं :

(क) भाव-प्रधान गीत और (ख) विचार-प्रधान गीत।

(क) भाव-प्रधान गीत—जिन गीतों में आत्माभिव्यक्ति की भावना प्रमुख होती है, अर्थात् जिनमें कवि अपनी अनुभूतियों में ही लीन रहता है, वे भाव-प्रधान गीत कहलाते हैं। इन गीतों का सम्बन्ध भावोत्कर्ष तथा मानसिक उद्वेगों

से होता है। इसलिए इन्हें कल्पनात्मक बिम्ब प्रदान करने वाली गीति-रचना अथवा भाव-गीति भी कहा जाता है।

(ख) **विचार-प्रधान गीत**—जिन गीतों में रागतत्त्व की अपेक्षा विचारतत्त्व की प्रधानता होती है, वे विचार-प्रधान गीत कहलाते हैं। इनमें गम्भीरता की मात्रा पर्याप्त है। सम्बोधन-गीत इसी का एक प्रमुख रूप है।

आकार की दृष्टि से वर्गीकरण—कुछ गीतों का आकार छोटा होता है, कुछ का बड़ा होता है और कुछ का आकार निश्चित होता है। अतः इस आधार पर गीत चार प्रकार के होते हैं—

(क) दीर्घाकार गीत, (ख) लघु-आकार गीत, (ग) चतुष्पदी और (घ) चतुर्दशपदी।

दीर्घाकार गीत—वे गीत जिनका आकार सामान्य गीतों की अपेक्षा दीर्घ होता है, वे दीर्घाकार गीत कहलाते हैं। यद्यपि गीत की एक विशेषता उसकी संक्षिप्तता है, पर फिर भी कुछ गीत बड़े हो जाते हैं। छायावादी कवियों के गीत प्रायः लम्बे हैं। सम्बोधनगीत (Ode) और कुछ शोक-गीत (Elegy) दीर्घ गीत होते हैं। सम्बोधनगीत एक दीर्घ कविता होती है जो रचना-वैचित्र्य से युक्त होती है। विलापिका (Elegy) भी कभी-कभी काफी लम्बी हो जाती है। निराला का शोक-गीत 'सरोज-स्मृति' काफी लम्बा गीत है।

लघु-आकार गीत—कुछ गीत सामान्य आकार की अपेक्षा अधिक छोटे होते हैं। उन्हें लघु-आकार गीत कहते हैं। यद्यपि सबसे छोटा गीत दोहा है, जो दो पंक्तियों का ही होता है, पर इसका आकार निश्चित होने से इसे इस वर्ग के गीतों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।

चतुष्पदी—इसे उर्दू में रुबाई कहते हैं। इसमें चार पंक्तियों में किसी एक भाव को अभिव्यक्त किया जाता है। हिन्दी में आजकल इसका पर्याप्त प्रचलन है।

चतुर्दशपदी—यह चौदह पंक्तियों की कविता होती है। इसे अंग्रेजी में सॉनेट (Sonnet) कहते हैं। इसमें केवल भाव-विलास ही नहीं होता, विचार-तत्त्व की भी प्रधानता होती है। चंचल भावों पर नियन्त्रण होने के कारण गम्भीरता व प्रौढ़ता काफी होती है।

सॉनेट के स्थूल रूप में दो वर्ग किये गए हैं—शैक्सपीरियन सॉनेट और मिल्टानियन सॉनेट।

शैक्सपीरियन सॉनेट में दो भाग होते हैं—पहले १२ चरणों का एक तथा अन्तिम दो चरणों का दूसरा। प्रथम १२ पंक्तियों में एक विचार होता है और अन्तिम दो पंक्तियों में या तो उस विचार को पलट दिया जाता है अथवा उसका विस्मयपूर्ण ढंग से उपसंहार कर दिया जाता है। इसकी अन्तिम दो पंक्तियों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। शैक्सपीयर की 'on love' इसी प्रकार की गीति-रचना है।

मिल्टानियन सॉनेट—प्रथम आठ पंक्तियों का एक खण्ड तथा शेष छह पंक्तियों का दूसरा खण्ड होता है। पहली आठ पंक्तियों में एक भावना या विचार होता है, शेष छह पंक्तियों में इस विचार या भावना की विरोध भावना होती है, उसका प्रतिपक्ष होता है अथवा उसका प्रत्युत्तर होता है। मिल्टन की 'On his blindress' इसी प्रकार की प्रगीतात्मक रचना है।

सॉनेट में इस कारण भावना का स्वच्छन्द रूप न रहने से कृत्रिमता आ जाती है। अतः भावों का सहज उच्छलन न होने से वह साँचेदार कलात्मक काव्यरूप ही है जो गीतिकाव्य के मूलतत्त्व—स्वाभाविकता से हट जाता है।

वृत्ति के आधार पर वर्गीकरण—मानव की अनेक वृत्तियाँ होती हैं; विषय और वृत्ति के आधार पर गीतिकाव्य के भी अनेक भेद हो जाते हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(क) प्रेम-गीत, (ख) व्यंग्य-गीत, (ग) शोक-गीत, (घ) शिशु-गीत, (ङ) नृत्यगीत, (च) भक्तिपरक गीत, (छ) वीर-गीत, (ज) विरह-गीत, (झ) सम्बोधन गीत और (ञ) आख्यायिका गीत।

प्रेमगीत (श्रृंगारिक गीत)—इस प्रकार के गीतों में कवि अपनी प्रेमानुभूति अथवा श्रृङ्गारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। इसका उच्छलन तारुण्य की कोमल रसिकता से होता है। इस प्रकार के गीत पाश्चात्य साहित्य और हिन्दी साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं।

व्यंग्य गीत—ये गीत पाठक के मन में गुदगुदी उत्पन्न करते हैं। वही कवि सफल व्यंग्य-गीतकार हो सकता है, जिसकी बुद्धि चपल है तथा जिसमें जीवन की असंगतियों को देखने या परखने की सूक्ष्म शक्ति है। ये गीत मन में मीठी चुटकी लेते हैं। कवि इनके माध्यम से, व्यंग्य-विनोद का सहारा लेकर समाज के नेत्र खोलता है और कटु-वस्तुस्थिति से परिचित करता है। निराला के 'बनवेला' और 'कुकुरमुत्ता' इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

शोक-गीत (Elegy)—इन गीतों में किसी प्रिय व्यक्ति के निधन अथवा सदैव को छोड़कर चले जाने पर शोक प्रकट किया जाता है। इसमें कृत्रिमता तनिक भी नहीं आनी चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से कविता प्रभावपूर्ण नहीं रहेगी। इसे विलापिका भी कहते हैं। स्पेन्सर का 'एस्ट्रोफेल', मिल्टन का 'लिसीडस' शोक-गीत के सुन्दर उदाहरण हैं। निराला की 'सरोज-स्मृति' भी हिन्दी शोक-गीत का उत्तम उदाहरण है। कभी-कभी शोक-गीतों में दार्शनिक विचारधारा का भी विवेचन होता है और जीवन के शाश्वत सत्य—मृत्यु के रहस्यों का मार्मिक उद्घाटन होता है।

शोक-गीत का एक भेद 'Pastoral Elegy' है। इसमें मृत व्यक्ति के प्रति जो शोक व्यक्त किया जाता है, वह सीधे-सीधे ढंग से न होकर विचित्रतापूर्ण होता है और इसकी भाषा आलंकारिक होती है। मिल्टन का 'लिसिडस' इसी प्रकार का शोक-गीत है।

शिशु-गीत—शिशु-गीत दो प्रकार के हो सकते हैं—(१) जिनमें बच्चों की भावनाओं का चित्रण हो और (२) जो बच्चों के लिए लिखे जायें। इनमें पहले प्रकार के गीतों को ही आजकल शिशु गीत माना जाता है। इन गीतों में बच्चों के सरल मानसिक भावों, मनोवृत्तियों और उनके मन पर पड़े प्रभावों का सरलतम भाषा में सुन्दर वर्णन होता है। इन गीतों को लिखने के लिए बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है।

नृत्य-गीत—जिन गीतों में नृत्य आदि का वर्णन हो, वे नृत्य-गीत कहलाते हैं। इनका संगीत, नाद और लय से विशेष सम्बन्ध होता है।

भक्तिपरक-गीत—इन गीतों में कवि आराध्यदेव के चरणों में अपनी भक्ति-भावना के प्रसून अर्पित करता है। दैन्य, ग्लानि, श्रद्धा-स्तुति आदि इसी प्रकार के गीतों की भावनाएँ हैं। इनमें अलौकिक सत्ता के रहस्य के प्रति एक जिज्ञासा-भाव होता है जो विभिन्न रूपों से प्रकट होता है।

वीरगीत—जिन गीतों में वीरता, युद्ध आदि साहित्यिक भावनाओं की प्रधानता होती है, उन्हें वीरगीत कहते हैं। इनका एक अन्य रूप राष्ट्रीय गीत होता है। कवि देश के उत्थान के लिए, जनता को जाग्रत करने के लिए, अतीत गौरव का स्मरण और वर्तमान की हीनता के प्रति विक्षोभ व्यक्त करने के लिए इस प्रकार के गीतों का प्रयोग करता है। राष्ट्रीय भावना में भी कवि स्वानुभूति का वीरतापरक प्रकाशन करता है।

विरह-गीत—कवि प्रिय-विरह में अश्रु प्रवाहित करने के बाद, उसके जाने के बाद स्मृति के माध्यम से अपने प्रिय का स्मरण करता है और उसके वियोग में व्यक्त विरह का जिन गीतों में वर्णन करता है, वे विरह-गीत कहलाते हैं।

सम्बोधन-गीत अथवा गौरव-गीत (Ode)—इन गीतों में किसी को सम्बोधित करके स्तुतिपरक भावनाओं की अभिव्यक्ति की जाती है। किसी महान् तथा आदरणीय व्यक्ति के प्रति कवि अपनी भावनाओं को गम्भीर तथा आदर भाव से युक्त करके अभिव्यक्त करता है। शैली का 'Skylark' तथा कीट्स का 'Ode to the Nightingale' इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

आख्यायिका गीत (Ballad)—मध्यकालीन पद्यबद्ध कहानी को ही आजकल आख्यानक गीत कहते हैं। इनमें युद्ध, वीरता तथा पराक्रमपूर्ण कृत्यों का प्राधान्य होता है और इसे प्रेम, घृणा, कलह, करुणा आदि भाव प्रेरणा देते हैं। यह समाख्यान कवि स्वयं प्रस्तुत करता है या किसी पात्र के द्वारा प्रस्तुत कराता है। इसी कारण इसकी शैली में अन्तःस्फूर्ति और सरलता आ जाती है। और अनुभूति-सापेक्ष होने के कारण ही इसे गीतिकाव्य के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। प्रसाद का 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' आख्यानक गीति का सुन्दर उदाहरण है।

शैली के आधार पर वर्गीकरण—शैली के आधार पर गीतों के दो भेद किये जा सकते हैं—

(क) लोकगीत और (ख) कलागीत।

लोकगीत—लोकगीतों में गाँव के लोग अपने भोले-भाले, सरल-सीधे भावों और मनोवेगों को सरल भाषा में अभिव्यक्त करते हैं। इनमें लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है और उसका अन्तर्वेग तीव्रोच्छ्वास स्वतः गीतिकाव्य का रूप धारण कर लेता है। इसमें सजीवता, मर्मस्पर्शिता तथा हार्दिकता प्रचुर मात्रा में होती है। सहज गेयता इनका प्रमुख गुण है। इन लोकगीतों के दो रूप होते हैं—(१) अकेले गाये जाने वाले लोकगीत और (२) समूह रूप में मिलकर गाये जाने वाले लोकगीत। ये गीत लोक-मानस से अपना पूर्ण तादात्म्य रखते हैं।

कलागीत—इनको साहित्यिक गीत भी कहते हैं। इन गीतों में लेखक का कोई पता नहीं रहता तथा भाषा आलंकारिक रहती है। नागर भाव की प्रधानता के साथ-साथ व्यक्ति-भाव की भी प्रधानता रहती है। इन गीतों के

प्रमुख गुण हैं—नाद-सौन्दर्य, शब्द-योजना, संगीत की सूक्ष्मता, वाग्वैदग्ध्य आदि।

परन्तु इन गीतों में लोकगीतों जैसी सहज गेयता, सहज ग्राह्यता तथा सौन्दर्य-पक्ष उतना प्रबल नहीं होता।

इसके अतिरिक्त लौकिक-अलौकिक के आधार पर भी गीतों के भेद किए जाते हैं, पर मान्य ये ही वर्गीकरण हैं। इस प्रकार अनुभूति तथा अभिव्यक्ति भेद से गीतों के अनेक भेद हो जाते हैं।

प्रश्न ५०—समालोचना की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिये और विभिन्न विद्वानों द्वारा की गई समालोचना की परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए। साथ ही आलोचना की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालिये।

हिन्दी में आलोचना शब्द का प्रयोग समीक्षा, समालोचना, विवेचना आदि पर्याय शब्दों के रूप में अंग्रेजी शब्द क्रिटिसिज्म (Criticism) का रूपान्तर है। यह अंग्रेजी का ही रूपान्तर मात्र नहीं, बल्कि हिन्दी में यह शब्द संस्कृत से आया है। संस्कृत में आलोचना शब्द 'लुच' धातु से बना है। 'लुच' धातु का अर्थ होता है देखना। अतः इसमें 'ल्यु' प्रत्यय जोड़ने से 'लोचन' शब्द बना है जिसमें 'आङ' उपसर्ग लगाने से आलोचना शब्द की व्युत्पत्ति होती है। शब्दगत अर्थ की दृष्टि से आलोचना की अपेक्षा समालोचना अथवा समीक्षा शब्द अधिक उपयुक्त है। समालोचना का अर्थ है—सम्यक् आलोचना—भली प्रकार देखना और इसी प्रकार समीक्षा का अर्थ भी देखना, परखना सम्यक् ईक्षा है।

आलोचना तथा समीक्षा का अर्थ होता है किसी वस्तु अथवा पदार्थ का सम्यक् दृष्टि से पर्यवेक्षण करना। आरम्भ में इसका अर्थ छिद्रान्वेषण ही माना गया था। किन्तु बाद में इसका अर्थ निर्णय के रूप में स्वीकार किया गया जो अंग्रेजी शब्द के क्रिटिसिज्म के अधिक निकट है।

समालोचना की परिभाषा—चूँकि हिन्दी में वर्तमान समालोचना के स्वरूप पर पाश्चात्य प्रभाव पर्याप्त है, अतः इसकी परिभाषा भी मूलरूप से पाश्चात्य समालोचकों की धारणाओं से सम्बद्ध है। अतः समालोचना की परिभाषा करते समय पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं की विवेचना आवश्यक है।

'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में समालोचना (Criticism) की परिभाषा देते हुए लिखा है कि समालोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण-दोष की परख करना है, चाहे वह परख साहित्य के क्षेत्रों में की गयी हो अथवा ललित कला के क्षेत्रों में। इसका विकास स्वरूप-निर्णय में सन्निहित रहता है—

"Criticism is the art judging the qualities and values of an aesthetic object whether in literature or in fine arts. It involves the formation and expression of judgment"

मैथ्यू आर्नाल्ड समालोचना के मुख्य गुण तटस्थता के आधार पर इसकी परिभाषा करते हैं कि समालोचक तटस्थ होकर वस्तु के स्वरूप को जानने की आकांक्षा से आलोचना करता है। अतः समालोचना संसार के सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम विचारों को व्यक्त करती है :

"The Criticism, real criticism is essentially the exercise of this very quality (curiosity and disinterested love of a free play of mind). It obeys on instinct prompting to try to know the best that in known and thoughts in world."

इसी प्रकार आई० ए० रिचर्ड्स ने मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि आलोचना साहित्यिक अनुभूति के विचारोपरान्त उनका सम्यक् विवेचन करती है "To set up a criticism is to set up as a judge of values." ड्राइडन के अनुसार आलोचना वह कसौटी है, जिसकी सहायता से किसी रचना का मूल्यांकन किया जाता है। कॉलरिज के अनुसार समीक्षा का उद्देश्य साहित्य-निर्माण के नियमों का निश्चितीकरण है न कि निर्णयात्मक नियमों का संकलन तैयार करना।

सेंट्सबरी ने वृत्तियों के आधार पर समालोचना की परिभाषा दी है। उनके अनुसार, "साहित्यिक सुरुचि के तर्कपूर्ण प्रयोग का नाम ही समालोचना है। यह साहित्य की परीक्षा करती है और उनके श्रेष्ठ तथा आनन्ददायी तत्त्वों की ओर संकेत करती है।"

समालोचना का स्वरूप—इन परिभाषाओं के आधार पर तीन बातें मुख्य हैं—अर्थ का स्पष्टीकरण, विषय का वर्गीकरण तथा निर्णय की प्रधानता। इसका उद्देश्य जनता और लेखकों की रुचि का संशोधन करना है। समालोचना का वास्तविक अर्थ यही है कि वह इतिहास और तुलना का आधार

लेकर वस्तु के बाह्य और आन्तरिक पक्षों की वैज्ञानिक शैली में व्याख्या करते हुए आलोच्य वस्तु का मूल्यांकन करे। इस दृष्टि से डा० सीताराम चतुर्वेदी की परिभाषा अधिक स्पष्ट है; यथा—

"समीक्षा वह तात्त्विक प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य कुछ दर्शनीय पदार्थ देखने की इच्छा करे और देख चुकने पर उसमें जो द्रष्टव्य है, उसे दूसरों को भी दिखादे।"

आलोचना का उद्देश्य – बाबू गुलाबराय ने आलोचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आलोचना का उद्देश्य कवि की सृष्टि—कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद करके पाठकों के उनके आस्वादन में प्रेरणा देना है। समालोचना से द्वारा समालोचक निम्नलिखित उद्देश्य पूर्ण करता है—

(१) रचना का भावन और उसके रचयिता के उद्देश्य का उद्घाटन।

(२) रचना के गुण-दोषों का विवेचन।

इस सम्बन्ध में ऐडीसन के कलाकृति में निहित गुण-सौन्दर्य के उद्घाटन पर विशेष बल दिया है; यथा—

"The Critic's principal duty is to discover the concealed beauties of a writer and communicate to the world such things as are worth their observation."

लेकिन गुण-प्रकाशन के साथ-साथ किसी भी कृति के दोषों की विवेचना भी आवश्यक है, ताकि विकृत साहित्य के लेखन की प्रवृत्ति न पनप पाये।

(३) अच्छे साहित्य को प्रोत्साहन देना और विकृत साहित्य का निराकरण करना तथा इस दृष्टि से रचना का मूल्यांकन करना।

(४) रचना की व्याख्या करके अपने मन पर पड़े उसके प्रभाव की विवेचना करना।

कुछ विद्वान् मूल्यांकन अथवा निर्णय को समालोचना का उद्देश्य नहीं मानते। वाल्टर पेटर आलोचक के तीन उद्देश्य ही मानते हैं—कवि के गुणों का अनुभव, उनका विश्लेषण और प्रस्तुतीकरण—

"To feel the virtue of the poet or the painter, to desengage it, to set it forth—these are the three stages of the critic's duty."

किन्तु आलोचक का कार्य अथवा उद्देश्य निश्चित रूप से निर्णय देना है, क्योंकि उसके विना पाठक बीच में ही रह जायगा। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि निर्णय प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप से ही हो—समालोचक मार्ग दिखा दे, पाठक निर्णय स्वयं ले-ले।

आलोचना की प्रक्रिया—आलोचना समालोचक की रुचि, जिज्ञासा और आत्माभिव्यक्ति के कारण ही आवश्यक होती है; अर्थात् समालोचना प्रतिक्रियाओं की देन है। ये प्रक्रियाएँ सदैव परिवर्तित होती रहती हैं, यह परिवर्तन चाहे रुचि-भेद से हो, या चिन्तन-क्षमता से या अन्य व्यक्तिगत विशेषताओं से हो। इसलिए आलोचना की प्रक्रिया में तीन आयाम हैं—प्रभाव-ग्रहण, व्याख्या व निर्णय और मूल्यांकन। इन तीनों के सम्मिलित रूप से ही आलोचना की प्रक्रिया पूर्ण होती है। इन तीनों का संक्षेप में उल्लेख, आलोचना को जानने के लिए आवश्यक है।

(क) प्रभाव ग्रहण—इसी से आलोचना की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है, अतः यह समालोचना का प्रथम तत्त्व है। प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया कलाकृति के विषय-बोध पर आधारित है। जब तक किसी कृति को पूर्णरूप से समझ कर उसका मन पर प्रभाव न पड़े, तब तक आलोचना अपूर्ण है। प्रभाव ग्रहण करने के पश्चात् ही कोई समालोचक एक निश्चित निर्णय ले सकता है। इस प्रभाव-ग्रहण में समालोचक की वैयक्तिक रुचि-विरुचि एवं संस्कारों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जिन विषयों के प्रति समालोचक की विशेष रुचि होगी, वह उन्हीं से अधिक प्रभाव ग्रहण करेगा। यद्यपि यह सत्य है कि समालोचक का मुख्य गुण तटस्थता है, पर फिर भी उसकी व्यक्तिगत रुचि का पर्याप्त प्रभाव—चाहे वह परोक्ष ही सही, पड़ता अवश्य है। पर प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया के समय बुद्धि का व्यापक तथा विचारों का विशद् होना आवश्यक है।

(ख) व्याख्या—प्रभाव ग्रहण के पश्चात् समालोचना की जो दूसरी प्रक्रिया है, वह है व्याख्या-विश्लेषण। जब समालोचक के मन पर किसी कृति का पूर्ण प्रभाव पड़ जाता है तो वह उसकी व्याख्या में प्रवृत्त हो जाता है। व्याख्या का अर्थ है—किसी कृति का सर्वाङ्ग विश्लेषण और विवेचन। आर्नाल्ड ने इस व्याख्या का विश्लेषण करते हुए लिखा है, "किसी भी वस्तु का यथावत् परिशीलना आलोचना का प्रमुख ध्येय है। उसके सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम विचारों की खोज करना और उनके प्रसार में दत्तचित्त होना ही व्याख्या का कर्म है।"

वस्तुतः समालोचक किसी कृति का व्याख्याता ही होता है और किसी आधार पर आलोचना का उद्देश्य स्वयं जानना और दूसरों को बतलाना माना जाता है। समालोचक किसी कृति से जो प्रभाव ग्रहण करता है, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम व्याख्या ही है। आलोचना की व्याख्या करते समय समालोचक चार बातों पर ध्यान रखता है—

(१) ऐतिहासिक जिज्ञासा का शमन तथा कृतिकार, उसके युग, उसकी प्रेरणा य प्रभाव की व्याख्या करना।

(२) कवि के प्रतिपाद्य, विषय-वस्तु का स्रोत, उसकी मीमांसा और संयोजन करना।

(३) वस्तु की रूप-सज्जा, भाषा-शैली, छन्द आदि की व्याख्या-विश्लेषण करना।

(४) रचना का युग-विशेष पर पड़े प्रभाव और लोक-प्रतिष्ठा की व्याख्या करना।

(ग) मूल्यांकन व निर्णय— समालोचना की तीसरी तथा अन्तिम प्रक्रिया व्याख्या के पश्चात् अपने मूल्यांकन का निर्णय देना है। समालोचक जिस प्रभाव को ग्रहण करता है, उसकी अपनी बोध-दृष्टि से व्याख्या करता है और फिर अन्त में उस पर निर्णय-देता है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान् इस निर्णय को समीक्षा के क्षेत्र से बाहर मानते हैं। पर निर्णय भी इसी के अन्तर्गत है। इसलिए रिचर्ड्स ने लिखा है—

"आलोचक होने का अर्थ यह है कि वह किसी वस्तु या कृति का गुण-दोष विवेचन करके मूल्यों का निर्धारण करे।"

निष्कर्ष—इस समग्र विवेचन से स्पष्ट है कि समालोचना अंग्रेजी शब्द क्रिटिसिज्म का पर्याय है और इस की प्रक्रिया तीन तत्त्वों पर निर्भर रहती है। इन्हीं के आधार पर समालोचना की परिभाषा का निर्माण किया जा सकता है।

प्रश्न ५१—साहित्य को विवेचन की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? आलोचना के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए समालोचक के गुणों का निरूपण कीजिए।

अथवा

कवि के समान समीक्षक का कार्य भी सर्जनात्मक कहा जा सकता है या नहीं ? काव्य और समीक्षा के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए समालोचक के गुण बताइए।

मूलतः साहित्य की व्याख्या को समालोचना कहते हैं। आलोचक किसी कृति की व्याख्या-विश्लेषण करके पाठकों की रुचि को मार्ग दिखाता है पर इसके साथ ही यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है कि साहित्य का विवेचन-विश्लेषण आवश्यक क्यों है। जब साहित्यकार किसी रचना का स्रष्टा है और उसका आस्वादक पाठक या स्रोता है, तो इनके बीच समालोचक की आवश्यकता ही क्या है ? यही आवश्यकता जानने की प्रवृत्ति आलोचना के प्रयोजनों की ओर संकेत करती है। ये प्रयोजन आलोचना के उद्देश्य को भी स्पष्ट करते हैं।

आलोचना के प्रयोजन—डा० गुलाबराय ने आलोचना के प्रयोजनों पर विचार करते हुए लिखा है, "आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वादन में सहायता देना, उसकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति-विधि निर्धारित करने में योग देना है।" वस्तुतः आलोचना साहित्य का मार्ग प्रशस्त करती है और उसका नियमन भी करती है।

समग्रतः आलोचना के निम्न प्रयोजन माने गये हैं :

(१) लेखकों और कवियों का पथ-प्रदर्शन—पाश्चात्य विचारकों का मत है कि समालोचना कवि और लेखक का पथप्रदर्शन करती है। कारण, आलोचक आलोच्यकृति की सम्यक् विवेचना कर उसके गुण-दोषों का स्पष्टीकरण कर देता है, फलस्वरूप रचयिता उनसे प्रेरणा ग्रहण कर अपनी कृतियों में दोषों का परिहार करता है। अरस्तू के शिष्यों ने भी आलोचना के प्रयोजन पर विचार करते हुए यह माना है, "आलोचना का प्रयोजन है—लेखकों का मार्ग-प्रदर्शन करना और जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए विधान बनाना।"

(२) **अच्छे लेखन-सिद्धान्तों का अन्वेषण और प्रयोग**—आलोचना का दूसरा प्रयोजन लेखन के लिए अच्छे सिद्धान्तों का अन्वेषण करना और उनका प्रयोग करना है। यह प्रयोजन पहले की अपेक्षा अधिक उदात्त है। आलोचना लेखन के लिए नवीन पर उपयुक्त सिद्धान्तों का अन्वेषण करती है। सभी पाश्चात्य विचारकों ने आलोचना के इस प्रयोजन को महत्त्वपूर्ण प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। इसीलिए कॉलरिज ने आलोचना के प्रयोजन पर

विचार करते हुए लिखा है, "दूसरों के द्वारा रचे हुए ग्रन्थों पर निर्णय देने के नियम गढ़ने की अपेक्षा, रचना करने या लिखने के सिद्धान्तों का स्थापन आलोचना का अधिक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक उद्देश्य है।"

(३) **लोकरुचि का परिष्कार**—समालोचक का पाठकों की दृष्टि से एकमात्र प्रयोजन लोकरुचि का परिष्कार है। इस प्रकार समालोचक जनरुचि का परिष्कारक भी होता है। यह समालोचना का प्रयोजन है कि वह यह बताये कि जनता किन आधारों पर किसी कृति को रुचिकर स्वीकार करे। इसलिए समालोचना पाठकों को काव्य का मर्म समझाकर काव्यानुशीलन करती है और पाठकों को रसास्वादन कराती है।

(४) **साहित्य के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशन**—आलोचना का एक प्रमुख प्रयोजन साहित्य के गुण-दोषों की विवेचना करके सत्-असत् साहित्य का स्वरूप प्रस्तुत करना है। इसके लिए समालोचक में सजगता तथा निष्पक्षता आवश्यक है। समालोचना अच्छे साहित्य को प्रोत्साहन देती है और अश्लील साहित्य का निराकरण करती है। इस प्रयोजन में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का संकेत मिलता है।

(५) **साहित्य की गतिविधि का नियमन**—यह प्रयोजन चौथे प्रयोजन के निकट ही है। पर इसका सम्बन्ध पाठकों के साथ-साथ लेखकों का पथ-प्रदर्शन भी है। यह समालोचक का दायित्व है कि वह साहित्य को पथ-भ्रष्ट होने से रोके। इसीलिए पाश्चात्य समीक्षक होरेस ने कहा है, "समालोचक साहित्य-क्षेत्र का प्रबन्धकर्ता है।"

डा० नगेन्द्र ने समालोचना के इस प्रयोजन को एक व्यावसायिक कार्य माना है। उनका स्पष्ट मत है, "साहित्य की गतिविधि के नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है। उसमें इसके स्थान पर शक्ति की स्पृहा हो जाती है। वहाँ सर्जना का तो प्रश्न ही नहीं उठता, निर्माण या रचना का कार्य भी पीछे पड़ जाता है और राजनीति अर्थात् बलाबल की नापतौल ही सामने रहती है। मैं समझता हूँ कि यहाँ साहित्यकार स्वधर्म से च्युत हो जाता है। अतः साहित्य की गतिविधि का नियंत्रण करने की महत्त्वाकांक्षा आलोचक के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकती।"

(६) **महत्त्व-सिद्धि**—आलोचना का यह प्रयोजन स्वयं आलोचना के ही संदर्भ में है। जो साहित्यकार आलोचक भी होता है, वही इस प्रयोजन का

प्रयोग भी करता है। रचयिता स्वयं अपनी रचना की आलोचना करके उसके महत्त्व की सिद्धि करता है। अनेक हिन्दी तथा पाश्चात्य साहित्यकारों ने अपनी कृति की समालोचना इसी दृष्टि से की है।

(७) **सामाजिक उपयोगिता**—आलोचना का कार्य ही यह है कि वह समाज में स्वस्थ रुचि उत्पन्न करके साहित्य की श्लाघ्य परिपाटियाँ स्थापित करके समाज को समुन्नत करे और उसके शील तथा सदाचार को पुनः व्यवस्थित करे।

इस प्रकार समालोचना के अनेक प्रयोजन बताये गए हैं। पर इसका मुख्य प्रयोजन रचना की उपयुक्तता का प्रस्तुतीकरण है। यही विवेचना साहित्यकार को प्रेरणा देती है। वस्तुतः समालोचना किसी भी कृति की वस्तु-स्थिति का स्पष्टीकरण कर देती है और यह पाठकों का काम है कि वह उससे कैसा प्रभाव ग्रहण करे।

समालोचक के गुण—समालोचक किसी कृति की विवेचना करके उसका प्रामाणिक अनुशीलन प्रस्तुत करता है तथा रचना-गत भाव-सौन्दर्य का उद्घाटन करके उसका स्पष्टीकरण करता है। यह अत्यन्त कठिन कार्य है, इसलिए विद्वानों ने समालोचक के लिए कुछ आवश्यक गुणों का होना आवश्यक माना है। डा० सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है, "आलोचक वास्तव में पठित समाज का वह अग्रणी नेता या मुखिया है जिसका कार्य सम्बद्ध होकर दूसरों को सजग और प्रबुद्ध करना है और जिसके स्वयं सशक्त, प्रबुद्ध और सज्ञान न होने से समाज-गत सौन्दर्य-भावना और विवेचना-वृत्ति में अनेक दोष आ सकते हैं।"

समालोचक के गुणों पर विचार करने से जो गुण ज्ञात होते हैं, उनमें भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा समन्वित निम्नलिखित प्रमुख गुण इस प्रकार हैं :

(१) **विस्तृत अध्ययन और ज्ञान**—जब तक समालोचक आलोच्यकृति के कृतिकार से अधिक विद्वान् न होगा, उसकी कृति को समझ नहीं सकता। जो स्वयं ही विद्वान् न हो वह दूसरों के समक्ष निर्णय कैसे दे सकता है? अतः विषय का सांगोपांग विवेचन करने के लिए समालोचक का ज्ञान विस्तृत होना आवश्यक है।

(२) **तटस्थता**—निस्संगता, निर्लिप्तता तथा निष्पक्षता समालोचक के

लिए परमावश्यक गुण हैं। यदि उसके विचार किसी पूर्वाग्रह से आबद्ध हैं तो वह कृति की सम्यक् विवेचना नहीं कर सकेगा। वह पक्षपातरहित होने पर आलोच्य कृति का वास्तविक रूप प्रस्तुत कर सकता है। वास्तव में तटस्थता की सामलोचना के लिए अतीव आवश्यकता है।

(३) **सहृदयता, भावुकता तथा सहानुभूतिशीलता**—इन गुणों से समालोचक आलोच्य कृति पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करता है। कारण, जैसे पाठक का सहृदय होना आवश्यक है, वैसे समालोचक का भी सहृदय होना आवश्यक है। सहानुभूतिशील होने से ही वह कृति का निस्संग विवेचन कर सकेगा।

(४) **छिद्रान्वेषी प्रकृति का निराकरण**—यद्यपि काव्य की परीक्षा के लिए जब समालोचक प्रवृत्त होता है, उस समय सम्यक् विवेचना के लिए गुणों के साथ-साथ दोषों को भी प्रदर्शित करता है, पर इसमें सुधार-भावना होनी चाहिए न कि छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति। टी० राइमर ने कहा है, "किसी श्रेष्ठ कलाकार के दोषों का प्रदर्शन और गुणों पर परदा डालना अच्छे आलोचक का गुण नहीं है।" कॉलरिज भी लिखते हैं, "समालोचक का कार्य काव्य के सौन्दर्य पूर्ण अङ्गों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना है।"

(५) **कवि और उसके काव्य के विषय में पूर्ण ज्ञान**—समालोचक का विद्वान् होना ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह कवि के विषय और उसकी कृति के विषय में सभी कुछ जानता हो। तभी वह आलोच्य कृति की आलोचना कर सकता है। कृति की समालोचना अपने सिद्धान्तों के आधार पर न होकर आलोच्य कृति के कृतिकार की रुचि तथा परिस्थितियों के आधार पर होनी चाहिए; अतः उनका ज्ञान समालोचक का विशेष गुण है।

(६) **कृतिकार के साथ तादात्म्य**—समालोचक का एक गुण यह भी है कि वह समालोचना करते समय स्वयं को भी उन्हीं परिस्थितियों में अनुभव करे जिनमें आलोच्य कृतिकार रहा हो। इस तादात्म्य से कृति की गहराई से समालोचना हो सकेगी।

(७) **कवित्व-शक्ति**—अनेक विचारकों ने यह भी माना है कि समालोचक में भी कवि की तरह कवित्व शक्ति होनी चाहिए। बेन जानसन ने कहा है,

"कवियों की आलोचना केवल कवि ही कर सकते हैं—केवल वे ही कवि जो काव्य-रचना में श्रेष्ठ समझे जाते हैं।"

(८) **निर्णयात्मक शक्ति**—आलोचक का कर्म निर्णय-प्रधान होता है। अतः उसका यह सर्वोपरि गुण है कि वह स्पष्ट और सही निर्णय ले सके। सही विषय-बोध, अपने व्यक्तित्व की सशक्तता एवं अभिव्यक्ति की स्पष्टता से ही समालोचक सही निर्णय ले सकता है।

(९) **भाषा-प्रयोग तथा अर्थ-सम्बन्धी सामर्थ्य**—कवि की तरह आलोचक के लिए भी यह आवश्यक है कि वह भाषा का हस्तामलक की तरह प्रयोग कर सके और शब्द के अर्थ को भली प्रकार जानता हो, ताकि कृति को भली प्रकार समझ सके।

(१०) **अभिव्यक्ति-कौशल**—यदि समालोचक में अभिव्यक्ति-कौशल नहीं है तो समालोचना स्वयं में प्रभावहीन हो जायेगी। जब समालोचना ही नीरस और प्रभावहीन होगी, तो वह जो निर्णय देगी, उसका पाठकों पर प्रभाव ही क्या पड़ेगा? अतः समालोचक के लिए यह आवश्यक है कि उसकी अभिव्यक्ति सक्षम हो।

पोप के अनुसार, आलोचक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है:

(१) प्रकृति तथा जीवन के नियमों का पालन।
(२) गर्वहीनता।
(३) कलाकार के उद्देश्य तथा भावों का ज्ञान।
(४) सम्पूर्ण काव्य को हृदयंगम करना।
(५) कलाकार के ध्येय का ध्यान रखना।
(६) श्रेष्ठ काव्य के लिए बौद्धिक तत्त्वों की आवश्यकता।
(७) कला की आलोचना में केवल भाषा पर ही ध्यान न रखना।
(८) विभिन्न विषयों के लिए विभिन्न शैलियों का ज्ञान।
(९) केवल छन्द या तुकान्त शैली को ही श्रेष्ठ न मानना।
(१०) शब्दों का भावों का प्रतीक समझना।
(११) अतिशयोक्ति तथा अति का अनुसंधान।
(१२) प्राचीन-नवीन में भेद न करना।
(१३) नियमानुकूल काव्य-निर्माण को ही श्रेष्ठ न मानना।
(१४) स्वतन्त्र रूप में विचार करना।

(१५) व्यक्तित्व का ध्यान न रखकर काव्य को परखना।
(१६) केवल नवीनता से ही आकृष्ट न होना।
(१७) समरूप से आलोचना करना।
(१८) दलगत बन्दी से दूर रहना।
(१९) द्वैत और अहम् से रहित होकर काव्य-निर्णय करना।
(२०) मनुष्यत्व और सत्य को न भूलना।

निष्कर्ष—इस प्रकार समालोचक के अनेक गुण हो सकते हैं। पोप ने भी समालोचक के बीस गुण गिनाये हैं, जिनका समाहार इन्हीं गुणों में हो जाता है। कुछ गुण पाठक से सम्बद्ध हैं, कुछ कवि (आलोच्यकार) से तथा समालोचक से और इन सबके होने से ही समालोचना आदर्श बनती है।

प्रश्न ५२—आलोचना के मूल तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए यह निर्णय कीजिए कि आलोचना विज्ञान है या शास्त्र।

आलोचना के लिए एक निश्चित प्रक्रिया अथवा पद्धति होती है, जिस पर समीक्षा का स्वरूप निर्भर करता है। समीक्षा मानव-मन पर पड़ी किसी रचना की प्रतिक्रिया का व्यावहारिक रूप है। साहित्य के अध्ययन-मनन से मन पर उस रचना के सम्बन्ध में कुछ निर्णय बनते हैं, कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हैं। समालोचना इन्हीं निर्णयों तथा प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करती है। पर यह प्रक्रिया अभिव्यक्ति पाकर समीक्षा का स्वरूप किस प्रकार धारण करती है, इसके लिए तीन सोपान हैं। अभिव्यक्ति की इस प्रक्रिया में सबसे पहले समीक्षक को काव्य-वस्तु का, उसके विषय का बोध होता है, तब फिर वह उसकी व्याख्या-विश्लेषण करने में प्रवृत्त होता है और तदुपरान्त वह मूल्यांकन करता है। इसी प्रक्रिया को आलोचना के तत्त्व कहते हैं। इस प्रकार समीक्षा के तीन मूल तत्त्व होते हैं—(१) विषय-बोध, (२) व्याख्या-विश्लेषण और (३) मूल्यांकन अथवा निर्णय।

अब हम यहाँ संक्षेप में इन तीनों पर विचार करेंगे।

(१) **विषय-बोध**—समालोचना का प्रथम तत्त्व विषय-बोध है। जब तक समीक्षक के समक्ष विषय का स्पष्टीकरण न होगा, वह समालोचना किसकी करेगा? विषय-बोध में कृति का सम्यक् ज्ञान तो सम्मिलित है ही, उसका पूरा निरीक्षण, उसमें पूरी पैठ तथा छान-बीन भी आती है। विषय का पूर्ण ज्ञान होने पर ही उसके प्रभाव की पूर्णानभूति होती है, जिसे आलोचनना के रूप में

अभिव्यक्त कर देते हैं। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि सम्बन्धित कृति से सम्बद्ध तत्कालीन परिस्थितियों, समसामयिक लेखक व उनके साहित्य आदि का भी पूर्ण ज्ञान हो जिससे समालोचक कृति पर पड़े प्रभाव का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सके।

विषय-बोध ऐसा तत्त्व है जिसके बिना समीक्षा हो ही नहीं सकती; यदि विषय-बोध नहीं है तो समालोचना कैसी ? वस्तुतः यहीं से समालोचना की प्रक्रिया आरम्भ होती है।

(२) **व्याख्या-विश्लेषण**—विषय-बोध के पश्चात् समीक्षा का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व व्याख्या-विश्लेषण है। व्याख्या-विश्लेषण को अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं। किसी कृति के विषय को समझ लेने के पश्चात् समीक्षक उसकी व्याख्या और विश्लेषण करता है। इसमें कृति तथा लेखक के सम्बन्ध में सभी कुछ आ जाता है। इस तत्त्व के अन्तर्गत विषय-बोध का समग्र रूप प्रकट होता है। समीक्षक ने आलोच्य कृति और कृतिकार के सम्बन्ध में जो कुछ भी जाना और समझा, वह उसकी व्याख्या तथा विश्लेषण करता है तथा यह बतलाता है कि कृतिकार ने किस प्रकार अपनी अनुभूति को वाणी दी है ? कृति का प्रतिपाद्य क्या है और उसके प्रस्तुतीकरण में लेखक कहाँ तक सफल हो सका है ? कृति की मूलभूत विशेषताएँ क्या हैं तथा अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या है ? शास्त्रीय दृष्टि से उसका स्वरूप कहाँ तक सही बैठता है और आलोच्य कृति में उसके रचयिता का दृष्टिकोण क्या है आदि तथ्यों पर इसी तत्त्व के अन्तर्गत प्रकाश डाला जाता है।

व्याख्या-विश्लेषण-तत्त्व का सम्बन्ध आलोचना से न होकर मूलतः स्वरूप के दिग्दर्शन से होता है। इस तत्त्व के द्वारा वह कृति के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करता है। इसे पढ़कर पाठक आनन्द की प्राप्ति करता है। कृति के अध्ययन से पाठक को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह बहुत कुछ इसी तत्त्व की देन है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि पाठक किसी कृति को समग्रता से समझ सके। व्याख्या-विश्लेषण कृति को समझने में सहायता प्रदान करता है। वह कृति के छिपे रहस्य और भाव को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा आलोचक की प्रतिभा, शिक्षा तथा साहित्य में उसकी पैठ का भी पता चलता है। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ' की तरह आलोचक में जितना अधिक ज्ञान विशद होगा तथा कृति को समझने की सामर्थ्य होगी,

उतनी ही व्याख्या सुन्दर व स्वस्थ होगी। इस अनुपात से एक ही कृति की अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं।

(३) **मूल्यांकन अथवा निर्णय**—आलोच्य कृति की व्याख्या के पश्चात् तीसरा तत्त्व मूल्यांकन है। अनेक विद्वान् आलोचना में निर्णय देने के पक्ष में नहीं हैं। स्वयं डा० नगेन्द्र का भी यह स्पष्ट विचार है कि समालोचक का यह अधिकार नहीं है कि वह किसी कृति पर अपना निर्णय दे, क्योंकि कवि स्रष्टा होता है, उसका साहित्य में योगदान आँका नहीं जा सकता। किन्तु प्रायः विद्वान् इससे सहमत हैं कि समीक्षा में तीसरा तत्त्व निर्णय भी है। कृति के सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा व्यक्त किए बिना आलोचक का कर्तव्य पूर्ण नहीं होता। निर्णय से आलोचना का स्वरूप भी स्थिर होता है और कृति के महत्त्व का भी प्रतिपादन होता है।

निष्कर्षतः समीक्षक ये तीनों तत्त्व मिलाकर ही समीक्षा को पूर्णता प्रदान करते हैं। विषय-बोध और अभिव्यक्ति—इन दोनों के लिए ही इन तत्त्वों की आवश्यकता है, क्योंकि जब तक विषय का ज्ञान नहीं होगा, समीक्षक लिखेगा क्या? और इस प्रकार निर्णय उसे पूर्णता प्रदान करता है। इस तरह समालोचना का रूप पूर्ण होता है।

समालोचना शास्त्र है या विज्ञान—समालोचना का कार्य है—कला-कृति के गुण-दोषों का निर्णय और उसका मूल्यांकन। यह मूल्यांकन दो प्रकार से सम्भव है—(१) तर्क द्वारा और (२) भाव द्वारा। कुछ विद्वान् मूल्यांकन में तर्क को महत्ता देते हैं और इस आधार पर आलोचना को विज्ञान मानते हैं। इसके विपरीत समालोचना को कला मानने वाले विद्वान् काव्य की परख के लिए रसानुभूति पर बल देते हैं। उनका कथन है कि साहित्य कोई स्थूल दृश्यमान वस्तु नहीं है, जिसका तर्क या विज्ञान-सम्मत उपायों और विधियों से विश्लेषण और मूल्यांकन हो सके।

समालोचना को विज्ञान मानने वाले विद्वानों का तर्क है कि समालोचना साहित्यिक कृति के मूल तथा अन्तर्निहित गुणों का निर्णय करती है, वह गुण-दोष-विवेचन की कसौटी प्रस्तुत करती है, जो कुछ भी विश्व में ज्ञातव्य और विचारणीय है, उसका ज्ञान और प्रचार कराती है। "उसमें तर्क और विश्लेषण होता है, कृति का क्रमबद्ध विवेचन होता है, ज्ञानवर्द्धन होता है और ये सब बातें विज्ञान से सम्बद्ध हैं।" अतः समालोचना विज्ञान है।

इसके विपरीत जो साहित्य-शास्त्री समालोचना को विज्ञान नहीं मानते, उनका कथन है :

(१) व्यक्ति की रुचि ही मुख्य है और उसकी अपील कहीं नहीं हो सकती। अतः न तो बाह्य कसौटी बनाना ही औचित्यपूर्ण है और न उस कसौटी पर कृति का परीक्षण और मूल्यांकन करना ही। कभी-कभी विभिन्न रुचि होते हुए भी कुछ बातें ऐसी हैं जो सर्वमान्य हैं और उन पर कृति को परखा जा सकता है। विज्ञान के नियम व सिद्धान्त अटल होते हैं जो साधारणतः परिवर्तित नहीं होते। जैसे होमर या वाल्मीकि का काव्य आज भी महान् माना जाता है। मानव-रुचि और स्वभाव में कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो सनातन हैं और जिनमें युगों बाद भी कोई परिवर्तन नहीं होता। कुल मिलाकर विंचेस्टर के शब्दों में कहा जा सकता है :

"The diversity of taste among different races, ages and individuals is much less than the agreement."

(२) साहित्यिक प्रभाव इतने विविध प्रकार के होते हैं कि सभी कृतियों के लिए समान नियम निर्धारण करना सम्भव नहीं है; ऐसे सर्वमान्य गुणों का निर्देश नहीं कर सकते, जिनके कारण कोई रचना साहित्यिक कही जा सके। रचना को साहित्यिक रूप देने के लिए प्रयुक्त उपकरण भी पृथक्-पृथक् होते हैं। कोई रचना बुद्धि को प्रभावित करती है तो कोई हृदय को; कभी उसकी रूप-विधा प्रभावित करती है तो कभी उसकी शैली, अतः उनका सुनिश्चित वर्गीकरण नहीं हो सकता। अतः आलोचना में कार्य-कृति के गुणों का उद्घाटन होना चाहिए न कि उसका वर्गीकरण अथवा उसे अच्छा-बुरा कहना।

(३) साहित्य व्यक्तिगत कर्म है। उसमें लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व का प्रकटन होता है और प्रतिभा के मूल्यांकन की कोई कसौटी निर्धारित नहीं हो सकती। अतः मूल्यांकन की कोई एक कसौटी निर्धारित करना औचित्यपूर्ण नहीं है। इसी बात को सेण्ट्सबरी ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है :

"The essential qualities of literature, as of all art, are communicated by the individual, they depend upon idiosyncrasy; and this makes science in and prorper sense Powerless."

आलोचक का कार्य केवल मन पर पड़े प्रभावों को प्रस्तुत करने तक ही परिसीमित नहीं है, उसे निर्णय भी देना होता है और अपने निर्णय के पीछे तर्क भी प्रस्तुत करने होते हैं और यही आलोचना का विज्ञान पक्ष है।

आलोचना के मानदण्ड कम और सरल होने चाहिए। आलोचक का कर्तव्य यह नहीं कि वह लेखक को आदेश दे, उसे नियमों का पालन करने के लिए विवश करे। वास्तव में लक्षण तो लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर बनते हैं। अतः लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर रचना का सर्वथा मूल्यांकन करना उचित नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में सी० टी० विंचेस्टर ने उचित ही कहा है :

"Rules and principles, however valuable, are not the first essential in the equipment of the critic. They presuppose a certain sensitiveness and sympathy which may furnish the material for critical judgement."

समग्रतः आलोचना विज्ञान भी है और कला भी। उसमें तर्क भी आवश्यक है और भावानुभूति भी। यह तर्क और विश्लेषण के कारण विज्ञान है तो रसप्रबोधन और प्रसाधन के कारण कला भी। साहित्यिक कृति के समान वह पुनर्रचना का कार्य करती है—

"The first (poet or novelist) reconstructing impressions drawn from life, the other (critic) reconstructing impressions from literature."

इस दृष्टि से आलोचना कला है पर जहाँ कहीं निर्णय की बात आती है, वह विज्ञान का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार आलोचना में कला और विज्ञान दोनों का मिश्रण है। इसकी सिद्धि कला के निकट है और क्रम-पद्धति विज्ञान के निकट। अतः आलोचना को कला का विज्ञान कहा जा सकता है।

प्रश्न ५३—समालोचना के प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए तथा साहित्यिक समीक्षा के प्रकार बताइए।

अथवा

हिन्दी की नव्यतम समीक्षा-शैलियों का परिचय दीजिए।

अथवा

"इस समय हिन्दी में प्रचलित समीक्षा-पद्धतियों पर स्पष्टतः पाश्चात्य प्रभाव है।" समीक्षा-प्रणालियों के प्रमुख भेदों का उल्लेख करते हुए इस कथन की विवेचना कीजिए।

आलोचना की प्रक्रिया में आलोचक के मुख्यतः दो कार्य होते हैं—समालोचना के द्वारा किसी आलोच्यकृति की व्याख्या-विश्लेषण तथा दूसरे आलोच्य कृति का मूल्यांकन। मूल्यांकन में समालोचक समालोचना सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी निरूपण करता है। पर यदि किसी आलोचना में इनमें से किसी कार्य की प्रधानता हो जाती है तो वह समालोचना का एक प्रकार बन जाती है। यद्यपि प्रत्येक आलोचना में न्यूनाधिक दोनों के कार्य सन्निहित होते हैं, पर इस प्रधानता के कारण ही समालोचना के दो रूप हो जाते हैं—

(१) सिद्धान्त-निरूपण करने वाली समालोचना, अर्थात् सैद्धान्तिक समालोचना।

(२) व्याख्या व मूल्यांकन से सम्बद्ध व्यावहारिक समालोचना।

अब हम संक्षेप में इन दोनों समालोचना-रूपों का विश्लेषण करेंगे—

(१) **सैद्धान्तिक समालोचना**—सैद्धान्तिक समालोचना से आलोचनाशास्त्र के सिद्धान्तों का निरूपण तथा काव्यशास्त्रीय मूल्यों का निर्धारण होता है। साहित्य और उसके विविध अंगों का स्वरूप-विश्लेषण भी इसी के अन्तर्गत आता है। अंग्रेजी समालोचक मोल्टन के अनुसार, "साहित्य के सिद्धान्तों और साहित्य-दर्शन का विवेचन सैद्धान्तिक समालोचना कहलाता है।" यह समालोचना का सम्पूर्णतः वस्तुनिष्ठ रूप है। यह व्यापकता की दृष्टि से सार्वकालिक तथा सार्वभौमीय हीती है, क्योंकि इसमें सभी कालों तथा सभी देशों की साहित्यिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा रहती है। रीति-ग्रन्थ, लक्षण-ग्रन्थ तथा काव्य-शास्त्र इसी के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार की आलोचना का निर्माण दो प्रकार से होता है—

(क) प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर सिद्धान्तों का निर्माण।

(ख) अपनी प्रतिभा के बल पर लोक-रुचि और परिष्कृति के आधार पर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्भाण।

पहले वर्ग के अनुसार प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों के आधार पर नियम निर्धारित होते हैं और फिर अन्य कृतिकारों को उनका अनुगमन करने की प्रेरणा दी जाती है। दूसरे वर्ग में पहले सिद्धान्तों का निरूपण होता है तब फिर उनके आधार पर ग्रन्थों की रचना होती है। व्यावहारिक आलोचना का अधिकांश अंश सैद्धान्तिक समालोचना पर ही आधारित होता है।

(२) **व्यावहारिक समालोचना**—व्यावहारिक समालोचना साहित्यिक

कृतियों की व्याख्या तथा उनका मूल्यांकन करती है। किसी कृति अथवा कृतिकार की समीक्षा इसी वर्ग के अन्तर्गत आती है। विषय, शैली, उद्देश्य, दृष्टिकोण और मानदण्डों के आधार पर व्यावहारिक समालोचना के अनेक भेद हो जाते हैं। इसे साहित्यिक समालोचना भी कहते हैं। कारण, इस समालोचना का सम्बन्ध साहित्य से है। यह साहित्य की समालोचना होती है।

पद्धतियों के आधार पर व्यावहारिक आलोचना के तीन भेद हो जाते हैं:

(क) प्रभावात्मक समालोचना।

(ख) व्याख्यात्मक समालोचना।

(ग) निर्णयात्मक समालोचना।

(क) प्रभावात्मक समालोचना—प्रभावात्मक समालोचना के अन्तर्गत किसी कृति को पढ़कर मन पर पड़े प्रभावों का सम्यक् आकलन किया जाता है। इसमें कल्पना और भाव तत्त्व की प्रधानता रहती है, इसीलिये यह समालोचना रचनात्मक साहित्य की भावात्मक निबन्ध जैसी विधा अधिक लगती है, समालोचना कम। यह आलोचना पूर्णतया व्यक्तिनिष्ठ होती है। इसीलिए इसे आत्मप्रधान आलोचना (Subjective) भी कहा जाता है। इस प्रकार की समालोचना में कलाकार प्रत्येक सैद्धान्तिक बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से आलोचना करता है। इस प्रकार की समालोचना के विषय में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि आलोचना आराध्य की पूजा है। आलोचक कृति को प्रशंसात्मक दृष्टि से देखने पर ही उसका सही मूल्यांकन कर सकता है। हडसन का भी यही कहना है, "साहित्य का विकास व्यक्तित्व से होता है और वह व्यक्तित्व को ही अपील करता है, अतः आलोचना में से व्यक्तिगत (प्रभावाभिव्यंजक) तत्त्व नहीं निकाले जा सकते।"

समालोचक अपनी रुचि के अनुसार कृति का मूल्यांकन करता है, अपने मन पर पड़े हुए प्रभाव का प्रस्तुतीकरण करता है। मूल्य-निर्धारण की अपेक्षा कलात्मक अनुभूति से स्पन्दनों को व्यक्त करता है। ऐसे आलोचकों की आलोचनाओं में उनके व्यक्तित्व का अदम्य आग्रह रहता है। अंग्रेजी में आर्थर साइमन्स, रावर्ट लिण्ड तथा आर्थर क्विलरकूच इसी प्रकार के समालोचक हैं और हिन्दी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मेघदूत, शकुन्तला आदि की समालोचनाएँ इसी कोटि की समालोचाएँ हैं।

(ख) व्याख्यात्मक समालोचना—आलोचना के प्रकारों में आलोचना का यह

रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा आलोचना के प्रकृत स्वरूप के सर्वाधिक निकट है। व्याख्या और विश्लेषण करना इसकी विशेषता है। इस प्रणाली को लाने का श्रेय शेक्सपीयर के प्रसिद्ध आलोचक डा० मोल्टन को है। व्याख्यात्मक समालोचना कृति की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उसके गुण-दोषों का तटस्थ भाव से सम्यक् मूल्यांकन करती है, कृति का व्यवस्थित रूप से सौन्दर्योद्घाटन करती है और उसे व्यवस्था देती है।

व्याख्यात्मक समालोचना के भी अनेक रूप हो सकते हैं, जिनसे इसके प्रभाव तथा विस्तार का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है। व्याख्या-विश्लेषण करते समय समालोचक कहीं तो उसकी तुलना करता है, कहीं शास्त्रीय नियमों का विवेचन करता है, कहीं उसके इतिहास को देखता है तो कहीं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है; इस प्रकार इसके निम्नलिखित रूप हो जाते हैं :

(i) **शास्त्रीय समालोचना**—काव्यशास्त्र के आधार पर व्यावहारिक समालोचना करना शास्त्रीय समालोचना है। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आने वाले विषयों—रस, छन्द, अलंकार, ध्वनि, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से, परम्परागत काव्यशास्त्रीय भूमियों के आधार पर किसी आलोच्यकृति की व्याख्या-विश्लेषण इस समालोचना-पद्धति की विशेषता है।

इस शैली का दोष यह है कि समालोचक का ध्यान कृति के बाह्य रूप-विधान और बाह्याकार-अभिव्यक्ति पक्ष के प्रति अधिक रहता है, वह अंतरंग पक्ष का पूर्ण विवेचन नहीं कर पाता, इसलिए इसे रूप-विधायिनी आलोचना (Formal Criticism) भी कहते हैं। इप पद्धति का गुण यह है कि इसकी दृष्टि काव्य-कृति पर ही विशेषतः रहती है। किन्तु यह पद्धति अब अधिक प्रचलित नहीं है।

(ii) **मनोविश्लेषणात्मक समालोचना**—यह मनोविज्ञान से अनुशासित होती है। इसमें कवि की कृति को समझने के लिए कवि के अन्तर्गत और उसके स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना होता है। इस पद्धति का समालोचक कृति को उसके रचयिता के व्यक्तित्व का प्रकाश मानता है। आलोचक यह मानता है कि साहित्य की मूल प्रेरणाएँ दमित वासना की अभिव्यक्ति, हीन-ग्रन्थियों से विमुक्ति; कुण्ठा, हताशा, निराशा आदि से पलायन तथा जीवनेच्छा का कारण है। वह यह भी मानता है कि इन सब के मूल में काम विद्यमान है, अतः साहित्यकार की अन्तर्वृत्तियों का प्रकाशन इस समा-

लोचना का मूल लक्ष्य होता है। आजकल हिन्दी में कुछ आलोचकों जैसे—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि की आलोचना में मनोविश्लेषणात्मक पुट देखने को मिलता है।

(iii) **समाजशास्त्रीय अथवा प्रगतिवादी समालोचना**—इस समालोचना-पद्धति का जन्म रूस के गोर्की द्वारा माना जाता है। इसका आधार समाजवादी यथार्थ है। इस पद्धति में साहित्य को सामूहिक कर्म माना जाता है, जिसका उद्देश्य समाज की भौतिक कल्याण-भावना है। यह समालोचना साहित्य के सामाजिक महत्त्व तथा प्रभाव का मूल्यांकन, निर्धारण तथा व्याख्या करती है। इसकी दृष्टि एकांगी होती है, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत प्रतिभा-स्फुरण तथा आन्तरिक कलापक्ष की उपेक्षा करके केवल सामाजिक तत्त्वों की ही परीक्षा-विवेचना की जाती है।

(iv) **ऐतिहासिक समालोचना**—युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य तथा साहित्यांगों की आलोचना 'ऐतिहासिक आलोचना' कही जाती है। यह सामालोचना साहित्य को जन्म देने वाली परिस्थितियों का विश्लेषण करती है और उसके परिप्रेक्ष्य में आलोच्य कृति की व्याख्या करती है। इसमें कृति का महत्त्व उस युग-विशेष के संदर्भ में देखा जाता है, जिसमें उसकी रचना हुई है। इससे कवि और उसकी कृति दोनों के प्रति पूर्ण न्याय होता है, क्योंकि साहित्यिक मूल भी मानव-धारणाओं के अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं। हो सकता है, कोई कृति आज के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण न हो, पर अपने समय के लिये उसका विशेष महत्त्व रहा होगा; जिस समय वह रची गयी, उस समय उसका मूल्य था, इसे परखना ऐतिहासिक समालोचना का ध्येय होता है। डा० श्यामसुन्दरदास और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचनाओं में इस पद्धति के दर्शन किए जा सकते हैं।

(v) **तुलनात्मक समालोचना**—यह आलोचना-पद्धति काव्य-सम्बन्धी नाना तत्त्वों की दृष्टि से दो या दो से अधिक साहित्यिक कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है। तुलना आलोचना का एक आवश्यक अङ्ग है। इससे साहित्य की सम्पूर्ण तथा सांगोपांग विवेचना हो जाती है। साहित्य के सामयिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व की प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी इसका महत्त्व-पूर्ण योगदान रहता है। कभी-कभी इस प्रकार की समालोचना निष्पक्ष न होने

पर कवि के साथ अन्याय अधिक किया करती है। पण्डित पदमसिंह शर्मा की आलोचना इसी प्रकार की है।

(vi) **मार्क्सवादी समालोचना**—मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित होती है। इसका आधार कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इसको ऐतिहासिक आलोचना का एक अंग भी माना जा सकता है, पर अन्तर यह है कि इसमें आलोचक की दृष्टि मार्क्स-दर्शन पर केन्द्रित रहती है। पूर्वाग्रह प्रेरित होने के कारण यह समीक्षा-पद्धति विशेष लोकप्रिय नहीं हो सकी है। डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदान सिंह चौहान की आलोचना इसी प्रकार की है।

(vii) **चरित-मूलक समालोचना**—कृति-विशेष की आलोचना से पहले उसके रचयिता के मानव-विश्लेषण पर बल देने वाली समालोचना को चरित-मूलक समालोचना कहते हैं। इसमें लेखक की जीवनी के संदर्भ में उसकी अन्तर्वृत्तियों और विचारधाराओं का अध्ययन किया जाता है। स्थूल रूप से यह ऐतिहासिक मनोविश्लेषणात्मक और प्रभावात्मक समीक्षा का मिला-जुला रूप है।

(ग) निर्णयात्मक आलोचना—इस पद्धति में समालोचक न्यायाधीश की तरह आलोच्य कृति का मूल्यांकन करता है और अन्त में अपना मत देता है। साहित्य-क्षेत्र में उसके योगदान का भी विश्लेषण करता है। यद्यपि उसके निर्णय का कोई मानदण्ड नहीं होता; फिर भी प्रायः वह व्यक्तिगत रुचि, सामाजिक तथा नैतिक मूल्य और मानव-मूल्य आदि की प्रतिष्ठा से सम्बन्धित अपना निर्णय देता है। डा० मोल्टन ने इस आलोचना-प्रणाली का खण्डन किया है। डा० नगेन्द्र ने भी समालोचक का कार्य निर्णय देना न मानकर व्याख्या-विश्लेषण ही माना है। उनका विचार है कि यदि समालोचक निर्णय देता है तो वह अपने कर्म से च्युत हो जाता है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "रत्न की खोज या परख करने वाला रत्न की मूल्यवत्ता का कारण नहीं हो सकता। इसी अर्थ में बड़े-से-बड़ा आलोचक भी कवि को बनाने-बिगाड़ने का गर्व नहीं कर सकता।"

निष्कर्ष—इस प्रकार समालोचना की अनेक पद्धतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भी और अनेक हैं; यथा—अनुसन्धानात्मक आलोचना, अनुमानात्मक

आलोचना, विश्लेषणात्मक समालोचना आदि; पर इन सब का समाहार इन्हीं समीक्षा-पद्धतियों में हो जाता है ।

प्रश्न ५४—"वादों की अनुवर्तिनी बनकर समीक्षा काव्य या साहित्य के साथ न्याय नहीं कर सकती ।" इस सम्बन्ध में पश्चिमी विचारकों का मत स्पष्ट कीजिए ।

प्रसिद्ध विद्वान् विन्सले ने एक स्थान पर लिखा है—

"To be a critic of literature is to possess a wide vision, balanced mind, and inexhaustible insight into the deepest secrets of human mind. It needs to be sympathetic and yet alert to watch the wisdom unfaultering."

समीक्षक के गुणों की व्याख्या करते हुए विन्सले लिखते हैं कि समीक्षक में विस्तारपूर्ण दृष्टि, सन्तुलित मस्तिष्क, मानव-मन का सूक्ष्म ज्ञान, सहानुभूति एवं जागरूक तटस्थता आवश्यक है ।

इसी प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड भी समीक्षा में तटस्थता के गुण पर विशेष बल देते हुए लिखते हैं—

"The critcism real critcism is essentially the exercise of this quality (curiosity and disinterested love of a free play of mind)."

यह बात सर्वथा सत्य है, क्योंकि आलोचक का कार्य कृति में निहित सत्य का उद्‌घाटन करना मात्र है । उसका कार्य यदि पूर्वाग्रहों से युक्त होगा तो वह साहित्य से साथ न्याय नहीं कर पायेगा । तटस्थ दृष्टिकोण अपनाकर रचना में जैसा भी कुछ है, उसका स्पष्टतापूर्वक विश्लेषण कर देना ही समीक्षक का कार्य है । समालोचक किसी भी वस्तु अथवा कृति को जैसा भी अनुभव करता है, उसका उसी रूप में विश्लेषण करता है । न तो वह किसी कृति की बुराई ही करता है और न अच्छाई ही । इसीलिए डा० जॉनसन का मत है, "आलोचना का कर्तव्य न तो किसी रचना का अवमूल्यन करना है और न आंशिक विवेचन द्वारा उसे गरिमा-मण्डित करना । उसका कार्य तो विवेक के आलोक में जो दिखायी दे, उसका उद्‌घाटन करना और सत्य के निर्देश में जो निर्णय हो, उसका आख्यान करना है ।"

प्राचीन समालोचक किसी भी कृति की आलोचना करने से पूर्व अपने मन

में एक खाका बना लेते थे और उन पूर्वाग्रहों के आधार पर ही प्रत्येक रचना का मूल्यांकन करते थे। रचना चाहे कितनी ही सुन्दर तथा कलात्मक दृष्टि से उच्च क्यों न हो, यदि समालोचकों के दृष्टिकोण तथा मन से मेल नहीं खाती तो वे उसको निकृष्ट ही ठहराते थे। इसी प्रकार यदि कोई कृति उनकी भावनाओं अथवा विचारों के अनुरूप हुई तो भाव और कलापक्ष के नितान्त निकृष्ट होने पर भी वह कृति उनकी प्रशंसा का पात्र हो जाती थी।

पर प्राचीन समीक्षकों की यह प्रवृत्ति समालोचना का स्वस्थ स्वरूप प्रशस्त नहीं करती। समीक्षा का कार्य है—वस्तु का यथातथ्य निरूपण करना और कृति तथा कृतिकार का परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करना। और इसके लिए आवश्यक है कि समीक्षक पर किसी मत विशेष का प्रभाव न हो, वह अपने स्वस्थ दृष्टिकोण से समीक्षा करे।

यदि हम समालोचना के कार्य पर विचार करें तो यह अत्यन्त व्यापक तथा दायित्वपूर्ण दिखायी देता है। समीक्षक एक ओर तो कृति के गुण-दोषों का विवेचन करता है तो दूसरी ओर कृति-विशेष का वास्तविक मूल्य आँकता है। डा० गुलाबराय के मतानुसार, "आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना, उनकी रुचि को परिवर्तित करना और साहित्य की गति-विधि निर्धारित करने में योग देना है।"

समीक्षक का कार्य बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। समाज किसी कृति-विशेष के सम्बन्ध में अपनी राय समीक्षा के माध्यम से ही बनाता है। यदि समीक्षा किसी मतवाद से प्रभावित होगी तो उसके निम्नलिखित दो दुष्परिणाम हो सकते हैं—

(१) समीक्षक अपने परिचितों तथा आत्मीयों की रचनाओं में गुण ही गुण खोजेगा और उन्हें सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करेगा। फल यह होगा कि निकृष्ट रचनाएँ भी समाज में प्रचलित होंगी और उनसे जनरुचि विकृत होगी।

(२) दूसरी ओर समीक्षक को जिनसे ईर्ष्या होगी उनकी रचनाएँ चाहे कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हों, उनकी आलोचना करके दोषों ही दोषों का परिगणन करेगा और इस प्रकार समाज अच्छी कृतियों के पारायण द्वारा प्राप्त लाभ से वंचित रह जायेगा। इस प्रकार समाज में प्रशंसात्मक तथा

निन्दात्मक अभिव्यक्तियों का जन्म होगा और परिणामतः समाज का दृष्टिकोण विकृत होगा, मान्यताओं का रूप बदलेगा, अनेक हानिकारक परम्पराओं का जन्म होगा और समीक्षा तथा साहित्यिक—दोनों के क्षेत्र में पक्षपात होने से भाई-भतीजावाद बढ़ेगा।

इसलिए आवश्यक है कि समीक्षा निष्पक्ष और तटस्थ हो, क्योंकि यदि वह वादों की अनुवर्तिनी है तो काव्य या साहित्य के साथ न्याय नहीं कर पायेगी। न्याय तो तभी होगा जब वह निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाये। कृति के पीछे समीक्षक का स्वस्थ दृष्टिकोण ही उसके वास्तविक स्वरूप का उद्‌घाटन कर सकेगा। यदि आलोच्यकृति अच्छी है तो उसे अच्छा और निकृष्ट होने पर उसे निकृष्ट ही कहना चाहिए। कोई भी कृति न्याय की तुला पर निष्पक्ष रूप से तोली जानी चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना इस दृष्टि से स्वस्थ नहीं कही जा सकती; क्योंकि उन्होंने प्रत्येक कृति को लोकमंगल की दृष्टि से देखा है और इसीलिए सूर तथा जायसी की कृतियों को कलात्मक दृष्टि से उच्च पाते हुए भी उन्होंने समाज के लिए लाभप्रद नहीं माना और उनकी वर्जना की। इसकी अपेक्षा उन्होंने तुलसी के काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसी तरह प्लेटो ने होमर की निंदा की है, क्योंकि उसके काव्य के विचारों से उसके विचार मेल नहीं खाते थे। उसकी रुचि व प्रकृति आदर्शपरक थी और इसी दृष्टि से उसने होमर की रचनाओं की समीक्षा की। आनन्दवादी दृष्टि पाने के कारण ही प्लेटो ने उसके काव्य की पर्याप्त निन्दा की; यहाँ तक कि पाठकों से उसे न पढ़ने का भी अनुरोध किया।

किन्तु ये दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं कहे जा सकते। चाहे सूर का साहित्य हो या होमर का साहित्य—दोनों की अपनी-अपनी जगह पूर्ण उपादेयता है—समाज-सापेक्ष न होने के कारण उनका बहिष्कार नहीं किया जा सकता। विशेष अलोचना-प्रणाली के प्रति पक्षपात रहने से साहित्य की विशुद्ध आलोचना नहीं हो पाती। आलोचना लिखते समय यदि समीक्षक का पक्षपात बार-बार अपनी रुचि की आलोचना-प्रणाली अपनाने की प्रेरणा दिया करता है, तो आलोचक स्वस्थ स्वरूप प्रस्तुत नहीं कर पाता और वह आलोचना नहीं होती। इस प्रकार की पक्षपातपूर्ण आलोचना को आलोचना कह भी नहीं सकते।

समीक्षा की परिभाषा, जो 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में दी गयी है, इस प्रकार है—

"Criticism is the art of judging the qualities and values of an aesthetic bject whether in literature or infine arst. It involves the formation and expression of judgment."

इस तरह समीक्षा किसी कृति की प्रवृत्ति, गुण, मूल्य और सौन्दर्य आदि का सन्तुलित न्याय करती है। यह रचना व उसके उद्देश्य—दोनों का सम्यक् उद्घाटन करती है और इसके लिए आवश्यक है कि समीक्षा निष्पक्ष हो, उसके दृष्टिकोण पर किसी पूर्वाग्रह का प्रभाव न हो।

प्रश्न ५५—निबन्ध की परिभाषा देते हुए उसकी विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

निबन्ध के स्वरूप का विवेचन कीजिए और वैयत्तिक निबंध के स्वरूप का उल्लेख करते हुए बतलाइए कि क्या हिन्दी में कोई वैयक्तिक निबन्ध-लेखन भी है। अपनी परिभाषा के आधार पर उत्तर दीजिए।

गद्य-साहित्य में निबन्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है, साथ ही यह गद्य की कसौटी भी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। गद्य-शैली का पूर्ण विकास निबन्ध में ही देखने को मिलता है। निबन्ध का आधुनिक रूप अधिकांशतः पाश्चात्य है और यह अंग्रेजी शब्द Essay का हिन्दी पर्याय का है। Essay शब्द लैटिन के 'एगजीजियर' से तथा फ्रेंच शब्द 'एसाई' (Essai) से निकला है। इसका शाब्दिक अर्थ प्रयोग अथवा परीक्षण करना होता है। इसके स्वरूप को समझने के लिए कुछ पाश्चात्य विचारकों की परिभाषाओं को उद्धृत करना आवश्यक है।

आधुनिक निबन्ध के जन्मदाता माइकेल दि मौन्तेन थे, जो १६वीं शताब्दी में फ्रांस में हुए थे। उन्होंने निबन्ध को, "विचारों, उद्धरणों तथा कथाओं का मिश्रण" बताया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वह लिखते हैं कि "यह मेरी भावनाएँ हैं, इनके द्वारा मैं किसी सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता, इनके द्वारा मैं अपने को पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ।"

मौन्तेन के इन विचारों से निबन्ध का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, इसलिए अन्य विद्वानों की परिभाषाओं पर भी विचार करना अपेक्षित है, क्योंकि बाद को निबन्ध के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर आया है।

डा० जॉनसन के अनुसार निबन्ध मन की उच्छृङ्खल तरंग है जो अनियमित कथा तथा कृतिमात्र होती है। इसमें न कोई क्रम होता है और न नियमबद्धता। इस प्रकार निबन्ध उच्छृङ्खल भावनाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति है :

"A loose sally of the mind and irregular indigested piece of literature not a regular and orderly performance."

ओसबर्न्स के अनुसार, निबन्ध किसी सामयिक विषय पर हलके औपचारिक लेख को कहते हैं।

"Essay is light gosspiy article on a topical subject."

इन विद्वानों ने निबन्ध को हलके रूप में देखा है। पर कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो निबन्ध को गम्भीर विचाराभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं। प्रिस्टले के अनुसार, निबन्ध किसी मौलिक व्यक्तित्व की निश्छल आत्माभिव्यक्ति को कहते हैं—"Essay is a geniune expression of an original personality, an artful and ending kind of talk."

बेकन के अनुसार निबन्ध केन्द्रीयभूत ज्ञान के कतिपय पृष्ठ हैं, जिनमें विचारों की सहज अभिव्यक्ति होती है।

सैन्त ब्यव के अनुसार, निबन्ध साहित्याभिव्यक्ति का अत्यन्त कठिन परन्तु प्रमोदपूर्ण अंग है, क्योंकि इसमें लेखक की गम्भीरता और उसकी गागर में सागर भरने की शक्ति का संकेत मिलता है।

इन परिभाषाओं के आधार पर निबन्ध में विचार-गम्भीर तथा प्रौढ़ रूप में अभिव्यक्ति होते हैं। इन दोनों प्रकार के विचारकों में यद्यपि बाह्य स्तर पर विरोध एवं मत-वैभिन्न्य दिखाई देता है, परन्तु मूलतः दोनों एक ही हैं। कारण, पहले प्रकार के विचारकों ने निबन्ध को मुक्त मन की मौज मानकर ही उसके अनुभूतिपक्ष पर विचार किया है और उसके कलात्मकपक्ष का त्याग कर दिया है। दूसरे प्रकार के विचारकों ने दोनो ही पक्षों पर समान रूप से विचार किया है।

हालवर्ड (Hallword) और हिल (Hill) ने निबन्ध के स्वरूप को भली प्रकार से स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—

The essay proper or the literary essay is not merely a syort analysis of a subject, nor a mere epitone, but, rather a picture of wandering minds affected for the moment by the

subject with which he is dealing. Its most distinctive feature is the egoistical element."

साहित्यिक निबन्ध किसी विषय का कोई संक्षिप्त रूप ही नहीं होता, अपितु उसे हम लेखक के मस्तिष्क से उत्पन्न वस्तु-विशेष के प्रति उद्भूत प्रतिक्रियात्मक चित्र की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता वैयक्तिकता अथवा अहं भावना का प्रकाशन है।

निबन्ध की विशेषताएँ—निबन्ध के इस स्वरूप के आधार पर निबन्ध की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

(१) निबन्ध लघु आकार की एक ऐसी रचना होती है जिसे सरलता से पढ़ा तथा समझा जा सके। किसी भी अवकाश के समय इसको सामान्य रूप से मनोरंजनार्थ पढ़ा जा सके।

(२) इसमें किसी सिद्धान्त-विशेष का परिचय देने की अपेक्षा सामान्य बातों को हल्के-फुल्के तथा रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। सिद्धान्त-प्रतिपादन से इसकी रोचकता के नष्ट होने का भय रहता है।

(३) निबन्ध में एक साथ अनेक भावों की अभिव्यक्ति न होकर एक ही विषय, विचार या अनुभूति का पूर्ण वर्णन होता है और इसीलिए उसमें सर्वत्र एकात्मकता तथा अन्विति पायी जाती है।

(४) निबन्ध में कलात्मक स्पर्श भी होता है। यह स्पर्शता आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकार की होती है। आन्तरिक कलात्मक स्पर्श से उसमें श्रृंखलाबद्धता उत्पन्न होती है और आत्माभिव्यक्ति को अवसर मिलता है।

(५) निबन्ध में लेखक को अपनी बात कहने का पूरा अवसर मिलता है और उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण निबन्ध को एकसूत्रता प्रदान करता है। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि लेखक के विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम सुन्दर व रोचक हो।

(६) कविता की तरह निबन्ध में भी बुद्धि की अपेक्षा हृदय की प्रधानता होती है और इसीसे वह हृदय को प्रभावित करती है। इसके साथ ही लेखक अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिये मूर्त-विधान का आश्रय लेता है। परन्तु इसे नितान्त विचारहीन भी नहीं कहा जा सकता। इस पर चिन्तन तथा मनन का विशेष प्रभाव होता है।

(७) और अन्त में निबन्ध में शैली का भी विशेष महत्त्व है। शैली जितनी रोचक तथा आकर्षक होगी, निबन्ध उतना ही सौन्दर्यमय होगा। निबन्ध का बाह्य सौन्दर्य शैली की चारुता से ही बढ़ता है।

व्यक्तित्वपूर्ण निबन्ध—प्रस्तुत परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि निबन्ध में व्यक्तित्व की भी प्रधानता होती है और विषय की भी। व्यक्तित्व की प्रधानता वाले निबन्धों को वैयक्तिक निबन्ध कहते हैं। वैयक्तिक निबन्धों में लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट आभासित होता है। इसीलिए हडसन ने निबन्धों की एक प्रमुख विशेषता व्यक्तित्व का प्रकाशन भी मानी है—

"The true essay is essentially personal."

अर्थात् "सच्चा निबन्ध वही है, जिसमें निश्चित रूप से व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हो।"

निबन्ध-विधा के जनक माइकेल मौन्तेन ने भी 'It is myself I portary' लिखकर इसी का समर्थन किया है। निबन्धकार को अपनी दुर्बलताएँ तथा कमजोरियाँ आदि भी स्वीकारनी पड़ती हैं। डब्लू० ऐल० फैल्पस ने भी निबन्धों के वैयक्तिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

"It is an intimate confessional style of composition where the writer takes the reader into confidence and talks as if to any one listener; talks to about things often essentially trivial and yet making tnem for the moment interesting by the chrarm of speakers manners."

अर्थात् निबन्ध एक नितान्त स्वीकारात्मक रचना-शैली है, जिसमें लेखक पाठक को अपने विश्वास का पात्र बनाकर इस प्रकार वार्त्तालाप करता है, मानो वह एक श्रोता हो। वह सामान्य तत्वों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार बातें करता है जैसे कि बहुत ही वे महत्त्वपूर्ण एवं सुरुचिपूर्ण हों। वह उसमें वक्ता के मनोभावों को भी रोचकता के साथ प्रतिष्ठित करता है।

परन्तु श्रोता के मनोभावों का ध्यान तथा वक्ता के मनोभावों पर ध्यान देना ही वैयक्तिक स्तर का बोध करता है। ए० जी० गार्डनर ने तो स्पष्ट ही निबन्ध की वैयक्तिकता पर बल देते हुए लिखा है :

"It is not so much that you have something you want to say as that you must say something. And after all what does

the subject matter. And peg will do to hang your hat on. That hat is the king."

इसका अभिप्राय यही है कि निबन्ध में वह नहीं होता जो श्रोता कहना चाहता है, वरन् वह होता है जो लेखक कहना चाहता है। स्पष्ट ही इस तरह गार्डनर ने निबन्धों में वैयक्तिकता पर बल दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी निबन्ध को लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब ही कहा है। उन्होंने लिखा है कि—

"आधुनिक लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व, अर्थात् व्यक्तिगत विशेषताएँ हों। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाये। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारों की शृंखला रखी ही न जाये या जान-बूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय।"

इन सब परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि वैयक्तिक निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता होती है और जिस विषय का प्रतिपादन किया जाता है वह लेखक की मान्यताओं, दृष्टिकोणों आदि से अभिप्रेरित होता है। यद्यपि इसमें भी लेखक का उद्देश्य वही होता है, जो विषयप्रधान निबन्धों में होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इन निबन्धों पर लेखक का पूर्ण अनुशासन होता है और वह स्थान-स्थान पर अपने मन्तव्य का प्रकाशन करता चलता है। लेखक तर्क की अपेक्षा भावुकता का अधिक आश्रय लेता है।

वैयक्तिक निबन्धों के इस स्वरूप का विवेचन करने पर हमें उसमें निम्न लिखित विशेषताएँ दिखाई देती हैं—

(१) वैयक्तिक निबन्धों में लेखक के दृष्टिकोण की प्रधानता होती है और निबन्धकार अपने व्यक्तित्व के प्रकाशन पर अपनी मान्यताओं के निदर्शन की ओर विशेष ध्यान देता है। निबन्ध उसकी भावनाओं से अनुशासित होता है।

(२) यद्यपि निबन्धकार इसमें यदा-कदा तर्क का भी आश्रय लेता है, पर प्राय: अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति भावनात्मक आधार ही प्रस्तुत करता है।

(३) इसमें खण्डन-मण्डन की अपेक्षा अपनी ही बात कही जाती है।

(४) यद्यपि इनमें विषय का भी ध्यान रखा जाता है पर निबन्धकार स्वच्छन्दतापूर्वक अपने विषय तथा लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

(५) यही कारण है कि वैयक्तिक निबन्धों की भाषा काव्यात्मक होती है। मन की भाव-लहरियाँ तरंगित होकर इसमें बहती हैं।

हिन्दी में यों तो अनेक वैयक्तिक निबन्ध लेखक हैं, परन्तु किसी भी लेखक को हम यह नहीं कह सकते कि वह पूर्णतः वैयक्तिक निबन्ध-लेखक है, क्योंकि उसने अन्य प्रकार के निबन्ध भी लिखे हैं। यत्र-तत्र वैयक्तिकता के स्वर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि-भाग-१' के निबन्धों में दिखाई पड़ते हैं। बाबू गुलाबराय के 'अध्ययन और आस्वाद', 'मेरी असफलताएँ' के भी प्रायः सभी निबन्ध वैयक्तिक स्तर के निबन्ध हैं। अनेक निबन्ध तो पूरी तरह से उनके व्यक्तितत्व का प्रकाशन हैं, वह अपने विषय में ही लिखते हैं। इसी प्रकार वियोगीहरि के निबन्धों में वैयक्तिक निबन्धों की विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।

अति आधुनिक युग में तो अनेक लेखक वैयक्तिक निबन्धकार हैं। वैयक्तिक निबन्धों के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति भी सहज है और निबन्धों के साथ-साथ उपन्यासों में भी यह वैयक्तिकता ग्राह्य हो रही है। अमृतलाल नागर का उपन्यास 'अमृत और विष' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

निबन्ध के अंग—निबन्ध के तीन अंग होते हैं—(१) प्रस्तावना, (२) उपपत्ति और (३) उपसंहार। इसमें आकार की दृष्टि से उपपत्ति सबसे बड़ा होता है। इसे विषय-प्रतिपादन भी कह सकते हैं। पर सबसे महत्त्तपूर्ण (कलात्मक दृष्टि से) उपसंहार होता है। विषय-प्रतिपादन में यदि कुछ शिथिलता रह जाये तो वह छिप भी जाती है, पर प्रस्तावना तथा उपसंहार की शिथिलता अक्षम्य है।

यदि निबंध का आरम्भ ठीक हो जाय तो निबन्ध का पूरा करना सरल हो जाता है (Well begun, half done)। यह प्रस्तावना ऐसी होनी चाहिए कि वह पाठक का ध्यान तुरन्त अपनी ओर आकृष्ट कर ले। कौतुहलता की जाग्रति भी इसका विशेष गुण है और इसके लिए निबन्धकार किसी समस्या अथवा मनोवृत्ति का उद्घाटन करके पाठकों की उत्सुकता जाग्रत करता है। विषय-प्रतिपादन भी सरल, सुगठित तथा सुविन्यस्त होना आवश्यक है। इसी प्रकार उपसंहार भी रोचक तथा सँवारने वाला होना चाहिए।

इन तीनों अंगों के रोचक व सुन्दर होने से ही निबन्ध को पूर्णता प्राप्त होती है। संक्षेप में, इन्हीं से निबन्ध का स्वरूप निखरता है।

प्रश्न ५६—निबन्ध के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन कीजिए तथा इन तत्त्वों के आधारों का भी वर्णन कीजिए।

पाश्चात्य तथा आधुनिक हिन्दी निबन्धकारों ने निबन्ध की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनके अनुसार निबन्ध के तत्त्व अनेक हो सकते हैं। निबन्ध के ये तत्त्व वे हैं जिनके बिना उसका कलेवर बन ही नहीं सकता। इन्हीं तत्त्वों से उसे मूर्तता प्राप्त होती है। अतः इनका विवेचन करना भी यहाँ आवश्यक है।

निबन्ध के तत्त्वों का हम निम्नलिखित आधार पर वर्णन कर सकते हैं—

(१) अंगों के आधार पर,

(२) व्यक्तित्व के आधार पर, और

(३) अभिव्यक्ति के आधार पर।

अब हम संक्षेप में इनका विवेचन-विश्लेषण करेंगे।

(१) अंगों के आधार पर तत्त्वों का विवेचन—निबन्ध के मूलतः दो पक्ष होते हैं—भावपक्ष तथा कलापक्ष। इन दोनों पक्षों का समन्वय होने पर ही निबन्ध जो स्वरूप ग्रहण करता है, वह एक विशिष्ट आकार का होता है। निबन्ध का यह विशिष्ट आकार तीन तत्त्वों से निर्मित होता है, जिन्हें निबन्ध के अंग कहते हैं—(क) प्रस्तावना, (ख) विषय-प्रतिपादन अथवा उपपत्ति और (ग) उपसंहार।

इन तीनों में आकार की दृष्टि से उपसंहार तथा प्रस्तावना सबसे छोटे होते हैं और तुलनात्मक दृष्टि से उत्पत्ति का आकार बड़ा होता है। इन तीनों तत्त्वों से निबन्ध का स्वरूप सजता-सँवरता है।

अंग्रेजी में एक कहावत है, "Well begun, half done" अर्थात् यदि आरम्भ अथवा प्रस्तावना सही बन गई तो मानो आधा निबन्ध लिखा जा चुका; इसलिए प्रस्तावना का आकर्षक तथा सजीव होना आवश्यक है।

उपपत्ति का भी शृंखलाबद्ध तथा सुगठित होना आवश्यक है। विचारों का क्रम इस प्रकार दिया जाये कि वह असम्बद्ध न हों. सभी एक सूत्रबद्ध ज्ञात हों। अन्यथा निबन्ध उखड़ा-उखड़ा ज्ञात होगा।

उपसंहार का भी सजीव होना आवश्यक है। उपसंहार ठीक प्रकार से हो, तभी निबन्धकार का निबन्ध पाठकों को सन्तोष प्रदान करता है। इसके लिए निबन्ध का उपसंहार सरल तथा सुगठित होना चाहिए। किसी लोकोक्ति अथवा सूक्ति को देकर भी निबन्ध का उपसंहार किया जाता है।

(२) **व्यक्तित्व के आधार पर तत्त्वों का विवेचन**—व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रकाशन होने के कारण निबन्ध के मूलतः तीन तत्त्व होते हैं—(क) भाव-तत्त्व, (ख) बुद्धि-तत्त्व और (ग) सौन्दर्य तत्त्व।

भाव-तत्त्व—यह निबन्ध का सर्वप्रथम तत्त्व है। जब तक निबन्धकार में भावनाएँ ही उत्पन्न न होंगी, उसे लिखने की प्रेरणा ही न मिलेगी, वह लिखेगा क्या ? अतः भावों का आवेग निबन्ध-रचना का प्रथम तत्त्व है। यह तत्त्व अनेक गुणों से अभिप्रेरित होता है। निबन्धकार भावों को आदर्श से प्रेरित रखता है। उसके भाव आदर्श प्रेरित, आदर्श व्यक्तियों, आदर्श सिद्धान्तों और आदर्श परिस्थितियों से विवेचित होते हैं। साथ ही वह भावों को उद्बुद्ध करने की प्रेरणा भी अनेक उपायों से प्राप्त करता है। प्रकृति, मानव और वातावरण—तीनों ही उसके भावों को उद्बुद्ध करते हैं।

बुद्धि-तत्त्व—प्रकृति आदि के संसर्ग से उत्पन्न विचार तबतक अभिव्यक्ति के लिये तैयार नहीं होते, जबतक उनका बुद्धि द्वारा अनुशीलन न हो जाये, अर्थात् रागात्मक तत्त्व की बुद्धि-तत्त्व द्वारा परिपुष्टि होती है। निबन्ध लिखने से पहले जिन भावों की उत्पत्ति होती है, उनका बुद्धि द्वारा मनन किया जाता है और इसीसे निबन्ध में व्यक्तित्व की प्रधानता दिखाई देती है। निबन्धकार वर्ण्य विषय को अपनी बुद्धि द्वारा चिन्तन-मनन करके सुनियोजित स्वरूप प्रदान करता है। तदुपरान्त तर्क आदि का सहारा लेकर उसे श्रृंखलाबद्ध करता है।

सौन्दर्य-तत्त्व—निबन्धों का अनुभूति के आधार पर तीसरा तत्त्व सौन्दर्यानुभूति है। निबन्धकार अपनी बुद्धि तथा कल्पना से वर्ण्य-विषय में ऐसी रोचकता तथा सुन्दरता उत्पन्न कर देता है कि वह सभी को ग्राह्य होने लगता है। सामान्य विषय भी निबन्धकार की सौन्दर्यानुभूति के कारण सुन्दर तथा सर्वग्राह्य हो जाता है। यह सौन्दर्य दो प्रकार का होता है—(१) आन्तरिक सौन्दर्य (Grace) और (२) बाह्य-सौन्दर्य (Beauty)। आन्तरिक सौन्दर्य का सम्बन्ध आनन्द से है और बाह्य-सौन्दर्य का सम्बन्ध अभिव्यक्ति तथा कला-पक्ष से। निबन्ध में प्रयुक्त भाव इस प्रकार से हों जो पाठक को स्वतः अपनी ओर आकृष्ट कर लें। निबन्ध का परमावश्यक गुण आकर्षण (Charm) है। इसके बिना निबन्ध में सरलता, प्रभाव आदि का सर्जन नहीं हो सकता। संगीतात्मकता (Music) को भी सौन्दर्यानुभूति का तत्त्व माना गया है और इसका भी समावेश निबन्ध में होना चाहिए।

(३) **अभिव्यक्ति के आधार पर तत्त्वों का विवेचन**—निबन्ध के लिए जितनी आवश्यक अनुभूति है, उतनी ही आवश्यक अभिव्यक्ति भी है। कारण, कोई भी निबन्ध, चाहे उसके भाव कितने ही सुन्दर, पुष्ट एवं सुविन्यस्त क्यों न हों, तबतक स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक उसकी अभिव्यक्ति न हो। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि निबन्ध में भाव यदि आत्मा है तो अभिव्यक्ति उसका शरीर। यह अभिव्यक्ति भी अनेक तत्त्वों से स्वरूप ग्रहण करती है। इनमें से चार तत्त्व प्रमुख हैं—(क) भाषा-शैली, (ख) अलंकार, (ग) ध्वन्यात्मकता और (घ) औचित्य।

अभिव्यक्ति का प्रमुख तत्त्व भाषा-शैली है। निबन्ध जिस भाषा में लिखा जाये, उस भाषा का निबन्धकार को पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। भाषा सरल, सुष्ठु तथा वाक्य-विन्यास सरल और प्रवाहमय होना चाहिए। शब्द ऐसे न हों जो क्लिष्ट हों अथवा अप्रचिलित हों। वाक्य समास प्रधान होने की अपेक्षा व्यास-प्रधान ही होने चाहिए।

इसी प्रकार शैली का भी सुन्दर व रोचक होना अनिवार्य है। बाबू गुलाब राय ने निबन्ध-शैली की विशेषताओं का निर्दशन करते हुए लिखा है—"क्रम, संगति, संगठन और अन्विति शैली के आन्तरिक गुण हैं। शैली में भी अनेकता में एकता उत्पन्न करना वांछनीय रहता है। निबन्ध में एक-एक वाक्य में अकांक्षा, योग्यता आदि गुण अपेक्षित होते हैं। सार्थक व उपयुक्त शब्दों की पदमैत्री और क्रम से उतार-चढ़ाव आदि गुण शैली को प्रसादमय बना देते हैं। मुहावरों का प्रयोग और हास्य-व्यंग्य का पुट उसे चलतापन प्रदान करता है।"

कलापक्ष के निखार के लिए निबन्धकार अलंकारों का प्रयोग भी करता है, वह भावों को घुमा-फिरा कर, मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त करके भाषा में सौन्दर्य और चमत्कार उत्पन्न करता है।

अभिव्यक्ति का तीसरा तत्त्व संवेगात्मकता अथवा ध्वन्यात्मकता (Suggestiveness) भी है। निबन्ध का सर्जन लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शैली के प्रयोग से ही होता है और इसी ध्वन्यात्मकता से अनेक बाह्यरूप की अभिव्यक्ति होती है।

निबन्ध का अन्तिम तत्त्व औचित्य है। प्रत्येक वस्तु, भाव, विषय, गुण आदि का औचित्य निबन्ध का मूल तत्त्व है। औचित्य कल्पनामूलक, भाव-

मूलक, शब्दमूलक, अलंकारमूलक—सभी प्रकार का होता है। मैरी ने 'प्राब्लेम ऑव स्टाइल' में औचित्य को विशेष स्थान दिया है।

निष्कर्ष—संक्षेप में, निबन्ध के ये तीनों आधार मिलकर ही निबन्ध को आकर प्रदान करते हैं। इनमें से किसी भी तत्त्व का आभाव निबन्ध के स्वरूप को विकृत कर देता है, या यों कहिए कि तब तक निबन्ध निबन्ध नहीं रहता, उसका स्वरूप बहुत कुछ परिवर्तित हो जाता है।

प्रश्न ५७—निबन्धों का वर्गीकरण करते हुए उसके भेद तथा शैली-भेद का भी उल्लेख कीजिए।

विषय, व्यक्ति, भाव तथा अभिव्यक्ति की विविधता के कारण निबन्धों के भी अनेक भेद होते हैं। जैसे प्रकृति और मानव सर्भा में अनेकरूपता है और पदार्थों में विभिन्नता है, उसी प्रकार निवन्धों के भी अनेक भेद हो सकते हैं; क्योंकि निबन्ध में कोई भी वस्तु या भाव वर्ण्य-विषय हो सकता है। आधुनिक आलोचक एडीसन ने निबन्ध का विवेचन करते हुए लिखा है—

"अधुनिक साहित्य में निबन्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह इतनी आकर्षक रचना-विधि है कि साहित्य-अध्ययन के किसी भी प्रसंग में इस पर अनिवार्य रूप से ध्यान देना चाहिए। साथ ही इसकी रूपरेखाएँ अनिश्चित हैं और इसके विषय, उद्देश्य और शैली में इतनी विभिन्नता है कि इसका यथाक्रम विवेचन असम्भव है। वस्तुतः यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या किसी भाँति निबन्ध को साहित्यकला का स्वतन्त्र और व्यवस्थित रूप माना जा सकता है। इस प्रश्न की शक्ति उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम विभिन्न निबन्धकारों के अनेक प्रतिनिधि निबन्धों का अवलोकन करते हैं और देखते हैं कि विषय और शैली की दृष्टि से उनमें कितनी कम समानता है।"

वस्तुतः निबन्ध रचना पर्याप्त मात्रा में हुई है तथा इनकी विभिन्नता भी उतनी ही अधिक हैं जितनी इनकी संख्या है; फिर भी विद्वानों ने निबन्धों के स्थूल रूप से दो प्रकार के आधार निकाले हैं—

(क) विषय के आधार पर।

(ख) अभिव्यक्ति के आधार पर।

विषय के आधार पर भी निबन्धों के दो प्रकार हैं—(१) विषय-प्रधान और (२) आत्म-प्रधान।

(१) **विषय-प्रधान निबन्ध**—विषय-प्रधान निबन्धों में निबन्धकार के व्यक्तित्व की अपेक्षा विषय की प्रधानता रहती है। इसमें किसी विषय पर वाद-विवाद, चिन्तन-मनन और विचार होता है। बेकन के निबन्ध इसी प्रकार के हैं। हिन्दी निबन्धकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसी कोटि के निबन्ध लेखकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(२) **आत्म-प्रधान अथवा व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध**—आत्म-प्रधान निबन्धों में लेखक का व्यक्तित्व प्रधान होता है और विषय का प्रतिपादन उससे आच्छादित रहता है। इनकी शैली काव्यात्मक, सरस और मृदुल होती है। विषय-प्रधान निबन्धों की अपेक्षा मनुष्य व्यक्तित्व-प्रधान निबन्धों से अधिक व शीघ्र प्रभावित होता है। विषय-प्रधान निबन्धों में लेखक स्वतन्त्र न रहकर अनुशासित होता है, किन्तु आत्म-प्रधान निबन्धों में वह विषय का ध्यान रखते हुए भी स्वच्छन्दतापूर्वक अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

अभिव्यक्ति के आधार पर निबन्धों के चार भेद किये जा सकते हैं :

(१) विवरणात्मक निबन्ध (Narrative Essays)

(२) वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive Essays)

(३) विचारात्मक निबन्ध (Reflective Essays)

(४) भावात्मक निबन्ध (Emotional Essays)

(१) **विवरणात्मक निबन्ध**—विवरणात्मक निबन्ध वे कहलाते हैं, जिनमें किसी कहानी या घटना का ब्यौरा दिया जाता है। इस प्रकार के निबन्धों में कथा का अंश किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहता है, जिसके कारण उसमें सरसता और रोचकता बनी रहती है। इस प्रकार के निबन्धों में युद्ध, यात्राओं आदि का विवरण रहता है। इस प्रकार के निबन्ध लिखना अपेक्षाकृत सरल होता है। इस प्रकार के निबन्धों की शैली व्यास-शैली होती है।

(२) **वर्णनात्मक निबन्ध**—वर्णनात्मक निबन्धों में प्राकृतिक दृश्यों अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों, मेलों इत्यादि का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार के निबन्धों में घटनाओं पर उतना बल नहीं होता, जितना कि किसी भी दृश्य या परिस्थिति के वर्णन पर होता है। वैसे घटनाओं के वर्णन में भी कुछ-न-कुछ दृश्यों का वर्णन तो हो ही जाता है। विवरणात्मक और वर्णनात्मक निबन्धों के मध्य बहुत सुनिर्धारित और सुस्पष्ट भेद पाना कठिन है; फिर भी

घटना प्रधान निबन्ध को विवरणात्मक और वर्णन प्रधान निबन्ध को वर्णनात्मक निबन्ध कहा जाता है। प्रायः विवरणात्मक निबन्धों में घटना भूतकाल में घटित रूप में वर्णित की जाती है। अतः वर्णनात्मक निबन्धों का वर्णन वर्तमान काल-सा होता है, किन्तु यह वर्गीकरण निर्णयात्मक नहीं है, क्योंकि विवरणात्मक निबन्धों में भी वर्तमान काल की घटनाओं का वर्णन किया जा सकता है। अधिकतर इस प्रकार के निबन्धों में भी व्यास-शैली का ही प्रयोग किया जाता है।

(३) **विचारात्मक निबन्ध**—विचारात्मक निबन्धों में किसी साहित्यिक या नैतिक सिद्धान्त अथवा किसी राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक समस्या पर अपने तथा अन्य विचारकों के विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। इस प्रकार के निबन्धों के अन्तर्गत किसी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया जाता है। निबन्धकार तटस्थ भाव से उस विषय के अनुकूल और प्रतिकूल पक्षों का प्रतिपादन करता है। यदि उसका कोई एकपक्षीय मन्तव्य भी होता है तो भी वह विरोधी पक्ष का धैर्यपूर्ण प्रतिपादन करता है और फिर उसके दोष बतलाकर उस पक्ष का खंडन करके अपने पक्ष की स्थापना करता है। अपना पक्ष चाहे कुछ भी क्यों न हो, किन्तु अच्छा निबन्धकार अपने विरोधी पक्ष की अवहेलना नहीं करता। यदि विरोधी पक्ष में कुछ जोरदार युक्तियाँ हैं, तो वह उन्हें उतने ही जोर के साथ प्रस्तुत करता है, जितने जोर के साथ अपने पक्ष को। उसके बाद वह उन उक्तियों का बुद्धिसंगत तर्क द्वारा खण्डन करता है। यदि वह उन उक्तियों का खण्डन न कर सके तो उनका विरोध करना उचित नहीं कहा जा सकता।

अनेक बार विचारात्मक निबन्धों में किसी एक ही सिद्धान्त अथवा ग्रन्थ के गुण-दोषों का स्पष्टीकरण और व्याख्या रहती है। इस प्रकार के निबन्धों में निबन्धकार प्रतिपाद्य-विषय के सम्बन्ध में अपने विचारों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करता चला जाता है। इन विचारों का सुव्यवस्थित और परस्पर संगत होना अत्यन्तावश्यक है। यदि ये दो गुण निबन्ध में न होंगे तो वह निबन्ध शब्दजाल मात्र बनकर रह जायेगा।

(४) **भावात्मक निबन्ध**—भावात्मक निबंध विचारों से प्रेरित नहीं होते, अपितु भावनाओं से प्रेरित होते हैं। इस प्रकार के निबन्धों की गणना गद्य-काव्य के अन्तर्गत की जाती है। भावात्मक निबन्धों में लेखक अपने हृदय को

खुली छूट देता है और प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क प्रस्तुत न करके पाठक के मन को प्रसन्न करने के लिए कोमल भावनाओं का आश्रय लेता है। इस प्रकार कई बार किसी प्रसंग-विशेष में पाठक के मन में घृणा या रोष को जाग्रत करने के लिए भावनाओं का अवलम्बन किया जाता है। भावात्मक निबन्धों में प्रायः गम्भीरता का अभाव रहता है, किन्तु प्रभावोत्पादकता की कमी उनमें नहीं होती। प्रायः इस प्रकार के निबन्धों का मूल्य सामयिक होता है। किसी काल-विशेष के लोगों को वे निबन्ध बहुत प्रभावित करते हैं, परन्तु कुछ समय के पश्चात् उनका प्रभाव क्षीण हो जाता है। विचारात्मक निबन्धों में प्रायः ऐसा नहीं होता। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा काव्यात्मक होती है और उसमें साहित्यिकता का पूर्ण समावेश होता है। काव्यात्मक शैली होने से लम्बे-लम्बे वाक्य होते हैं। वास्तव में ये मानव-मनोभावों की ही अभिव्यक्ति करते हैं। भावात्मक निबन्धों में प्रायः धारा, तरंग या विक्षेप शैली का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त निबन्धों का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं:

(क) (१) सांस्कृतिक, (२) विचारात्मक, (३) व्याख्यात्मक, (४) तार्किक, और (५) भावात्मक।

(ख) (१) आत्म-कथात्मक, (२) विचारात्मक, (३) नाटकीय।

(ग) (१) स्वप्न कथा रूप में, (२) आत्मचरित, (३) कहानी शैली में।

अभिव्यक्ति-कौशल की दृष्टि से—(१) वर्णनात्मक शैली, (२) व्यंग्यात्मक शैली, (३) चित्रात्मक शैली, (४) भाषण-शैली, (५) आलंकारिक शैली, (६) मुहावरा शैली, (७) उद्धरण शैली, (८) काव्यात्मक शैली, (९) शब्द-क्रीड़ा शैली, (१०) खंडन शैली और (११) मण्डन शैली।

भाषा-शैली के विचार से—(१) प्रांजल शैली, (२) आलंकारिक शैली, (३) प्रदर्शन शैली, (४) प्रवाह शैली, (५) संवाद शैली।

चिन्तनात्मक निबन्ध—(१) विचारात्मक, (२) भावात्मक और (३) उभयात्मक।

विषय-वस्तु की दृष्टि से—(१) ऐतिहासिक, (२) गवेषणात्मक (३) चारित्रिक, (४) धार्मिक, (५) सामाजिक, (६) राजनीतिक (७) यात्रा-सम्बन्धी, (८) प्रकृति-सम्बन्धी, (९) व्यंग्य-हास्य प्रधान, (१०) आत्मकथा के रूप में।

(१) यथातथ्य निरूपण, (२) सूचनात्मक, (३) शिक्षात्मक, (४) कल्पनात्मक, (५) वर्णनात्मक ।

आधुनिक युग में न वर्ग का महत्त्व है और न शैली का। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ विषय और शैलियाँ—सभी वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। अतः विचार तथा अभिव्यक्ति भेद से निबन्धों के अनेक रूप हो सकते हैं। विचार अनेक रूप धारण करते हैं पर मूलतः होते एक ही हैं। निष्कर्षतः निबन्ध के वर्गीकरण के मूल आधार ये ही हैं।

प्रश्न ५८—उपन्यास के शिल्प-विधान पर आलोचनात्मक लेख लिखिए।

अथवा

उपन्यास की परिभाषा करते हुए ऐतिहासिक उपन्यास और आंचलिक उपन्यास का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

"उपन्यास जनसाधारण के जीवन का महाकाव्य है"—इस कथन के आधार पर उपन्यास के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

कहा जाता है कि "उपन्यास का सीधा सम्बन्ध मानव-चरित्र की विविधता से है, अतः उपन्यास को समस्त वादों से पृथक् रहकर मानव-चरित्र पर ही केन्द्रित रहना चाहिए।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ? स्पष्ट करें।

उपन्यास शब्द अंग्रेजी की साहित्य-विधा नोवेल (Novel) का पर्यायवाची है। अंग्रेजी में नावेल का अर्थ है—नया। फ्रास में इसके लिए 'नोवास' शब्द का प्रयोग होता था, जिसका अर्थ होता है यथार्थ चित्रण। इटली में नोविले' शब्द का प्रयोग होता है, कई विद्वानों का मत है कि यह शब्द फ्रांस से नहीं इटली से आया है, पर हिन्दी में यह मूलतः अंग्रेजी साहित्य से आया है और इसीलिए इसे फिक्सन (Fiction) भी कहा जाता है, क्योंकि अंग्रेजी में इसे पहले फिक्सन कहा जाता था। इसका अर्थ गल्प होता है, जो जीवन की रंगीनियों से सम्बद्ध हो तथा यथार्थ से असम्बद्ध हो। इस प्रकार अनेक विद्वान् इसे रोमांस भी कहते हैं। रोमांस असम्भव और दुर्लभ कल्पनाओं को ग्रहण करता है। उपन्यास और रोमांस में अन्तर भी है, क्योंकि उपन्यास सम्भव और सुलभ कल्पना को ग्रहण करता है। इसीलिए क्लारा रीव ने लिखा है, "उपन्यास अपने युग का चित्रण करता है। रोमांस उदात्त भाषा में

उसका वर्णन करता है, जो न घटित है और न घट्यमान। उपन्यास दैनिक जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का वर्णन करता है, जिनका हममें और हमारे मित्रों के जीवन में घटित होना सम्भव हो।"

इससे कहा जा सकता है कि उपन्यास एक स्वतन्त्र विधा है, यह एक नवीन रूप है—भले ही इसे विकास यूनानी गद्य-कथाओं, मध्ययुगीन गद्य-रोमांसों तथा वीराख्यानों से मिला हो।

उपन्यास की परिभाषा—उपन्यास मानव-जीवन का कल्पनापरक यथार्थ चित्रण है; फिर भी विद्वानों ने इसकी अनेक रूपों में परिभाषाएँ दी हैं। 'न्यूइङ्ग्लिश डिक्सनरी' में उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—"बृहत् आकार गद्याख्यान या वृत्तान्त, जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाता है, उपन्यास कहते हैं।"

क्रोस के अनुसार, "उपन्यास से अभिप्राय उस गद्यमय गल्पकथा का है, जिसमें वास्तविक जीवन का यथार्थ चित्रण रहता है।"

अर्नेस्ट ई० बेकर के अनुसार, "उपन्यास को हम गद्यमय कल्पित आख्यान के माध्यम से की गयी जीवन की व्याख्या कह सकते हैं।"

आर० बर्टर के मतानुसार, "उपन्यास गद्य में रचित कवि के समकालीन जीवन का अध्ययन है, जिसकी रचना लेखक समाज के उत्थान-पतन की भावना से अनुप्राणित होकर करता है। इसके लिए वह प्रेमतत्त्व को प्रधान-तया ग्रहण करता है, क्योंकि अपने सामाजिक सम्बन्धों में मानव परस्पर इसी से बँधे हुए हैं।"

बेवस्टर महोदय ने उपन्यास की परिभाषा इन शब्दों में निबद्ध की है—"उपन्यास एक ऐसा कल्पित विशालकाय तथा गद्यमय आख्यान है, जिसमें एक ही कथानक के अन्तर्गत यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और उनके क्रियाकलापों का चित्रण रहता है।"

एडिथ ह्वार्टन ने उपन्यास की परिभाषा करते हुए लिखा है—"उपन्यास एक ऐसा कल्पित आख्यान है जिसमें सुन्दर कथानक और भली प्रकार चित्रित पात्र होते हैं।"

उपन्यास की इन परिभाषाओं के अतिरिक्त भारतीय विद्वानों ने भी उपन्यास की परिभाषाएँ दी हैं। डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार, "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"

मुन्शी प्रेमचन्द के अनुसार, "मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके मूल रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है।"

उपन्यास का स्वरूप—इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव-जीवन का कल्पनापरक यथार्थ चित्रण है। यद्यपि यह मनुष्येतर पदार्थों का भी वर्णन करता है, किन्तु यह वर्णन भी मनुष्य से सम्बद्ध ही होता है। इसीलिए इसे मानव-जीवन का महाकाव्य कहते हैं। उपन्यास मानव-जीवन से सम्बद्ध होता है। यह यथार्थ रूप में, घटनाओं को वास्तविक रूप में ग्रहण न करके उनको कल्पना की सहायता से नवीन रूप प्रदान करता है, परन्तु यह कल्पनापरक रूप भी होता वास्तविक ही है—ऐसी वास्तविकता जो यथार्थ तथा स्वाभाविक लगे। उपन्यासकार का कर्म बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण होता है, प्रकारान्तर से वह समाज को नवीन दिशा-बोध कराने वाला होता है, अतः उसके लिए आवश्यक है कि वह तटस्थ दृष्टिकोण अपनाये और समस्त वादों तथा मतभेदों से दूर रहकर अपने निष्पक्ष विचार रखे। एक समीक्षक की तरह उपन्यासकार भी युगनिर्माता होता है और मानव-जीवन का व्याख्याता होने के कारण उसमें मानवीय अनुभूतियों का विशदता से वर्णन होता है। उपन्यासकार जब मानव-जीवन की सफलता और असफलता, अन्तर्वेगों, सुख-दुख आदि का वर्णन करता है तो यह बड़ा दुष्कर है कि वह उनमें लिप्त न हो। यही कारण है कि वह वर्तमान समस्याओं के प्रति भी प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः अपना मत व्यक्त करता है। वह पात्रों और कथानक की घटनाओं के द्वारा अपने विचार तथा धारणाएँ भी व्यक्त करता है।

जीवन की यह व्याख्या उपन्यासकार दो प्रकार से करता है—प्रत्यक्षतः व्यक्तिगत टिप्पणियों और मत प्रतिपादन द्वारा; और दूसरे पात्रों के संवादों के द्वारा। इनमें से दूसरी विधि अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर मानी गयी है। उपन्यास में वर्णित जीवन-दर्शन की परीक्षा दो आधारों पर हो सकती है—(१) वह सत्य के कितना निकट है और (२) उसमें नीति तत्त्व किस सीमा तक विद्यमान है। उपन्यास का सत्य तथ्यों पर आधारित भले ही न हो पर सार्वभौम मानवता पर अवश्य आधृत होता है।

यही कारण है कि शक्ति का साहित्य (Literature of power) ज्ञान के साहित्य (Literature of knowledge) की अपेक्षा श्रेष्ठ और स्थायी होता है। इसीसे यह उपन्यासकार का दायित्व है कि वह जीवन और उसकी समस्याओं के विषय में सोचे तथा उनके औचित्यपूर्ण समाधान दे। इसीलिए उसे दलबन्दी तथा मतवादों से पृथक् रहकर अपनी दृष्टि को मानव-चरित्र तक ही केन्द्रित रखना चाहिए।

उपन्यासों का वर्गीकरण—वर्तमान युग में उपन्यासों के बहुविध विकास के साथ-साथ उनके वर्गीकरण की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। वर्गीकरण का आधार प्रायः उपन्यास की विषय-वस्तु, उसके तत्त्वों में किसी एक तत्त्व की प्रधानता और रचना-शैली या शैली का रचना-विधान पक्ष रहा करता है और इस दृष्टि से उपन्यासों को भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। यहाँ हम उपन्यासों का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर करेंगे।

विषय-वस्तु के आधार पर वर्गीकरण—विषय वस्तु की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण नितान्त स्थूल है। इसका आधार यह है कि उपन्यास की विषय-वस्तु किस प्रकार की है या किस विषय से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से प्रधानतः नीचे लिखे वर्ग किए जा सकते हैं:

(१) **ऐतिहासिक उपन्यास**—ऐतिहासिक उपन्यासों की कथावस्तु इतिहास से ली जाती है। इनमें कल्पना का अंश भी रहता है, परन्तु ऐतिहासिक वस्तु के सामंजस्य में ही। डा० वृन्दावनलाल वर्मा के 'माधवजी सिंधिया', 'महारानी दुर्गावती' और 'झांसी की रानी' आदि उपन्यास इसी वर्ग में आते हैं।

(२) **सांस्कृतिक उपन्यास**—सांस्कृतिक उपन्यासों में विषय-वस्तु की पृष्ठभूमि तो इतिहास की ही होती है, परन्तु उसमें ऐतिहासिकता के स्थान पर तत्कालीन संस्कृति का चित्रण ही प्रधान रहता है। इस दृष्टि से उसकी विषय-वस्तु का अधिकांश भाग कल्पित भी हो सकता है, परन्तु उस काल के सांस्कृतिक गौरव की झांकी प्रस्तुत करना उसका मुख्य लक्ष्य रहता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगर वधू' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक उपन्यास है।

(३) **सामाजिक उपन्यास**— सामाजिक उपन्यासों का उद्देश्य समाज और उसकी समस्याओं का चित्रण रहता है। इनकी विषय-वस्तु का सम्बन्ध समाज

के जन-जीवन से होता है। समाज में व्याप्त परम्पराएँ, प्रथाएँ, रीतियाँ और सामान्य जन-जीवन इनका प्रमुख विषय होता है। प्रसाद और मुंशी प्रेमचन्द के लगभग सभी उपन्यास इसी प्रकार के हैं।

(४) **मनोरंजनप्रधान उपन्यास**—मनोरंजनात्मक उपन्यास हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यास-रचना-काल में लिखे गये। तिलिस्म ऐय्यारी के उपन्यास, जासूसी उपन्यास और प्रारम्भिक प्रेमाख्यान उपन्यास इसी वर्ग में आयेंगे। इनकी कथावस्तु नितान्त काल्पनिक और कौतूहल-प्रधान रहती है। बाबू देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी आदि के उपन्यास इसी वर्ग में आएँगे।

(५) **प्राकृतवादी उपन्यास**—प्राकृतवादी उपन्यासों की विषय-वस्तु का सम्बन्ध मनुष्य के प्रकृत व्यापारों—उनके अतिवास्तविक स्वरूप तथा वस्तु-परक स्थितियों से है। ये उपन्यास अतियथार्थ की भूमि पर आधारित रहते हैं। 'दिल्ली का दलाल', 'चंद हसीनों के खतूत', 'वेश्यापुत्र, 'दुराचार के अड्डे' आदि उपन्यासों की गणना इसी वर्ग में की जाएगी।

(६) **आंचलिक उपन्यास**—आंचलिक उपन्यास किन्हीं विशेष अंचलों की पृष्ठभूमि में लिखे जाते हैं और इसीलिए ये आंचलिक उपन्यास कहे जाते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' इस प्रकार के उपन्यासों में अग्रणी हैं।

आंचलिक और ऐतिहासिक उपन्यास—जिन उपन्यासों में किसी प्रदेश-विशेष का यथातथ्य और बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है, उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। आंचलिक उपन्यास में पात्रों का चरित्र वास्तविकता की धरती पर खड़ा दिखाई देता है, इसका कारण है उसकी तत्कालीन परिस्थितियों का समग्र चित्रण। आंचलिक उपन्यास ऐतिहासिक भी होते हैं, इस कथन से हम सहमत नहीं। वास्तव में आंचलिक उपन्यास सामाजिक तो कहे जा सकते हैं, परन्तु ऐतिहासिक कदापि नहीं। ऐतिहासिक उपन्यास में अपने समय के जन-जीवन का समग्र चित्रण तो किया जा सकता है, परन्तु उनकी यथार्थता पुस्तकीय ज्ञान पर ही आधारित होती है, स्वानुभव पर नहीं। फिर तत्कालीन समाज की मान्यताओं का पात्रों के चरित्र-विकास के माध्यम से ही अंकन सम्भव है जिनका परिचय भी उन्हें इतिहास के पृष्ठों में मिलता है। आंचलिक उपन्यास का प्रणेता अंचल विशेष

की संस्कृति का आँखों देखा चित्रण करता है, उसमें यथार्थ की स्थिति महत्त्व-पूर्ण और विश्वसनीय रहती है। इन्हीं कतिपय आधारों पर हम ऐतिहासिक उपन्यासों को आंचलिक उपन्यासों से पृथक् करते हैं।

उपन्यासों का तत्त्वों के आधार पर वर्गीकरण—कथावस्तु, पात्र, संवाद, वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य—उपन्यास के तत्त्व हैं। उपन्यास में इनमें से किसी एक की विशेष रूप से प्रधानता के आधार पर भी उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाता है। इस दृष्टि से केवल दो भेद विशेष महत्त्वपूर्ण हैं :

(१) **घटना-प्रधान उपन्यास**—घटना-प्रधान उपन्यासों में कथातत्त्व की प्रधानता रहती है और पात्रों के माध्यम से कथा का विकास तथा उसमें रोचकता उत्पन्न करना उपन्यासकार का लक्ष्य है। इससे घटनाओं की प्रधानता होती है और पात्रों की गौणता रहती है। चरित्र-चित्रण पर लेखक विशेष ध्यान नहीं देता। ऐतिहासिक उपन्यास तथा मनोरंजन-प्रधान काल्पनिक विषय-वस्तु वाले उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यास कहे जायेंगे। यों कभी-कभी ऐतिहासिक उपन्यासों में चरित्र की प्रधानता भी देखी जाती है।

(२) **चरित्र-प्रधान उपन्यास**—चरित्र-प्रधान उपन्यासों में चरित्र-चित्रण पर लेखक का ध्यान कथा की अपेक्षा अधिक रहता है। सामाजिक उपन्यासों में प्रायः चरित्र की ही प्रधानता रहती है। मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास भी इसी प्रकार के हैं।

वातावरण या उद्देश्य की प्रधानता को लेकर भी उपन्यास के तत्त्व सम्बन्धी भेद किए जा सकते हैं। इस प्रकार के भेदों का प्रयोजन उस विशेष तत्त्व की प्रधानता बताना ही है।

रचना-शैली की दृष्टि से वर्गीकरण—रचना-शैली की दृष्टि से उपन्यासों को प्रायः निम्नलिखित वर्गों में रखा जाता है :

(१) **वर्णनात्मक शैली के उपन्यास**—इस प्रकार के उपन्यासों में लेखक स्वयं कथ्य का वर्णन करता है, जैसे प्रेमचन्द के उपन्यास।

(२) **आत्म-कथा शैली के उपन्यास**—इनमें कोई पात्र स्वयं अपनी कहानी कहता है या अधिक पात्र अपनी-अपनी कहानी कहते हैं। जैसे भगवतीप्रसाद बाजपेयी का 'चलते-फिरते' उपन्यास।

(३) **डायरी शैली के उपन्यास**—इस प्रकार के उपन्यासों में एक या अधिक पात्रों की डायरियों से ही कथा का विकास होता है।

(४) पत्रात्मक शैली के उपन्यास—इनमें पात्रों के माध्यम से कथा का विकास होता है।

शैली की दृष्टि से संलाप-शैली जैसे कुछ और भी भेद बताये जाते हैं।

निष्कर्ष—उपन्यासों की उक्त परिभाषा और वर्गीकरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास एक अधुनातन साहित्य विधा है जो हिन्दी साहित्य के मानदंडों से निर्धारित रूपों को अभिव्यक्त करती है। समग्रतः उपन्यास आज के युग की यथार्थवादी सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। कारण, मानव-जीवन विविधतापरक है, इसलिए जीवन का यथार्थवादी चित्रण होने के कारण उपन्यास के भी अनेक भेद होते हैं। किन्तु इस वर्गीकरण के लिए यह आवश्यक नहीं है कि एक उपन्यास में एक ही रूप पाया जाए: एक ही उपन्यास अनेक प्रकारों को स्वयं में समाहित कर लेता है।

प्रश्न ५६—उपन्यास को पूँजीवादी युग का महाकाव्य कहा गया है। क्या पूँजीवादी युग के बीतने पर उपन्यास एक साहित्यिक विधा के रूप में समाप्त हो जायेगा ? अपना मंतव्य दें।

साहित्य की धारा अबाध गति से प्रवाहित रहती है। किसी युग विशेष में साहित्य का कोई रूप जनप्रिय होता है तो दूसरे समय में उस रूप की उपेक्षा करके अन्य रूप प्रचलित हो जाता है। काव्य ने अपने समय में अत्यधिक प्रभाव डाला, लेकिन सामन्तवादी प्रथा के समाप्त होते-होते काव्य का युग भी समाप्तप्राय होने लगा। पूँजीवादी वर्ग के उदय होने के साथ-साथ उपन्यास का भी आरम्भ हुआ। आरम्भिक उपन्यासों में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था तथा समाज-व्यवस्था का ही चित्रण पाया जाता है। समृद्धि तथा धन के वैभव में खेलते पूँजी-पुत्रों के जीवन का चित्रण करना ही आरम्भिक उपन्यासों का लक्ष्य रहा है, इसलिए यह कहा जाता है कि उपन्यास पूँजीवादी युग का महाकाव्य है।

उपन्यास को पूँजीवादी युग का महाकाव्य कहने का यही कारण नहीं है; इसके अतिरिक्त अनेक कारण और भी हैं जिनके आधार पर इन्हें पूँजीवादी युग का महाकाव्य कहा जाता है। यहाँ महाकाव्य कहने से तात्पर्य यही है कि जैसे महाकाव्य राजा-महाराजाओं और सामन्तों के दरबाराश्रय में लिखे जाते थे, उसी प्रकार आज के उपन्यास भी पूँजीपतियों द्वारा संरक्षित हैं और इसीलिए इन उपन्यासों में पूँजीवादी वर्ग का समर्थन होता है।

संक्षेप में, पूंजीवादी वर्ग का समर्थन होने के कुछ मुख्य साधन निम्न-लिखित हैं :

(१) साहित्यकार पर कभी इतना पैसा नहीं रहा कि वह स्वच्छन्दतापूर्वक समृद्ध जीवनयापन कर सके। बुद्धिजीवी होने के कारण यह निर्धन श्रमीवर्ग की भाँति भी नहीं रह सकता। अपनी प्रतिभा के बल पर वह अच्छा जीवन-स्तर चाहता है, परन्तु वह जो लिखता है, उससे तबतक अर्थ-प्राप्ति नहीं हो सकती जबतक उसका लिखा प्रकाश में न आये। लिखे हुए को प्रकाश में लाने के लिए आवश्यक है कि वह पत्रिकाओं अथवा प्रकाशकों द्वारा स्वीकृत हो। और, चूंकि वे पूंजीपति होते हैं, इसलिए ये वही सामग्री स्वीकृत करते हैं जो उनकी रुचि के अनुकूल होती है। अतः साहित्यकार को विवश होकर उन्हीं की इच्छानुसार लिखना पड़ता है। फलतः उपन्यासों में पूंजीवादी वर्ग की ही प्रभुता रहती है। यदि कुछ उपन्यासों में शोषित वर्ग का समर्थन होता भी है तो वह पूँजीवाद का प्रचारमात्र होता है।

(२) बड़े-बड़े पुरस्कारों और अनुदानों की घोषणा भी साहित्यकार को लालच में डालकर उन्हीं का गुणगान करने को विवश करती है, जो उन पुरस्कारों के संचालक हैं और चूंकि ये बड़े-बड़े पुरस्कर भी पूंजीपतियों द्वारा दिये जाते हैं अथवा उनके हाथ की कठपुतली—सरकार द्वारा दिये जाते हैं, इसलिये उपन्यास में इनका समर्थन होना स्वाभाविक है।

(३) आज समाजवाद का नारा भले ही लगता हो, किन्तु समाजवाद की आड़ में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ही पनप रही है। इसलिए उपन्यासों में समग्र जीवन के दर्शन का नारा भले ही दिया जाये, परोक्षतः समर्थन पूंजीवाद का ही होता है।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उपन्यासों से पूंजीवादी व्यवस्था को समर्थन मिलता है। अतः उपन्यास को पूंजीवाद का महाकाव्य कह सकते हैं। किन्तु इसके साथ ही एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है कि जैसे सामन्तवादी युग के बीत जाने पर महाकाव्य का युग बीत गया, उसी तरह क्या पूँजीवादी व्यवस्था के समाप्त होने पर उपन्यासों का युग भी समाप्त हो जायेगा।

इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि क्या पूंजीवादी युग के समाप्त होने की आशाएँ है। इस पर विचार करने

पर ज्ञात होता है कि पूँजीवादी व्यवस्था की सामप्ति कभी और किसी युग में नहीं होती, उसका नाम भले ही परिवर्तित हो जाये। राजा-महाराजाओं के युग में पूँजीवादी व्यवस्था सामन्तों के द्वारा पनप रही थी और प्रजातन्त्र में उद्योगपतियों के द्वारा। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि रूस और चीन जैसे साम्यवादी देशों में भी पूँजी का महत्त्व है। हाँ, यह अवश्य है कि वह पहले पूँजीपतियों के हाथों में से निकलकर श्रमिक-वर्ग के हाथों में आ गयी है और उन में भी अब वर्ग-भेद बढ़ता जा रहा है या यों कहिये कि पनपने लगा है।

इसके अतिरिक्त वर्तमान उपन्यास का स्वरूप तथा उसका उद्देश्य इस प्रकार का था या हो गया है कि यह नहीं कहा जा सकता कि उपन्यास का युग सामाप्त हो जायगा। जबतक पूँजीवादी व्यवस्था है, यह चलेगा ही और उसके समाप्त होने की कोई सम्भावना भी नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि एकदम इतना विनाश हो जाये कि मानव वर्तमान भौतिक प्रगति का नाश होने पर एकदम जंगली तथा मतिहीन हो जाये, उस स्थिति में भले ही पूँजीवाद न रहे, पर तब साहित्य की भी तो कोई उपादेयता नहीं रहेगी, अतः वह अवस्था इस प्रश्न की सीमा से बहुत बाहर की है। अतः उपन्यासों के युग के समाप्त होने की सम्भावना नहीं है। दूसरे, यदि कुछ देर के लिए यह मान भी लिया जाये कि पूँजीवादी युग की समाप्ति हो जायेगी तो भी उपन्यासों का युग समाप्त न होगा, यह निश्चित है। कारण, आज का उपन्यास राज्याश्रित अथवा पूँजीपतियों का आश्रित न रहकर जनरुचि के अनुकूल होने के कारण जनाश्रित भी है। जो साहित्य जन-भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है, वह शाश्वत होता है, उसका नाश कभी नहीं होता।

आज का उपन्यास सामान्य जीवन का यथार्थ चित्र है। इसमें सामान्य मनुष्यों के जीवन और उनके सुख-दुख, संघर्ष, भावनाओं, अन्तर्वेगों, सफलता, विफलता आदि का वर्णन होता है। इसकी प्रेरणा-शक्ति सामान्य जीवन है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जन-जीवन की झाँकी होने पर भी उसका युग समाप्त हो सकेगा।

उपन्यासकार जब सामान्य जीवन और उसकी समस्याओं के विषय में सोचेगा तथा उसके समाधान प्रस्तुत करेगा, तभी उसकी शाश्वता है और वर्तमान उपन्यास इसी लक्ष्य की ओर क्षग्रसर है। उनमें सामयिक समस्याओं का

विशद् वर्णन है, वे समय तथा समाज-सापेक्ष हैं, अतः उनकी स्थिति निश्चय ही स्थायी है।

यह भी द्रष्टव्य है कि अभी तो हिन्दी उपन्यास अपनी शैशवावस्था में ही है। उसे तो अभी अपना स्थान भी प्राप्त नहीं हुआ है। जो साहित्यविधा अपने शैशवकाल में ही इतनी लोकप्रिय हो जाए, उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर से आँखें नहीं फेरी जा सकतीं। आज के उपन्यास यथार्थवादी उपन्यास हैं, उनमें कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता को प्रश्रय दिया जाता है। मुंशी प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासों को निश्चित रूप से सामन्तशाही प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। उनका अधिकांश भाग सामन्तों तथा पूँजीपतियों से ही आबद्ध है। उसके उपकरण तथा आलम्बन भी सामन्त ही हैं। चाहे वे योद्धा हों या विलासी व्यक्ति, चाहे वे भक्त हों अथवा देवता—सबके जीवन-व्यापार, आदर्श और मर्यादाएँ सामन्ती उच्चवर्ग के संस्कारों से ग्रस्त थीं। परन्तु मुंशी प्रेमचन्द के समय से उपन्यासों का युग बदलना आरम्भ हो गया। मुंशी प्रेमचन्द ने सामन्तशाही प्रवृत्तियों के स्थान पर यथार्थ जीवन को अपने उपन्यासों में अपनाया। इसीलिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा, भाव, रहन-सहन, आशा-आक्रोश, सुख-दुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं, तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिलेगा। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक और खोंमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गाँवों से लेकर धारा-सभाओं तक आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।"

जब उपन्यास जन-सामान्य का चित्र प्रस्तुत करने लगा तो जनता की स्वभावतः उसके प्रति रुचि बढ़ने लगी और आज यह दशा है कि उपन्यास ही हिन्दी साहित्य की सर्वप्रिय साहित्य-विधा है। इस युग में उपन्यासों का जितना प्रणयन हो रहा है, अन्य सभी साहित्य-विधाओं का उतना नहीं हो रहा है। यह जीवन के साँचे में ढलता है, जीवन से ही प्रेरणा लेता है और जीवन की भूमि पर ही पनपता है। अतः जीवन के प्रति इसका गहरा उत्तरदायित्व है। इसीलिए Symonds ने लिखा है—

"Novel grows out of life; it is fed by life; it reacts upon life. This being so, it can not disregard its reaponsibilities to life."

इसलिए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उपन्यास आज वर्तमान जीवन का यथातथ्य निरूपण करता है और इसलिए उसके युग के बीतने का कोई प्रश्न ही नहीं है। किसी भी प्रकार की व्यवस्था क्यों न रहे, उपन्यास एक लोकप्रिय साहित्य-विधा के रूप में सदैव प्रचलित रहेगा और दिनोंदिन उन्नति करता जायेगा।

प्रश्न ६०—उपन्यास-रचना के आधार पर उपन्यास के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

उपन्यास के आधुनिक रूप का विकास सबसे पहले पाश्चात्य देशों में ही हुआ था। अतएव उसके तत्त्वों पर भी पाश्चात्य विचारकों ने ही कुछ अधिक शास्त्रीय और स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श किया है। अंग्रेज आलोचक हडसन का मत इस दृष्टि से बहुत स्पष्ट है। उन्होंने उपन्यास के तत्त्वों का वर्णन करते हुए लिखा है, "सभी प्रकार की कथात्मक रचना के प्रमुख तत्त्व कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथनोपकथन, देशकाल, शैली और जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति है।" हडसन का यह मत सभी पाश्चात्य और भारतीय आचार्यों को मान्य रहा है। उसी को आधार मानकर हम यहाँ पर क्रमशः इनकी विवेचना करेंगे।

कथावस्तु—उपन्यास का कथांश और उसका विन्यास कथावस्तु के अन्तर्गत आता है। यह उपन्यास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और इसके बिना उपन्यास की रचना ही सम्भव नहीं है। यह उपन्यास का ढाँचा अथवा उसका शरीर है। जिस प्रकार शरीर की कुछ विशेषताएँ और गुण होते हैं, उसी प्रकार उपन्यास की कथावस्तु के भी कुछ गुण और विशेषताएँ होती हैं।

साधारणतः मौलिकता, रोचकता, घटनाओं का निर्माण-कौशल (वस्तु-विन्यास) और सम्बन्ध-निर्वाह तथा सत्यता और स्वाभाविकता उपन्यास की कथावस्तु के गुण माने जाते हैं। मानव-जीवन की नानाविध समस्याओं की व्याख्या और विश्लेषण, मानव-जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्रण, अपने युग के समाज और जीवन की परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व, जीवन-मूल्यों, आदर्शों और दृष्टिकोणों की व्याख्या और प्रतिष्ठा तथा चरित्र-विश्लेषण आदि बातें किसी उपन्यास की कथावस्तु की विशेषतायें मानी जाती हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास की कथावस्तु की आवश्यकताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "कोई उपन्यास सफल है या नहीं, इस बात की प्रथम

कसौटी यह है कि कहानी कहने वाले ने कहानी ठीक-ठीक सुनाई है या नहीं — आवश्यक बातों को तूल तो नहीं दिया है; जहाँ कहानी मर्मस्पर्शी हो सकती थी वहाँ-वहाँ उसने उचित रीति से सम्हाला है या नहीं, छोटी-छोटी बातों में ही उलझकर तो नहीं रह गया, प्रसंगवश आई हुई घटना का इतना अधिक वर्णन तो नहीं करने लगा जिससे पाठक का जी ही ऊब जाए और सौ बात की एक बात यह कि वह शुरू से अन्त तक सुनने वाले की उत्सुकता जाग्रत रखने में नाकामयाब तो नहीं रहा।''

एक सफल उपन्यास में निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक माना जाता है—

१. मानव-जीवन की नाना-विध समस्याओं की व्याख्या और विश्लेषण।
२. मानव-जीवन की विविध परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व।
३. अपने युग के समाज और जीवन की परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व।
४. जीवन-मूल्यों की व्याख्या और विश्लेषण।
५. मार्मिक प्रसंगों की उद्‌भावना।

कथावस्तु का विकास उपन्यास में किस रूप में होता है, इस दृष्टि से कथा विकास की निम्नलिखित तीन पद्धतियाँ आलोचकों ने स्वीकार की हैं—

१. कथात्मक या वर्णनात्मक पद्धति।
२. संवादात्मक या नाटकीय पद्धति।
३. विश्लेषणात्मक पद्धति।
४. चमत्कार पूर्ण स्मृति विधान (फ्लैश बैक या पूर्ण-दीप्ति-पद्धति।

इन पद्धतियों के सम्बन्ध में एक बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रायः इनके मिले-जुले रूप का ही प्रयोग उपन्यासों में होता है। कभी-कभी किसी एक पद्धति की प्रधानता रहती है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—उपन्यास में कथा का विकास कुछ पात्रों के माध्यम से होता है। कथानक का कोई अर्थ नहीं हो सकता, यदि उसमें कोई पात्र न हो। उपन्यासकार अपने उपन्यास में पात्रों की सृष्टि करता है और उसके साथ ही साथ उनके चरित्र-चित्रण द्वारा मानव-जीवन का चित्रण करता है। जिस प्रकार जीवन में मनुष्य अपने क्रिया-कलापों से जाना जाता है, उसी प्रकार उपन्यास में पात्रों को उनके कार्यों से जाना जाता है। पात्रों की सृष्टि का अर्थ है—एक जगत् का निर्माण, जिसमें कुछ मानव-प्राणी हों। एक प्रकार

से पात्र जीवन की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन हैं—उपन्यास के प्रतिपाद्य का एकमात्र माध्यम।

उपन्यासों में पात्रों के चरित्र-चित्रण की सफलता के लिए उनमें कुछ गुणों की आवश्यकता है। ये गुण हैं—पात्र का कथानक के अनुकूल चरित्र-चित्रण, स्वाभाविकता, सजीवता, सप्राणता और मौलिकता। उपन्यास का कथानक किस प्रकार का हो, उसी प्रकार उसके पात्रों का चरित्र-चित्रण होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि पात्र कथा के अनुकूल हों और उपन्यासकार को पात्रों की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान हो। इसके साथ ही उपन्यास के पात्रों में प्राणवत्ता और स्वाभाविकता तो होनी ही चाहिए।

उपन्यासकार को पात्रों के चरित्र का सम्यक् उद्घाटन करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि उपन्यासकार को मानव-प्रकृति का विस्तृत और व्यापक ज्ञान हो—मनोविज्ञान की आवश्यकता तो है ही।

चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार को व्यक्तित्व की प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिए। कभी-कभी पात्र उपन्यासकार के हाथों से कठपुतली-सा घूमता है—उसकी अपनी सत्ता नहीं रहती। इससे कृत्रिमता आती है। उपन्यासकार को पात्रों के चरित्र-चित्रण में तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। उसके पात्र उसके अपने दृष्टिकोण के परिचायक तो हो सकते हैं, परन्तु वे लेखक के सिद्धान्त के पुतले न होकर हमारे जैसे सजीव, सप्राण, स्वाभाविक, हाड़-मांस के मानव हों, यह कहीं अधिक आवश्यक है। उपन्यास में चरित्र-चित्रण की निम्नलिखित विधियाँ स्वीकार की गयी हैं—

(१) विश्लेषणात्मक या वर्णनात्मक प्रणाली।

(२) अभिनयात्मक, नाटकीय या संवाद-प्रणाली।

(३) मनोवैज्ञानिक पद्धति।

(४) पूर्ववृत्तात्मक पद्धति।

कथनोपकथन अथवा संवाद—पात्रों का वार्त्तालाप कथनोपकथन कहा जाता है। उपन्यास में कथनोपकथन का विशेष महत्त्व है। साधारण जीवन में जिस प्रकार हमारे क्रिया-कलापों के साथ हमारा बोलना भी आवश्यक है, उसी प्रकार उपन्यास में पात्रों के क्रियाकलाप और उपन्यासकार द्वारा पात्रों के वर्णन के अतिरिक्त पात्रों का वार्त्तालाप भी आवश्यक है, क्योंकि वार्त्तालाप द्वारा ही पात्रों में प्राण-प्रतिष्ठा होती है।

उपन्यास में कथनोपकथनों के चार उद्देश्य बताये जाते हैं—

(१) कथा-विकास में सहयोग देना या कथानक को विकसित करना ।

(२) पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायता सम्पादन करना ।

(३) उपन्यासकार के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति करना ।

(४) वातावरण का सर्जन ।

संवादों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संवाद छोटे और चुस्त, व्यंजक और सांकेतिक, आकर्षक और चमत्कारपूर्ण, भावानुरूप, पात्रानुकूल और परिस्थिति के अनुरूप हों । साथ ही उनमें लाक्षणिकता और हास्य-विनोद का समावेश भी अपेक्षित है ।

देशकाल और वातावरण—जब उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र कहा जाता है, तो उसमें मानव का कोई एक चरित्र-पक्ष नहीं, उसका सम्पूर्ण जीवन ही आ जाता है । वास्तव में उपन्यास इसी व्यापक अर्थ में समाज और जन-जीवन की सम्पूर्णता का चित्र है । इस चित्र को स्वाभाविक, सजीव और पूर्ण बनाने के लिए चित्र की सारी रेखाओं, रंगों और साथ ही उसके उभार आदि को स्पष्ट रूप में चित्रित करना पड़ता है । समाज का बाह्य जीवन, उसमें प्रचलित रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास और कुरीतियाँ, रहन-सहन और ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि भी उपन्यास का विषय बन जाती हैं । प्रसंगों के अनुकूल वर्णनों की पूर्णता के लिए मानव-चरित्र के विश्लेषण और उसकी प्रवृत्तियों के उद्‌घाटन के लिए लेखक बाह्य प्रकृति को भी ग्रहण करता है । इस प्रकार बाह्य प्रकृति, पात्रों की परिस्थितियों और आन्तरिक अवस्था तथा समाज के जीवन का चित्रण उपन्यास में वातावरण या देशकाल की योजना के नाम से अभिहित किया जाता है । वातावरण के निम्नलिखित प्रमुख उपादानों का विचार, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, उपन्यास के सम्बन्ध में किया जाता है :

(क) परिस्थिति-योजना—पात्रों की बाह्य परिस्थितियों का चित्रण ।

(ख) आन्तरिक वातावरण—पात्रों की आन्तरिक स्थितियों का परिचय ।

(ग) स्थानीय वातावरण (लोकल कलर) और स्थान-निरूपण ।

(घ) उपन्यास की विषय-वस्तु से सम्बन्धित देशकाल का चित्रण ।

(ङ) प्रकृति-वर्णन (बाह्य प्रकृति का चित्रण) ।

देशकाल और वातावरण के इन उपादानों को मिलाकर परिवेश-मण्डल कहा जाता है।

शैली—उपन्यास को उसकी शैली ही रोचक बनाती है। उत्सुकता, सम्बद्धता जैसे कथानक सम्बन्धी गुण शैली की प्रांजलता और प्रवाहात्मकता के कारण ही जन्म लेते हैं। टी० ई० हल्मे (T. E. Hulme) का कथन है, "All Styles are only means of subduing the reader." अर्थात् "शैली कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के साथ ही पाठक को मोहित करने का साधन भी है।" शैली में विचारों की अभिव्यक्ति के साथ ही क्रम एवं गति का मिश्रण रहता है।

सामान्य रूप से उपन्यासों में निम्नलिखित शैली-प्रकारों का प्रयोग होता है:

(१) **वर्णनात्मक शैली**—इस शैली के उपन्यासों में उपन्यासकार कथा का वर्णन करता है। हिन्दी में ही नहीं, विश्व की सभी भाषाओं के उपन्यासों में इस शैली का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है।

(२) **आत्मकथात्मक शैली**—इस शैली के उपन्यासों में कोई एक पुरुष पात्र या नारी पात्र या एकाधिक पुरुष पात्र या नारी पात्र अपनी कथा स्वयं कहते हैं।

(३) **पत्रात्मक शैली**—इस शैली के उपन्यासकारों में उपन्यास की कथा को पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है। पत्र एक या अधिक पात्रों के हो सकते हैं।

(४) **डायरी शैली**—इस शैली के उपन्यासों में कथा का विकास डायरी के रूप में होता है। पत्रात्मक शैली की भाँति डायरी शैली में भी डायरी एक या अधिक पात्रों की हो सकती है।

(५) **नाटकीय या संवाद शैली**—कथानक में रोचकता और स्वाभाविकता लाने के लिए इस शैली का प्रयोग किया जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्णनात्मक शैली का प्रयोग ही उपन्यास-लेखकों ने अधिक किया है। इसमें कथा की योजना, चरित्र-चित्रण तथा वातावरण-निर्माण में विशेष सरलता रहती है और उपन्यास-लेखक अधिक कलात्मकता से कथा कह सकता है।

उद्देश्य—प्रारम्भ में उपन्यास को मनोरंजन के साधन रूप में ही ग्रहण किया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास उच्चकोटि का मनोरंजन प्रदान करता है। इसलिए आज के व्यस्त युग में उपन्यासों की लोकप्रियता बढ़ ही रही है। तो भी, कोई श्रेष्ठ लेखक केवल मनोरंजन के लक्ष्य को लेकर उपन्यास-रचना नहीं करता। उसका एक निश्चित लक्ष्य या उद्देश्य रहता है।

उपन्यास का लक्ष्य मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना है—यह सर्वमान्य है। मुन्शी प्रेमचन्द ने इस तथ्य को इसी रूप में स्वीकार किया था—"मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है।" इस सम्बन्ध में डा० श्यामसुन्दरदास ने अधिक स्पष्टता से विचार किया है। उनके विचारानुसार, "उपन्यासों में मुख्यतः यही दिखलाया जाता है कि पुरुषों और स्त्रियों के विचार, भाव और सम्बन्ध कैसे हैं, वे किन-किन कारणों अथवा प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कैसे-कैसे कार्य करते हैं, अपने प्रयत्नों में वे किस प्रकार सफल अथवा विफल होते हैं और इन सबके फलस्वरूप उनमें कैसे-कैसे मनोविकार आदि उत्पन्न होते हैं। उपन्यास-लेखक का जीवन के किसी एक अथवा अनेक अंगों के साथ बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसलिए किसी-न-किसी रूप में यह प्रकट करना उसका कर्तव्य हो जाता है कि जीवन के साधारण और असाधारण सभी व्यापारों का उस पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा है। कुछ विशेष सिद्धान्तों अथवा विचारों के प्रतिपादन के उद्देश्य से तो बहुत ही कम उपन्यास लिखे जाते हैं। पर सभी उपन्यासों में कुछ-न-कुछ विशेष विचार अथवा सिद्धान्त आप से आप आ जाते हैं।"

भिन्न-भिन्न उपन्यासों में लेखक के भिन्न-भिन्न उद्देश्य हो सकते हैं—जो अन्ततः जीवन के शाश्वत प्रश्नों का उत्तर ही देते हैं। यों तो किसी समसामयिक समस्या को लेकर भी उपन्यासों की रचना होती है और हो सकती है; परन्तु श्रेष्ठ उपन्यास वे ही हैं जो शाश्वत जीवन-मूल्यों और जीवन-प्रश्नों की व्याख्या करें। अपने युग का प्रभाव प्रत्येक उपन्यास ही नहीं, प्रत्येक कलाकृति पर होता है, परन्तु सामयिकता श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी नहीं है। जन-जीवन और मानव-चरित्र के विश्लेषण के साथ किसी भाव, विचार, सिद्धान्त या जीवन के प्रश्नों के उत्तर की अभिव्यक्ति ही उपन्यास का लक्ष्य है। यह ऐसा

दायित्व है जो प्रत्येक उपन्यासकार को निभाना ही पड़ता है, क्योंकि इसी में साहित्य का शिवत्व निहित है ।

प्रश्न ६१—भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कहानी की परिभाषाएँ देते हुए उसके स्वरूप का विश्लेषणात्मक निर्देश कीजिए ।

कहानी जीवन की एक प्रभावपूर्ण झलक है, रोचक होने के साथ-साथ वह जीवन की चरमानुभूति का संस्पर्श करती है और पाठकों को चमत्कृत कर देती है । अतः इसका साहित्य में विशेष स्थान है । कहानी जीवन को एक ऐसे बिन्दु पर ग्रहण करती है, जहाँ दृष्टि केन्द्रित करने पर समस्त जीवन-रेखा प्रकाशित हो उठती है ।

कहानी की परिभाषाएँ—विभिन्न विद्वानों ने कहानी की विभिन्न रूपों में परिभाषा की है, पर एक बात पर सभी सहमत हैं कि इसमें कहानीकार की रचना-प्रतिभा का समस्त कौशल केन्द्रित होता है । हडसन के अनुसार कहानी में केवल एक ही मूलभाव होता है और उसका विकास तार्किक निष्कर्षों के साथ लक्ष्य की एकनिष्ठता से सरल तथा स्वाभाविक गति से किया जाता है ।

एच० जी० वेल्स के अनुसार कहानी वह फिक्शन है जो अधिक से अधिक बीस मिनट में पढ़ी जाए—

"Any piece of short fiction which can be read in twenty minutes would be a short story."

यह परिभाषा बहुत अस्पष्ट है । कहानी की वर्ण्य-वस्तु को दृष्टिगत रखते हुए चैखोव ने कहानी की निम्नलिखित शब्दों में परिभाषा की है—

"One must write about simple things how Peter Semino vitch married Maria in Rome."

आर० एल० स्टीवेन्सन ने कहानी की परिभाषा इस प्रकार से की है—

"The short story is not a transcript of life but a simplification of some side of life........It presents a single episode treated dramatically and producing on the reader an effect of totality, a unified impression of one situation or experience or event."

एडगर एलन पो ने कहानी की परिभाषा और भी संयत तथा सुगठित रूप में दी है—

"A shory stort is a narrative short enough to be read in a single sitting, written to make an impression on the reader excluding all that dose not forward that impression complete and final in itself."

पो के अनुसार कहानी अत्यन्त संक्षिप्त आकार का वह आख्यान है जो इसलिए लिखा जाता है कि एक ही बैठक में पढ़ा जा सके तथा पाठकों पर अपना भावपूर्ण प्रभाव डाल सके। इसमें प्रभावोत्पादकता हो तथा स्वत: पूर्ण हो।

इन परिभाषाओं की विविधता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कहानी को किसी एक निश्चित स्वरूप में नहीं बाँधा जा सकता। ऊपरी तौर पर उसकी संवेदना के दृष्टिकोण से उसकी परिभाषा की जा सकती है। यह जीवन के किसी एक पक्ष का ऐसा संवेदनात्मक चित्रण है जिसे अनुभूत तो किया जा सकता है, किन्तु शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता।

भारतीय विद्वानों की कहानी-विषयक परिभाषाएँ—भारतीय हिन्दी आचार्यों ने भी कहानी के स्वरूप पर अपने ढंग से विचार किया है—यद्यपि प्रेरणा उन्होंने भी पाश्चात्य विद्वानों से ली है; फिर भी उनकी परिभाषाएँ देशकाल के अनुसार निश्चय ही कुछ परिवर्तन लिये हुए हैं। मुंशी प्रेमचन्द के अनुसार, "कहानी एक ऐसी रचना है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी एक भाव की पुष्टि करते हैं—वह एक ऐसा गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।" साथ ही मुंशी प्रेमचन्द श्रेष्ठ कहानी की विशेषता बतलाते हुए लिखते हैं कि "सबसे उत्तम कहानी वह होती है जो किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो।"

इलाचन्द्र जोशी कहानी की परिभाषा करते हुए लिखते हैं, "जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष से उलटा-सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति को प्रदर्शित करने में ही कहानी की विशेषता है।"

इसी प्रकार चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का कथन है—"घटनात्मक इकहरे

चित्रण का नाम कहानी है और साहित्य के सभी अंगों के समान रस इसका आवश्यक गुण है।"

इन सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि अधिकांश विद्वानों ने कहानी का एकपक्षीय चित्रण किया है। वस्तुतः कहानी का समग्ररूप एक साथ चित्रित हो नहीं सकता। इसलिए उसका स्वरूप कहानी की विशेषताओं के आधार पर भलीभाँति देखा जा सकता है।

कहानी का स्वरूप—कहानी के स्वरूप का निदर्शन करने के लिये उसकी विशेषताओं का विश्लेषणात्मक विवेचन आवश्यक है। संक्षेप में कहानी की निम्नलिखित विशेषताएँ स्वीकार की जा सकती हैं :

(१) लघु आकार—कहानी की सर्वप्रथम विशेषता आकार की लघुता है। लघु आकार के कारण कहानी की शिल्प-विधि सरल हो जाती है। यह आकार इतना होना चाहिए कि दस से बीस मिनट के बीच पूरी कहानी पढ़ी जा सके।

(२) संवेदना की एकता—कहानी का वर्ण्य-विषय जीवन या जगत् की कोई एक घटना, विचार, परिस्थिति या भावना ही होती है। इसके निर्वाह के लिए संवेदना में एकता अथवा केन्द्रीयता का होना आवश्यक है। यही संवेदना की एकता कहानी का प्राण होती है।

(३) प्रभावान्विति—संवेदना की एकता से ही कहानी में प्रभावात्मकता उत्पन्न होती है। कहानी में प्रवेग जितना अधिक होगा, वह उतनी ही उत्तम तथा प्रवाहपूर्ण होती है।

(४) सत्य का आधार—कहानी कपोल-कल्पना-मात्र न होकर जीवन के किसी व्यापक सत्य से प्रेरित होनी चाहिए। सत्यता के कारण ही कहानी में प्राणवत्ता आती है और वह पाठक को प्रभावित करती है; अन्यथा उसकी कोई उपादेयता नहीं होती।

(५) मनोवैज्ञानिकता—कहानी की एक प्रमुख विशेषता मनोवैज्ञानिकता है। इसी से चरित्र और कथानक प्रभावशाली होता है और उसमें स्वाभाविकता आती है। मनोविज्ञान के कारण कहानी का स्वरूप अधिक उपादेय हो जाता है और वह पाठकों पर अपना प्रभाव डालती है।

(६) सक्रियता—कहानी में कहीं ठहराव न होकर सर्वत्र गति होनी चाहिए। इससे कहानी को सक्रियता प्राप्त होती है और इसके लिए कथाकार

कभी तो घात-प्रतिघात से और कभी भावपूर्ण संक्षिप्त संवादों से कहानी को गति देता है।

वस्तुत: कहानी एक लघु तथा तीव्रतम भावों से पूर्ण ऐसी विधा है, जिसका उद्देश्य पाठकों के मन को झकझोरना है। इसलिए इसमें विषयान्तर के लिए कोई स्थान नहीं। कहानी के लिए आजकल यह भी आवश्यक नहीं कि उसमें घटना को स्थान दिया जाये। आज अनेक ऐसी कहानियाँ भी प्रकाश में आ रही हैं जिनमें घटनाओं की अपेक्षा परिस्थितियों का चित्रण होता है। घटना अत्यन्त अमूर्त या सूक्ष्म होती है। इसकी सफलता की कसौटी यही है कि इसमें कहीं भी विश्रृंखलता न आने पाये।

कहानी का कथानक आरम्भ से ही तीव्र संघर्ष से पूर्ण होता है। चरमसीमा पर उसका अन्त हो जाता है। उपन्यास की तरह इसमें अत्यधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं रहती। तीव्र द्वन्द्व की स्थिति ही विकसित होकर कहानी को चरमसीमा की ओर अग्रसर करती है। तभी तो इस प्रकार इसमें जीवन की अत्यन्त प्रभावकारी झलक दिखायी देती है। कहा गया है कि कहानी सतर्कता से नियोजित एक कलात्मक उपलब्धि है। इसका निश्चित लक्ष्य जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को अभिव्यक्त करना होता है।

निष्कर्ष—संक्षेप में कहा जा सकता है कि कहनी सीमाबद्ध नहीं हो सकती। उसका मुख्य लक्षण लघु आकार एवं प्रभावात्मकता है।

प्रश्न ६२—कहानी के प्रमुख तत्त्वों का हिन्दी कहानी-रचना-विधान के आनुसार संक्षेप में विवेचन कीजिए।

कहानी का लक्ष्य चाहे कुछ हो—भाव, विचार या वस्तु के प्रभाव की अभिव्यक्ति के लिए उसमें एक कथा का होना आवश्यक है, जिसके द्वारा प्रभाव की अभिव्यक्त की जाती है। इस कथाभाग को कहानी की 'कथावस्तु' कहते हैं। कतिपय आलोचक इसे 'कथानक' कहने के पक्ष में हैं। कथा का निबन्धन, अर्थात् उसे इस प्रकार सजाना कि इसमें कथांश या इतिवृत्त तर्कसम्मत होकर समग्र सम्बन्ध-योजना का ऐसा रूप ग्रहण कर ले जिससे कथानक के भीतर आए हुए प्रभाव—परिणाम के पूर्व उससे सम्बद्ध कार्य और इस कार्य की सिद्धि में सहायता करने वाले एक या अनेक कारण—सब प्रस्फुटित हो जायें, वस्तु-विन्यास कहा जाता है। कथानक का विवेचन किन्हीं पात्रों के माध्यम से होता है। इन पात्रों का वर्णन कभी लेखक स्वयं करता है, और कभी कथाविकास और चरित्र

चित्रण के लिए उनके वार्त्तालाप का सहारा लेता है, जिसे संवाद या कथनोपकथन कहते हैं कहानी में एक विशिष्ट प्रभाव की सृष्टि के लिए पात्रों की परिस्थिति, उनकी आन्तरिक मनोदशा, बाह्य परिस्थितियाँ और प्रकृति-व्यापारों का वातावरण तथा कथांश से सम्बन्धित देशकाल का चित्रण भी आवश्यक है। इसे 'वातावरण' कहा जाता है। कहानी की रचना-शैली और प्रतिपादन की दृष्टि से भाषा भी एक तत्त्व है। प्रत्येक कहानी की रचना में कोई-न-कोई लक्ष्य या उद्देश्य भी अवश्य निहित रहता है। इस प्रकार कहानी के छह तत्त्व हो जाते हैं—

(१) कथावस्तु
(२) पात्र और चरित्र-चित्रण
(३) संवाद
(४) वातावरण
(५) भाषा-शैली
(६) उद्देश्य

यहाँ कहानी के इन छहों तत्त्वों की विवेचना की जा रही है—

कथावस्तु—यह कहानी का सबसे महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य तत्त्व है। कथावस्तु के दो भाग किये जा सकते हैं—एक कथांश और दूसरा उसका विन्यास। कहानी में कथांश प्रायः संक्षिप्त और सरल होना चाहिए। कहीं-कहीं कहानीकारों ने दुहरे कथानकों के प्रयोग भी किए हैं, पर दुहरा कथानक कहानी के विधान-सौष्ठव में बाधक सिद्ध होता है।

वस्तु का समुचित विन्यास कहानीकार का लक्ष्य होना चाहिए। इस दृष्टि से कहानियों में तीन प्रकार का कथा-विकास देखा जाता है :

(१) कथावस्तु का पूरा विकास, जिसमें कथा का प्रारम्भ, उसका उत्कर्ष और अन्त तीनों का विन्यास होता है। कथा सरल गति से आगे बढ़ती है और क्रमशः विकसित होती है। प्रसाद की 'आँधी' कहानी इसका उत्तम उदाहरण है।

(२) कथा-विकास के दूसरे रूप में प्रारम्भ, उत्कर्ष और अन्त का पूरा विकास न होकर प्रारम्भ से अन्त की ओर एकदम कहानी बढ़ती है।

(३) कथा-विकास का तीसरा रूप वह है, जिसमें कथा के विकास का पर्यवसान चरमसीमा पर ही पहुँचकर, अर्थात् अन्त में ही होता है। यह कथा विकास की चामत्कारिक प्रणाली कही जा सकती है।

समष्टि प्रभाव या प्रभावान्विति—कथानक का लक्ष्य यह होना चाहिए कि कथावस्तु प्रारम्भ से विकसित होकर अन्त में एक समष्टि प्रभाव की सृष्टि-

करे। सारी घटनाएँ सिमिटकर अन्त में मिल जानी चाहिए। यह समष्टि प्रभाव ही कहानी का लक्ष्य है।

घटना-ऐक्य और सम्बन्ध-निर्वाह—कहानी में केवल एक घटना होनी चाहिए और उसमें समाविष्ट घटनाओं की एकता होनी चाहिए। एक परिस्थिति दूसरी परिस्थिति से घनिष्ठता से जुड़ी रहे, यह बहुत आवश्यक है। इसे ही 'एकता और अन्विति' कहा गया है। प्रत्येक दशा में कहानीकार का ध्यान इस बात की ओर विशेष रूप से रहता है कि कहीं घटनाओं की शृंखला टूट न जाये। सम्बन्ध-निर्वाह का यही अर्थ है।

प्रारम्भ और अन्त—उत्तम कहानी का प्रारम्भ आकर्षक और अन्त प्रभावपूर्ण होता है। इन दोनों पर आधुनिक कहानियों में विशेष ध्यान दिया जाता है। एक अंग्रेजी आलोचक के अनुसार, 'कहानी घुड़दौड़ के समान है,' (The story is a horse race)। इसमें सबसे अधिक महत्त्व प्रारम्भ और अन्त का है। प्रारम्भ और अन्त में भी अन्त का महत्त्व अधिक है। डा० जगन्नाथ शर्मा का कथन है—"आदि और अन्त के तारतम्य में अन्त को अधिक महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि मूलभाव के परिपाक का वही केन्द्र बिन्दु है। मध्य की उपेक्षा की जा सकती है, आरम्भ का दौर्बल्य सहन किया जा सकता है, पर अन्त बिगड़ा तो सब डूबा समझना चाहिए।"

शीर्षक—कहानी का शीर्षक कहानी के प्रतिपाद्य विषय, मूलभाव या विचार और कृतिकार की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का परिचायक होता है। इसी दृष्टि से शीर्षक के प्रमुख गुण हैं—प्रतिपाद्य बोधकता, आकर्षण, विषयानुकूलता, निश्चय बोधकता; साथ ही शीर्षक से जिस प्रकार के भी तात्पर्य का बोध होता हो, उसका किसी-न-किसी रूप में कहानी के अंग-विशेष से सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। दूसरे, शीर्षक और कहानी के प्रतिपाद्य विषय का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होना चाहिए। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् मेकानोची ने लिखा है—

"Keep the title in its proper proposition to the nature and interest of the story."

पात्र और चरित्र-चित्रण—कहानी में विषय का प्रतिपादन कुछ पात्रों के माध्यम से होता है। कहानीकार को इनके नामकरण और इनके रूप-चित्रण के साथ चरित्र की विशेषताओं का उद्‌घाटन भी करना होता है। वास्तव में

कथावस्तु और चरित्र, कहानी में अन्योन्याश्रित रहते हैं। इस सम्बन्ध में सोम ओ फाओलेन नामक पाश्चात्य विद्वान् का यह कथन द्रष्टव्य है, "कहानी की रचना-शैली की परिभाषाओं में सबसे सुन्दर परिभाषा यह है कि कहानी के कार्य-व्यापार चरित्रों का उद्घाटन करते हैं और चरित्र अपने को कार्य-रूप में प्रकट करते हैं तथा घटनाओं को ही कार्य-व्यापार कहा जाता है।"

कहानी में चरित्र-चित्रण स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक, यथार्थ और वास्तविक होना चाहिए। यदि कहानी की प्रेरणा का स्रोत कोई विशिष्ट घटना अथवा वातावरण होता है, तो मानव-चरित्र गौण रूप धारण कर लेता है; फिर भी उस घटना अथवा वातावरण को मुखर करने के लिए अथवा उसे प्राणमय बनाने के लिए उसके भीतर मानव की प्रतिष्ठा तो करनी ही होती है। यह मानव हमारे जीवन का, हम जैसा प्राणी होना चाहिए। एक बात यह भी ध्यान देने की है कि प्रत्येक पात्र या चरित्र में कोई-न-कोई आकर्षण एवं प्रकाश का एक बिन्दु अवश्य रहता है। कहानीकार उस प्रकाश-बिन्दु को ग्रहण करता है। इसी बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा गया है, "कहानी जीवन को एक ऐसे बिन्दु पर ग्रहण करती है, जहाँ दृष्टि केन्द्रित करने पर समस्त जीवन-रेखा प्रकाशित हो उठती है।"

कहानी में चरित्र-चित्रण के अनेक साधन अपनाये जाते हैं; जैसे—(१) स्वयं कहानीकार द्वारा वर्णनों के माध्यम से चरित्र-चित्रण, जिसे प्रत्यक्ष प्रणाली कहा जाता है, (२) संकेतों द्वारा, जिसमें कहानीकार स्पष्ट चरित्रोद्घाटन न कर सांकेतिक प्रणाली का आश्रय लेता है, (३) पात्रों के पारस्परिक वार्त्तालाप द्वारा, जिसे नाटकीय प्रणाली कहा गया है और (४) घटना या कार्य-व्यापार द्वारा।

चरित्र-विश्लेषण की भी तीन पद्धतियाँ हैं—

(१) निरपेक्ष विश्लेषण—जिसमें एक पात्र दूसरे पात्र का विश्लेषण करता है।

(२) आत्म-विश्लेषण—जिसमें पात्र स्वयं अपना विश्लेषण करता है।

(३) मानसिक ऊहापोह द्वारा चरित्र-विश्लेषण।

संवाद—संवाद पात्रों की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले, उनका चरित्रोद्घाटन करने वाले, कथा-विकास में सहायता करने वाले और कहानी के

वातावरण एवं प्रभाव की सृष्टि करते वाले होते हैं। संवादों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संवाद छोटे और चुस्त, व्यंजक और सांकेतिक, आकर्षक और चमत्कारपूर्ण, भावानुरूप, पात्रानुकूल और परिस्थिति के अनुरूप होने चाहिए। उनमें लाक्षणिकता और हास्य-विनोद का समावेश भी अपेक्षित है।

वातावरण—कहानी में वातावरण-चित्रण का लक्ष्य स्थानीय विशेषताओं का समावेश और कथात्मक प्रभाव की सृष्टि रहता है। कहानीकार कहीं प्रकृति के रमणीक चित्र उपस्थित करता है, कहीं पात्रों की परिस्थितियों का बाह्य रूप अंकित करता है। पाश्चात्य विद्वानों ने कहानी में वातावरण या स्थानीय चित्रण को विशेष महत्त्व दिया है। ए० एम० ग्लेन नामक विद्वान् का विचार है कि स्थानीय चित्रण पाठक को विशेष रूप से प्रभावित करता है। वातावरण का चित्रण भावों को जाग्रत करने में विशेष सहायक होता है।

कहानी में वातावरण चित्रण के अनेक पक्ष हैं। इसके अन्तर्गत प्रकृति-वर्णन, प्रकृति के वर्णनों द्वारा मानसिक स्थितियों का वैषम्य या साम्य कथन, कहानी के बीच-बीच में बाह्य वातावरण के संकेत और पात्रों की परिस्थितियों का चित्रण आता है। व्यापक अर्थ में परिस्थिति-योजना, प्रकृति-सज्जा और देश-काल-चित्रण—तीनों को वातावरण कहा जाता है।

भाषा-शैली—कहानी सामान्य मानव-जीवन की वस्तु है और उसके बहुत अधिक निकट है। इसलिए कहानी की भाषा-शैली सरस, रोचक और स्वाभाविक होनी चाहिए। वातावरण की अनुकूलता का ध्यान रखना तो आवश्यक ही है। कहानी की भाषा ऐसी हो जो वस्तु, पात्र और चरित्र तथा कहानी के लक्ष्य को भली प्रकार अभिव्यक्त कर सके। सजीवता और व्यावहारिकता उसका सबसे बड़ा गुण है। कहानियों की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग तथा शब्दों की उपयुक्त योजना भी ध्यान देने योग्य है।

कहानी के शैली-तत्त्व के अन्तर्गत इस बात का विचार भी किया जाता है कि कहानी किस प्रकार कही गई है या उसकी अभिव्यक्ति-शैली या रचना-विधान किस प्रकार का है। इस दृष्टि से कहानी की निम्नलिखित शैलियाँ मानी जाती हैं—

(१) आत्म-कथात्मक शैली (२) कथात्मक शैली
(३) संवादात्मक शैली (४) पत्रात्मक शैली
(५) डायरी शैली (६) मिश्रित शैली

उद्देश्य—कहानी का उद्देश्य क्या है, इस प्रश्न का उत्तर अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। आज की कहानी एक सजग साहित्यिक विधा है। इसलिए केवल मनोरंजन ही उसका उद्देश्य नहीं हो सकता। कहानी जीवन-सत्यों का मार्मिक उद्घाटन करती है, चरित्रों पर प्रकाश डालती है और साथ ही आज के मानव-मन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है। व्यंग्य द्वारा समस्याओं पर प्रकाश डालती है और शिवत्व का विधान करती है। पाश्चात्य आलोचक सीमा फाओलेन के शब्दों में कहानी का उद्देश्य इस प्रकार है—"यदि किसी कहानी में मानव-प्रकृति और चरित्र, मानव-मूल्यों, मनुष्य-मनुष्य के शाश्वत सम्बन्धों, भावों और अनुभूतियों तथा उनके विविध रूपों की व्याख्या नहीं की गई है तो उसे आधुनिक अर्थ में कहानी नहीं कहा जा सकता। अतएव मानव-चरित्र का विश्लेषण निश्चित: कहानी के उद्देश्य का लक्ष्य स्वीकार किया जा सकता है। विभिन्न कहानियों में यह उद्देश्य विभिन्न रूपों में देखने को मिलेगा तब भी उसकी एकता इस बात में है कि कहानी का लक्ष्य मानव-मन के विश्लेषण द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना है। यह उद्देश्य जिस कहानी में पूरा हो वह उत्कृष्ट कोटि की कहानी है।"

प्रश्न ६३—उपन्यास और कहानी के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

क्या छोटी कहानी को उपन्यास का लघुरूप अथवा उपन्यास को छोटी कहानी का बृहद्‌रूप माना जा सकता है? अथवा ये दोनों साहित्य की दो विधाएँ हैं? उपन्यास और कहानी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए स्पष्ट कीजिए।

उपन्यास और कहानी के तत्त्वों का अध्ययन करने से दोनों एक ही-सी साहित्य-विधाएँ लगती हैं। दोनों का विकास भी आधुनिक युग की देन है, घटनाक्रम की दृष्टि से भी दोनों एक ही लगती हैं और साथ ही दोनों विधाओं के प्रेरणा-स्रोत भी एक ही हैं। जिस प्रकार उपन्यासकार मानव-जीवन, प्रकृति तथा भौतिक-जगत् की मानव से सम्बन्धित घटनाओं से प्रेरणा लेकर

उपन्यास की सर्जना करता है, उसी प्रकार कहानीकार भी इन्ही दृश्य-पदार्थों तथा मानवीय अनुभूतियों को अपना वर्ण्य-विषय बनाता है। अन्तर आकार का ही दिखाई देता है। उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन की झलक होती है और कहानी में किसी घटना-विशेष की। पर यह भेद भी आज की नवीन कहानी—उपन्यास में समाप्त हो गया है—शैली की विविधता से उपन्यास में भी अब जीवन के किसी पक्ष-विशेष का ही चित्रण होता है। सम्पूर्ण जीवन आज इतना विविधतापूर्ण है कि वह एक ही उपन्यास का विषय नहीं बन सकता। इसीलिए अनेक विद्वान् कहानी को उपन्यास का लघुरूप और उपन्यास को कहानी का बृहद्‌रूप कहते हैं।

यह समानता केवल स्थूलरूप में ही दिखायी देती है सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर आकार की भिन्नता के अतिरिक्त प्रकार की भी, अनेक भिन्नताएं दिखाई देती हैं। न केवल शैली-भेद में ही, अपितु प्रभावान्विति, चरित्र-चित्रण के विकास, व्याख्या और विकास, वातावरण-निर्माण आदि अनेक रूपों में कहानी और उपन्यास में पर्याप्त अन्तर है और इसीलिए कहानी और उपन्यास स्पष्टतः दो स्वतन्त्र विधाएँ हैं।

अब हम संक्षेप में इन दो विधाओं के अन्तर का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

उपन्यास और कहानी का अन्तर—यद्यपि उपन्यास में भी पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है और कहानी में भी—इसके लिए जिस कथानक को आधार बनाया जाता है वह भी प्रायः मानवीय जगत् से लिया गया होता है; फिर भी दृष्टि-भेद से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर निम्नलिखित है :

(१) कहानी में कहानीकार किसी एक रूप के जीवन के एक पहलू को चित्रित करता है, उसकी दृष्टि किसी एक लक्ष्य पर ही होती है जबकि उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन की सामान्य विशेषताओं को ध्यान में रखा जाता है। हडसन का कथन है कि कहानी में किसी एक विचार की प्रधानता होती है; जबकि उपन्यास में विचारों की विविधता तथा व्यापकता भी होती है। कहानी में जीवन की पूर्णता देखने का प्रयास नहीं होता, वह जीवन या जगत् के किसी विशिष्ट सत्य अथवा रहस्य का ही उद्‌घाटन करती है, पर उपन्यास जीवन की सम्पूर्णता का विवेचन करता है। यद्यपि सम्पूर्ण जीवन का समग्र चित्र भी, विविधता के कारण, एक ही उपन्यास में नहीं आ सकता, परन्तु

एक ही पक्ष का सम्पूर्ण विवेचन उसमें पूर्ण होता है। इसीलिए हडसन ने लिखा है, "कहानी में हम पात्रों से केवल कुछ क्षण के लिए ही मिलते हैं। उन्हें कुछ ही सम्बन्धों और परिस्थितियों में देखते हैं, किन्तु उपन्यास इससे भिन्न है। इसमें पात्रों के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी मिलती है।"

इसी तथ्य का स्पष्टीकरण आर० एल० स्टीवेन्सन ने भी किया है—

"The short story is not the transcript of life but a simplification of some side of it."

(२) इसके अतिरिक्त, कहानी और उपन्यास में आकार सम्बन्धी अन्तर तो स्पष्ट ही है। कहानी की श्रेष्ठता यही है कि वह इतनी लम्बी हो कि एक ही बैठक में पूरी पढ़ी जा सके। एच० ई० वेल्स का कहना है—"Any piece of short fiction which can be read in twoenty minutes would be a short story." संक्षिप्तता उसका विशेष गुण है। पर उपन्यास के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है, यद्यपि उपन्यास में भी अनेक स्थानों पर संक्षिप्तता अनिवार्य है। संक्षिप्तता से कसावट आती है, पर यह शैली की ही एक विशेषता है। आकार में उपन्यास चाहे कितना ही बढ़ जाए पर अनावश्यक विस्तार की कहीं भी अपेक्षा नहीं होती। यही कारण है कि कहानी और उपन्यास—दोनों ही दो स्वतन्त्र विधाएँ हैं।

(३) कहानी और उपन्यास में, जहाँ तक प्रभावान्विति का प्रश्न है, पर्याप्त अन्तर है। कहानी में विषय की एकता होती है, इसलिए उसमें प्रभाव की एकता भी आवश्यक है। इस प्रभावैक्य से कहानी में संगठनात्मकता तथा वर्णन-वैचित्र्य भी बना रहता है, पर उपन्यास का प्रभाव उसकी विविधता से तथा घटनाओं से प्रस्तुतीकरण के ढंग से उत्पन्न होता है। यह एकता उपन्यास में नहीं रहती, उसमें विस्तार के कारण वैविध्य होता है। लेकिन इस विविधता में भी एकता होती है। प्रत्येक पृथक् घटना भी अन्त में मुख्य घटना को गति देती हुई दिखाई देती है और प्रत्येक घात-प्रतिघात मुख्य कथा से सम्बद्ध होती है, पर कहानी में मुख्य कथा के अतिरिक्त और कोई कथा नहीं होती। इस सम्बन्ध में एक आलोचक का कथन है—

"A good story differs from the novel chiefly in its essential unity which a novel can not have it."

(४) कल्पना की व्यापकता के आधार पर भी उपन्यास और कहानी में अन्तर किया जा सकता है। उपन्यास में कल्पना का व्यापक प्रयोग हो सकता है; वातावरण-निर्माण में भी और पात्रों की सर्जना में भी। लेकिन कहानी में, क्षेत्र के सीमित होने के कारण, कल्पना का प्रयोग होते हुए भी अत्यधिक नहीं होता, उस पर संयम रखना पड़ता है। अपने व्यापक परिवेश के कारण उपन्यास के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

(५) इसी प्रकार कहानी और उपन्यास—दोनों में ही रचयिता अपनी अनुभूतियों और विचारों को प्रस्तुत करता है, पर प्रस्तुतीकरण का दोनों में पर्याप्त अन्तर है। कहानी में विचारों की अभिव्यक्ति परोक्ष रूप में होती है। उपन्यास में प्रत्यक्ष रूप से हो सकती है। कहानी में रचयिता को अधिक विवेक से कार्य लेना पड़ता है। पात्रों को इतना अवसर नहीं रहता कि वे कहानीकार के विचारों को विशुद्धता से प्रस्तुत कर सकें, अतः उनमें संकेतमात्र होता है; जबकि उपन्यास के पात्र खुलकर उसके विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं।

(६) अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण-कौशल भी कहानी और उपन्यास में अन्तर ला देता है। यद्यपि अनेक कहानियाँ ऐसी होती हैं जिनमें आरम्भ से अन्त तक अन्तर्द्वन्द्व-ही-अन्तर्द्वन्द्व होता है; फिर भी यह अन्तर्द्वन्द्व पात्रों द्वारा अभिव्यक्त न होकर रचयिता द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इसके विपरीत उपन्यास में इसकी अभिव्यक्ति पात्रों द्वारा भी हो सकती है। यह मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व कहानी में सांकेतित होता है, उपन्यास में इसके ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। उसमें यह अन्तर्द्वन्द्व विचार से भी अभिव्यक्त होता है और कार्यकलापों से भी।

(७) यद्यपि अब यह अन्तर समाप्त होता जा रहा है, पर वर्ण्य-भेद के कारण इस पर भी विचार किया जा सकता है कि कहानी विश्लेषणात्मक होती है और उपन्यास इतिवृत्तात्मक। उपन्यास में महाकाव्य की तरह इतिवृत्तात्मक और रसात्मक स्थल पाये जाते हैं परन्तु कहानी के लिए इसकी कोई उपादेयता नहीं है, वहाँ इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा विश्लेषणात्मकता अधिक होती है।

(८) चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी उपन्यास और कहानी में अन्तर देखा जा सकता है। कहानी में चरित्रों की विशेषताएँ लेखक स्वयं बताता है, पर

उपन्यास में एक-दूसरे पात्र भी उनकी विशेषताओं का उद्‌घाटन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त कहानी में पात्रों की बहुलता के लिए कोई स्थान नहीं होता, उपन्यास में अनेक रंग, अवस्था और जाति के पात्र दिखाई देते हैं। कहानी में पात्रों का सम्पूर्ण चरित्र न होकर उसका एक अंग होता है। इसलिए मुंशी प्रेमचन्दजी ने लिखा है—"कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नहीं होती। इसमें हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं होता, उसके चरित्र का एक अंग दिखाना मात्र होता है।"

कहानी और उपत्यास के चरित्र-चित्रण सम्बन्धी अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए हडसन ने भी लिखा है, "कहानी में चरित्र का उद्‌घाटन किया जाता है जबकि उपन्यास में चरित्र को विकसित किया जाता है। यही कारण है कि कहानी में चरित्र-चित्रण की अभिनयात्मक शैली और विश्लेषणात्मक शैली अपनाई जाती है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि कहानी में चरित्र की झलक मात्र होती है, जबकि उपन्यास में उसकी सम्पूर्ण झाँकी।"

(९) कथनोपकथन की दृष्टि से भी इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। उपन्यास में कथनोपकथन लम्बे और विस्तार लिये हुए होते हैं, लम्बी-लम्बी दार्शनिक व्याख्याएँ भी हो सकती हैं, किन्तु कहानी के संवाद रोचक तथा संक्षिप्त होते हैं। आज की नयी कहानी में संवादों का विशेष महत्त्व नहीं रह गया है।

(१०) वातावरण की दृष्टि से भी कहानी और उपन्यास में पर्याप्त असमानता है। उपन्यास-रचयिता के सामने वातावरण के निर्माण का पर्याप्त अवसर रहता है, पर कहानीकार इसका संकेत-भर ही करता है, उसे प्रस्तुत नहीं करता—उसके पास इतना अवकाश नहीं होता कि वह कहानी में वातावरण की पृष्ठभूमि भी दे।

(११) कहानी और उपन्यास में शैली-सम्बन्धी अन्तर भी होता है। कहानी में वर्णन तथा विस्तार की अपेक्षा व्यंजना और ध्वन्यात्मकता को अपनाया जाता है; उपन्यास में विस्तारवादी शैली होती है। इसीलिए कहा जाता है कि "व्यंजकता और प्रतिध्वनि कहानी के जीवन की साँसें हैं।"

निष्कर्ष—संक्षेप में कहा जा सकता है कि कहानी और उपन्यास में तत्त्वों की दृष्टि से भले ही समानता हो, विचार तथा अनुभूति की अभिव्यक्ति में भी समानता हो, पर वर्ण्य-वैविध्य के कारण दोनों में पर्याप्त अन्तर है और यह अन्तर क्षेत्र या आकार का ही नहीं है, प्रकार का भी है। इसीलिए कहानी

को उपन्यास का लघुरूप अथवा उपन्यास को कहानी का वृहद्‌रूप न कहकर स्वतन्त्र विधाएँ ही माना गया है ।

प्रश्न ६४—"आज की कहानी भारतीय परिवेश की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है ।" प्रेमचन्द के बाद की कहानी को आधार बनाकर इस मत का सोदाहरण विवेचन कीजिए ।

कहानी की परिभाषा करते हुए मुन्शी प्रेमचन्द ने लिखा है, "कहानी एक ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विकास—सब उसी एक भाव की पुष्टि करते हैं। वह एक ऐसा गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है ।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है कि उत्तम कहानी वह है जो किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो ।

इलाचन्द्र जोशी ने भी कहानी को जीवन की अभिव्यक्ति माना है । वह लिखते हैं, "जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष से उलटा-सीधा चलता रहता है। इस बड़े चक्र की किसी एक विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति को प्रदर्शित करने में ही कहानी की विशेषता है।"

इन परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान कहानी मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है । मुंशी प्रेमचन्द से पहले की कहानियों में भले ही कल्पना तथा आदर्श का समन्वय रहा हो, किन्तु आज की कहानी भारतीय परिवेश की पूर्ण अभिव्यक्ति है । यशपाल, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', मोहन राकेश, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', राजेन्द्र यादव, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, राजेन्द्रसिंह, कमलेश्वर, सोमावीरा, अमृता प्रीतम आदि की कहानियाँ ऐसी हैं जो मनुष्य के वर्तमान जीवन का विश्लेषण करती हैं ।

वर्तमान कहानियों की अभिव्यक्ति का ढंग भले ही पाश्चात्य कहानी जैसा हो, वर्णन-शैली भले ही पाश्चात्य देशों के साथ निकटतम सम्बन्ध होने से प्राप्त शैली हो, किन्तु उनका परिवेश भारतीय ही है । वर्तमान युग में कहानी में अनेक परिवर्तन हुए हैं । वे जनता की उठती हुई आवाज का प्रतिनिधित्व करती हैं । आज की कहानी केवल कल्पना की क्रीड़ा-स्थली ही नहीं, वरन् वह जीवन की विस्तृत रंगशाला है, जिसमें छोटे-बड़े सभी का प्रवेश अपेक्षित है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि आज की कहानी में भारतीय परिवेश की सशक्त अभिव्यक्ति है।

मुन्शी प्रेमचन्द ने सामाजिक धरातल पर समाज के रूढ़िग्रस्त रीति-रिवाजों और जाति-धर्म आदि का उल्लेख किया था। किन्तु उनका यह यथार्थवाद आदर्शवाद की ओर अधिक उन्मुख है। कहानी में वास्तविक चित्रण होते हुए भी वह उसे ऐसा मोड़ दे देते हैं, जिससे कहानी आदर्शप्रधान हो जाती है। एक प्रकार से कह सकते हैं कि उनकी कहानी इसका विश्लेषण नहीं करती कि 'वस्तु क्या है', अपितु इसका विश्लेषण करती है कि 'वस्तु क्या होनी चाहिए'। परन्तु उनके बाद की कहानी यथार्थवाद से अत्यधिक प्रभावित है। भारतीय जीवन में घटित होने वाले प्रत्येक सत्य को कहानीकार ने अपनी कहानी का माध्यम बनाया है। आज की कहानी में पूँजीपतियों का भी चित्रण है, साहूकारों का भी है और मन्त्रियों का भी है और इसके विपरीत मजदूरों और किसानों का वर्णन भी है। साथ ही मध्यवर्गीय और सरकारी व गैर सरकारी कार्यालयों में काम करने वाले लिपिकों आदि की प्रवृत्तियों का भी आज की कहानी में जमघट-सा लगा हुआ है।

आज भारतीय जीवन अत्यन्त विशृंखलतापूर्ण हो गया है। आराम की अपेक्षा मनुष्य दिन-रात मशीन की तरह काम में जुटा रहता है; फिर भी सबके पेट भर नहीं पाते। कुण्ठा, संत्रास तथा निराशा आज के जीवन का अन्तिम और अनिवार्य अंग बन गयी हैं। आज का मनुष्य खुले खेतों और खलिहानों में उन्मुक्त विचरण करने की अपेक्षा कारखानों की चिमनियों से निकलते धुएँ के नीचे फैले विस्तृत नगरों के दमघोंट वातावरण में एक कमरे में बन्द रहता है। उसका जीवन अत्यन्त सीमित और संकुचित हो गया है। उसके चारों ओर अपरिचित चेहरे ही दिखाई देते हैं, जिस पर एक तटस्थ उपेक्षा ही दिखलायी पड़ती है। मनुष्य का एक-दूसरे के प्रति लगाव समाप्त हो गया है। वह केवल अपने में जीवित है और अपने लिए ही जीवित है। संयुक्त परिवार-प्रथा नौकरी के कारण समाप्त हो गयी है और मनुष्य अकेला रहता है और अकेले सुख-दुख भोगता है। आज की कहानी में मनुष्य का यह जीवन विस्तृत रूप में चित्रित हो रहा है।

यशपाल की कहानियाँ आर्थिक विषमताओं का चित्रण कर शोषितवर्ग के प्रति करुणा का भाव जाग्रत करती हैं। इनकी कहानियों में यथार्थ का सुन्दर

चित्रण हुआ है। जैनेन्द्र मनोवैज्ञानिक चित्रण के कुशल चितेरे हैं। मानव-मन के उद्वेलन और द्वन्द्व का उन्होंने सूक्ष्म चित्रण किया है। उन्होंने 'अश्क' की कहानियों में सामाजिक यथार्थ का सुन्दर चित्रण हुआ है। उन्होंने गरीबों तथा शोषितों पर अपनी कलम चलाई है। इनकी कहानियों के भावों का रूप इनकी कहानी 'कांकड़ा का तेली' में देखा जा सकता है। इसमें दरिद्रवर्ग के एक व्यक्ति मौलू का यथार्थ तथा प्रभावकारी वर्णन किया गया है जो पाठकों के मन पर गहरा प्रभाव डालता है। इस कहानी में गाँवों की सड़कों की दुर्दशा का भी सजीव चित्रण किया गया है। उदाहरण के लिए एक अंश द्रष्टव्य है—

"ईंट तो ईंट किसी कंकर तक का वहाँ निशान न मिलता था। इसलिए किसी विटप के तने पर रखकर ढेले से गाड़ने के बावजूद जब मेख बार-बार बाहर निकल आती थी और एड़ी का घाव बढ़ता जाता था जिससे उसके लिए चलना दूभर हो जाता था तो आखिर तंग आकर लहराँ ने जूते हाथ में उठा लिये। धूल धधकती राख की भाँति जल रही थी और प्रायः गर्द में टखनों तक पाँव धँस जाते तो समस्त शरीर में जलन की एक लहर दौड़ जाती थी, किन्तु मेख की चुभन से टीस की जो लहर दौड़ती थी, वह शायद इस लहर से अधिक कष्टदायक थी, इसलिए वह चली जा रही थी, किन्तु फिर भी वह सबसे पीछे थी।"

इस प्रकार विष्णु प्रभाकर की कहानी 'गृहस्थी' भारतीय नारी-जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। मोहन राकेश वर्तमान भारतीय परिवेश की सशक्त अभिव्यक्ति करते हैं। इनकी कहानियों से मध्यवर्गीय नौकरी-पेशेवर्ग को प्रवृत्तियों का स्पष्ट परिचय मिलता है। 'परमात्मा का कुत्ता' इनकी सशक्त रचना है। इसमें उन्होंने आजकल के दफ्तरों में फैले भ्रष्टाचार, रिश्वत और "लालफीताशाही का यथार्थ चित्रण किया है; यथा—"इन दफ्तरों में दौड़ो, चक्कर लगाओ, खुशामद करो और रुपया भेंट करो, तब भी काम बनने की कोई आशा नहीं होती।"

मन्नू भण्डारी की कहानी भी भारतीय परिवेश की सशक्त अभिव्यक्ति है। इनकी प्रसिद्ध कहानी 'सजा' में कानून के अन्धेपन का चित्रण किया गया है। कानून की चपेट में आकर इन्सान बेगुनाह होते हुए भी गुनहगार सिद्ध हो जाता है।

निष्कर्ष—कहानियों के वर्तमान स्वरूप में तो भारतीय जीवन और भी सशक्त रूप में स्थान पा रहा है। कृष्णचन्दर, सोमावीरा, कमलेश्वर, अमृता प्रीतम, राजेन्द्रसिंह बेदी गिरिराजकिशोर आदि कलाकार मानव की कुण्ठा और निराशा का सुन्दर चित्रण करते हैं। मनुष्य आजकल मशीन बन गया है, उसकी सभी भावनाएँ मर गयी हैं, उसका एक ही ध्येय रह गया है कि समाज में जिया कैसे जाय--जीवित रहने की समस्या ही उसकी सबसे विकट समस्या है और आज का कहानीकार इसी की अभिव्यक्ति कर रहा है। इसलिए यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि आज की कहानी भारतीय परिवेश की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। हिन्दी की कोई और विधा इस दिशा में अपना योगदान इतना अधिक नहीं दे रही, जितना कि कहानी-विधा।

प्रश्न ६५—नाटकों का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए उनका वर्गीकरण कीजिए।

अथवा

समस्या-नाटक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

अरस्तू ने सभी कलाओं को अनुकरण माना है। मनुष्य का स्वभाव ही अनुकरणप्रिय होता है। बाल्यावस्था में दूसरों का अनुकरण करके ही वह बड़ा होता है और बाद में भी दूसरों के अनुकरण से स्वयं को बनाता है। अनुकरण के द्वारा ही समाज में स्थिरता आती है। इसलिए उसके अनुकरण का प्रतीक नाटक मानव-जीवन से अभिन्न है, इसमें अनुकरण की अभिव्यक्ति की भावना रहती है।

नाटक की उत्पत्ति—पश्चिम में, नाटक, जिसे ड्रामा (Drama) कहते हैं, की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। यह निर्विवाद है कि इसका विकास यूनान में हुआ और बाद में सर्वत्र फैला। ग्रीक में नाटक सक्रिया का वाचक समझा जाता है। अनेक विद्वान् इससे सहमत हैं कि नाटक की उत्पत्ति आरम्भ में धर्म, जादू-टोना और धार्मिक कर्मकाण्डों से हुई है। ग्रीस में ड्राइनोसिस देवता के समक्ष होने वाले उत्सवों व धार्मिक कर्मकाण्डों से इसका उद्‌भव हुआ तो ब्रिटेन में ईस्टर के समारोहों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इसका जन्म हुआ।

प्रो० कार्नो और हिलेब्रा के अनुसार नाटक की उत्पत्ति लौकिक स्वाँगों से हुई है। प्राचीन लौकिक जीवन का उल्लास और क्रीड़ा ही नाटकों की उत्पत्ति का कारण है।

डा० पिशले के अनुसार नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के खेल से हुई है, जैसे कठपुतलियाँ किसी एक सूत्रधार द्वारा संचालित होती हैं, उसी प्रकार नाटक के पात्र भी सूत्रधार द्वारा संचालित होते हैं। अन्तर यही है कि कठपुतलियाँ निर्जीव होती हैं, जबकि पात्र सजीव—यद्यपि बोलते भी वे सूत्रधार की इच्छा से ही हैं।

डा० रिजो मृतक वीरों की पूजा के आधार पर नाटकों का आविर्भाव मानते हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक जाति अपने दिवंगत महान् योद्धा वीरों की समृति को स्थिर रखने के लिए उनके वीरतापूर्ण कार्यों का अभिनयात्मक प्रदर्शन करती है। इसी प्रदर्शन का परिष्कृत रूप नाटक के रूप में धीरे-धीरे विकसित हो गया है।

इन सब मतों से स्पष्ट है कि नाटक में अनुकरण की भावना ही मूलतः होती है। इसीलिए डा० रघुवंश ने लिखा है, "नाटक की उत्पत्ति मानव-जीवन की क्रीड़ात्मक प्रवृत्ति से सम्बन्धित है और यह क्रीड़ात्मकता शारीरिक और मानसिक दोनों रूपों में समझी जा सकती है।" इन्हीं क्रीड़ाओं का सम्बन्ध अनुकरण से जोड़ते हुए स्पेंसर लिखते हैं, "अपने कार्यों का अनुकरण अथवा अपने से बड़ों के अनुकरणशील संचय के प्रवाह को ही सूचित करता है। इस प्रकार मानसिक अनुकरण में कला की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।

वस्तुतः नृत्य और नाटक में अभिनेता अपनी भावना की अनुकरणात्मक क्रीड़ा द्वारा सुख का अनुभव करता है और दर्शक भी उसकी अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करके सुख प्राप्त करता है और इस अनुभव के लिए आवश्यकता पड़ती है कल्पना की। यह कल्पना लेखक, निर्देशक और अभिनेताओं के लिए ही आवश्यक नहीं है, अपितु इसकी आवश्यकता सहृदय दर्शकों के लिए भी है। बोल्टन लिखते हैं—

"Drama, at its, best, is an exercise of the imagination not only for writer, producer and actors but also for the audience."

इस सम्बन्ध में डा० शान्तिस्वरूप गुप्त का कथन है, "नाटककार कल्पना द्वारा पात्रों को विशिष्ट परिस्थितियों में रखकर हमें नए जीवनानुभव प्रदान करता है, अभिनेता कल्पना द्वारा थोड़े समय के लिए अनुकार्य की आत्मा में प्रवेश कर अपने अनुभव-क्षेत्र का विस्तार करता है और दर्शक कल्पना द्वारा स्वयं को नए अनुभवों के लिए मुक्त छोड़ काल्पनिक पात्रों के जीवन में सहभागी बनता है।"

वस्तुतः मानव-जीवन अत्यन्त सीमित और संकुचित है। नाटककार इन अनुभवों को विस्तार प्रदान करता है और इसी कारण दर्शक को उससे संतोष प्राप्त होता है। इस प्रकार नाटक मानवीय इच्छाओं की ही सफल तथा प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना है जो अनुकरण के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है। इससे उसे कलात्मक परितोष तो प्राप्त होता ही है।

नाटक के आधार—इस विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक का आधार अनुकरण है। पर कोरा अनुकरण ही किसी पदार्थ को अभिव्यक्ति नहीं देता, उसके लिए वासना की भी आवश्यकता है। इसीलिए डब्ल्यू० आर्चर नाटक के दो आधार मानते हैं—अनुकरण और वासना। समस्त साहित्य का विकास और इसलिए नाटक का विकास वासना के भावोद्रेक से तथा अनुकरण के यथार्थ सामाजिक चित्रण से हुआ है। नाटक अपने विकास में मानसिक और सामाजिक—दोनों ही आधारों को ग्रहण करता है।

नाटक का स्वरूप—ह्यूगो नाटक के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं, "मैं समझता हूँ कि नाटक को दर्पण कहा गया है जिसमें प्रकृति प्रतिबिम्बित होती है; परन्तु यदि यह साधारण, सीधा-सादा, चमकीला दर्पण मात्र है, तो केवल साधारण चित्र उपस्थित कर सकेगा—एक रूप प्रकृत परन्तु रंगहीन। यह बहुत प्रसिद्ध है कि रंग और प्रकाश साधारण चमक में महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसीलिए नाटक को केन्द्रित करने वाला दर्पण होना चाहिए, जो उन रंगीन रश्मियों को निर्बल न करे, एकत्र करे जिससे दीपशिखा और भी प्रज्वलित हो जाय—ऐसा कार्य करने वाला नाटक ही, नाटक कहलाने योग्य हो सकता है।"

इस प्रकार ह्यूगो रचनात्मक पक्ष के लिए कलात्मकता की प्रधानता मानते हैं। परन्तु उन्होंने अभिनयात्मक प्रदर्शन और जनता की रसात्मक प्रभावशीलता की पूर्ण उपेक्षा कर दी है। पर इन दोनों का डा० निकलसन ने

समावेश किया है। वह लिखते हैं—"नाटक जीवन की अभिव्यंजना-कला है, जो इस प्रकार की हो कि अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सके और साथ ही उनके शब्दों को सुनने के लिए दर्शकों में अभिरुचि उत्पन्न कर सके।"

समग्रतः नाटक अनुकरण की एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जो अपने कलात्मक उत्कर्ष के कारण तथा सहज स्वाभाविक चित्रण के कारण दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

नाटक के भेद—नाटक के अन्त की दृष्टि से उसके नीचे दिये गए तीन भेद किए जा सकते हैं—

(१) सुखान्त—जिसका अन्त सुखमय हो।

(२) दुःखान्त—जिसका अन्त दुःखमय हो।

(३) प्रसादान्त—जिसका अन्त न सुखमय हो और न दुःखमय, अपितु जिस ईप्सित फल के लिए नाटक की रचना हुई हो, उसकी पूर्ति हो।

प्रथम प्रकार के नाटकों को कामदी और दूसरे प्रकार के नाटकों को त्रासदी भी कहते हैं। पर यह वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। विषय तथा शैली के आधार पर भी नाटकों के वर्गीकरण किये गए हैं, अतः नाटकों के वर्गीकरण में अन्त पर अधिक ध्यान न देकर सम्पूर्ण कृति में छाये वातावरण या उसके अन्तिम सम्मिलित प्रभाव को ही दृष्टि में रखना चाहिए। इसी आधार पर हम नाटकों के निम्न भेद कर सकते हैं।

(१) **त्रासदी** (Tragedy)—त्रासदी में जीवन का गम्भीर विवेचन होता है। इसकी घटनाएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। इसमें संघर्ष भी तीव्र और महत्त्वपूर्ण होता है, अनेक कष्टपूर्ण स्थितियों का चित्रण पाठक के मन में करुणा और भय का भाव जाग्रत कर देता है। इसमें तनावपूर्ण स्थिति आद्यन्त बनी रहती है। इसकी शैली, उदात्त, गरिमामय और व्याख्यामय होती है। प्राचीन समय में इसके पात्र प्रायः कुलीन व्यक्ति ही हुआ करते थे, किन्तु अब इसमें सामान्य व्यक्तियों की विपदाओं का चित्रण भी गम्भीरता के साथ होता है। त्रासदी का प्रभाव जीवन में व्याप्त क्लेश, पीड़ा और व्यथा के रूप में प्रेक्षक पर पड़ता है। इससे मानव-चरित्र की दृढ़ता, स्थैर्य और सहिष्णुता का भाव उद्दीप्त हो उठता है।

त्रासदी को चार मुख्य प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—(१) मर्यादावादी या संस्कृत त्रासदी (Classical Tragedy), (२) स्वच्छन्दावादी

त्रासदी (Romantic Tragedy), (३) मिश्र त्रासदी (Mixed or Classical-Romantic Tragedy), (४) यथार्थवादी त्रासदी (Realistic Tragedy)।

(२) **भाव-प्रधान नाटक** (Mellodrama)—यह त्रासदी का ही एक रूप है। इसके लिए दुखान्त होना आवश्यक नहीं है, परन्तु प्रायः यह भी दुःखान्त ही होता है। इसमें भयंकर और दुखद घटनाओं तथा वातावरण को चित्रित किया जाता है। चीखते पागल, लाशों के बड़े-बड़े ढेर आदि के वर्णनों से वातावरण उत्तेजनापूर्ण बना रहता है। इसके कथानक, पात्र, संवाद सभी में असामान्यता होती है। इससे इसकी मनोवैज्ञानिकता प्रायः समाप्त हो जाती है। जैकोब का 'The monkey's paw' एक सफल मैलोड्रामा है।

(३) **हीरोइक ड्रामा**—हीरोइक ड्रामा का विषय प्रेम अथवा साहस होता था। इनकी शैली में अलंकार और आडम्बर प्रचुर मात्रा में होते थे। प्रासंगिक कथानक अश्लील और असंगत होते थे। इङ्गलैंड में इस प्रकार के नाटक ड्राइडन के युग में अधिक लिखे गये थे, किन्तु आजकल ऐसे नाटकों की रचना नहीं होती।

(४) **कामदी** (Comedy)—कामदी का स्वर गम्भीर नहीं होता, वह सुखान्त या प्रसादान्त होता है। जीवन की सामान्य घटनाओं द्वारा यह प्रायः मनोरंजन के लिए हास्य-व्यंग्य का आयोजन ही करता है। इसकी भाषा-शैली भी उदात्त नहीं होती। इसमें जो संघर्ष होता है, वह क्रमशः बढ़ने के स्थान पर क्षीण होता जाता है।

कामदी के अनेक भेद किये जाते हैं। अंग्रेजी में ही इसके नाम हैं—

(i) Comedy of Errors
(ii) Comedy of Manners
(iii) Sentimental Comedy
(iv) Comedy of Character or Humours
(v) Low Conced or Farce

(५) **विचार-प्रधान नाटक** (The Drama of Ideas)—विचार-प्रधान नाटक में किसी समस्या का हल खोजने के स्थान पर उसका स्वरूप प्रस्तुत कर छोड़ दिया जाता है। इसका लक्ष्य बौद्धिक आनन्द प्रदान करना होता है और वह हमारे हृदय अथवा भावों को कम स्पर्श करता है। वह प्रेक्षकों को

चिन्तन के लिए बाध्य करता है। समस्या का समाधान खोजने की नहीं, समस्या को समझने की वृत्ति ही इसकी विशेषता है। बर्नार्ड शॉ का 'Man and Super man' या 'The Apple cart' इसी कोटि के नाटक हैं।

(६) **शिक्षाप्रद या प्रचारात्मक नाटक** (Didactic or Propaganda Play)—इसमें नाटककार का प्रधान लक्ष्य दर्शकों के मन पर कोई प्रभाव अंकित करना अथवा किसी विचार को उनके मस्तिष्क पर जमाना होता है। प्रायः यह समझा जाता है कि उपदेश-प्रधान या प्रचारात्मक नाटकों में प्रचार की अतिशयता के कारण कलात्मक तत्त्व विनष्ट हो जाता है। आज भी 'सुधार' की भावना को लेकर ऐसे नाटकों की रचना होती है। राजनीतिक-वादों के प्रचार के लिए अथवा विद्यालयों में नैतिक शिक्षा-प्रसार के लिए इस प्रकार के नाटक विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं। गर्ल्सवादी का 'Justice' नाटक इसी प्रकार का है।

(७) **ऐतिहासिक नाटक** (Historical Drama)—यह विभाजन विषय-वस्तु के आधार पर किया गया है, क्योंकि इसमें कामदी और त्रासदी दोनों प्रकार की रचनाएँ होती हैं। इसका विषय इतिहास या जीवनी पर आधारित होता है। इसके द्वारा लेखक वर्तमान समस्याओं का वर्णन करता है और आलोचना भी करता है या राष्ट्र को उद्‌बुद्ध कर सकता है। ऐतिहासिक कथानक का उपयोग नाटक में तीव्र भावावेग, सार्वभौमिकता, काव्यात्मक भाषा और आकर्षक दृश्यावली लाने के लिए भी किया जा सकता है।

(८) **ट्रैजी-कामेडी (दुःख-सुखान्त)**—यद्यपि प्रत्येक नाटक में त्रासद और कामद प्रभावों का मिश्रण होता है, पर इस नाटक में यह मिश्रण प्रचुर मात्रा में होता है। जीवन में सुख और दुःख जुड़े होते हैं। दुख के बाद सुख और सुख के बाद दुख—यह क्रम निरन्तर चलता रहता है और नाटक में भी ऐसा ही चित्रण होता है। आजकल मानव-जीवन सुख-दुख में जकड़ा हुआ है, अतः ऐसे नाटक आजकल बहुत लिखे जा रहे हैं। टी० एस० इलियट का नाटक 'The Cocktail party' यद्यपि प्रमुख रूप से कामदी है, पर उसकी नायिका सीलिया का बलिदान उस नाटक को ट्रैजी-कामेडी बना देता है।

(९) **प्रतीकात्मक नाटक** (Symbolic Drama)—इसके पात्र मानव न होकर विचारों और भावों के प्रतिनिधि होते हैं। इनके द्वारा मानव-मन की आन्तरिक भावनाओं, संघर्षों या भावावेगों का प्रतीकों के माध्यम से चित्रण

किया जाता है। संस्कृत और हिन्दी में ऐसे नाटकों की परम्परा आरम्भ से ही रही है। संस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय' और हिन्दी में प्रसाद की 'कामना' तथा पंत की अनेक रचनायें इसी प्रकार की हैं।

(१०) **समस्या-नाटक** (Problem Plays)—इसमें सामाजिक या नैतिक समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि लोग उस पर सोचें और उसका समाधान खोजने की चेष्टा करें। इसका स्वर गम्भीर और दुःखपूर्ण होता है, क्योंकि उसमें जीवन की किसी दुःखद समस्या अथवा स्थिति का वर्णन होता है। समस्या कैसी भी हो, पर उसके प्रस्तुत करने का ढंग तथा उसके समाधान का मार्ग प्रशस्त करना ही समस्यामूलक नाटककार का कार्य है। यह समस्या का यथार्थ रूप सामने रख देता है, उसके रूपों का वर्णन कर देता है और समस्या की आगामी सम्भावनाओं को प्रस्तुत कर देता है। वह समस्या का निदान नहीं देता, समस्या की भयंकरता तथा दुष्परिणामों की ओर संकेत अवश्य कर देता है। समस्यामूलक नाटककार पाठकों को सोचने-विचारने के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है। उसकी गम्भीर तथा विचार-प्रधान भाषा पाठकों की बुद्धि को प्रबुद्ध करती है और जीवन को उन्नत बनाने के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त करती है। यह आज की सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य-विधा है।

समस्या-नाटकों की विशेषताएँ हैं—(१) इन समस्या-नाटकों में किसी एक समस्या को उठाया जाता है और गम्भीर भाषा का प्रयोग किया जाता है, (२) पात्रों में उच्छृङ्खलता की अपेक्षा गम्भीरता होती है और (३) इसका उद्देश्य समाज के दोषों का निदर्शन और उनका निराकरण करना होता है। इसका कार्य नाटक में असम्भव घटनाओं की अपेक्षा स्वाभाविकता लाना होता है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त नृत्य-नाटक, भाव-नाटक, रेडियो-नाटक आदि की चर्चा भी अंग्रेजी-नाटक-साहित्य में होती है।

प्रश्न ६६—नाटकीय तत्त्वों की समीक्षा कीजिए।

पाश्चात्य देशों में यूनान सबसे पहला देश है, जिसमें नाट्यकला पर सूक्ष्मता से विचार किया गया था। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने अपने 'पोयटिक्स' नामक ग्रन्थ में नाट्यकला का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। उसने नाटक दो प्रकार के माने हैं—ट्रेजेडी और कॉमेडी। इन दोनों के उसने

पृथक्-पृथक् सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, जिन पर आगे चलकर विस्तार से विवेचन हुआ। आजकल अंग्रेजी नाट्यशास्त्र में जिन तत्त्वों का विवेचन मिलता है, उनके आधार ये ही नाट्य-सिद्धान्त हैं। उन सब सिद्धान्तों को प्रकाश में रखकर वर्तमान नाट्याचार्यों ने पाश्चात्य नाटक के निम्नलिखित छह तत्त्व बतलाए हैं—

(१) कथावस्तु (Plot)
(२) चरित्र-चित्रण (Characterisation)
(३) संवाद अथवा कथनोपकथन (Dialogue)
(४) देशकाल-वातावरण (Atmosphere)
(५) शैली (Style)
(६) उद्देश्य (Aim or Purpose)

यहाँ संक्षेप में इनका विवेचन प्रस्तुत है।

कथावस्तु—अरस्तू ने कथावस्तु को नाटक में चरित्र-चित्रण से अधिक महत्त्व दिया है। कारण, वस्तु नाटक की आधारभूमि है। इसी पर रचना का भव्य प्रासाद निर्मित होता है। नाटक में कथावस्तु दो प्रकार की मानी जाती है—मुख्यकथा (Main Plot) और गौणकथा (Sub-Plot)। मुख्य कथा का सम्बन्ध नाटक के मुख्य पात्र से होता है। इस मुख्य कथावस्तु से सम्बन्धित और प्रसंगानुकूल सहायता पहुँचाने वाली कथा गौण अथवा प्रासंगिक कथा कहलाती है। नाटक में दोनों ही प्रकार की कथाएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं। अरस्तू ने नाटक की कथावस्तु को मुख्य और गौण के स्थान पर विभाजित न करके सरल और जटिल रूप में विभाजित किया है। सरल कथावस्तु का घटना-चक्र सीधा और इकहरा होता है। इसके विपरीत जटिल कथावस्तु में वस्तु का क्रम टेढ़ा, विपर्यस्त और दुहरा होता है। इतिवृत्त के मूलस्रोत की दृष्टि से उन्होंने नाटक की कथावस्तु को तीन प्रकार का माना है—(अ) दन्त-कथामूलक, (आ) कल्पनामूलक और (इ) इतिहासमूलक। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का कथन द्रष्टव्य है, "अरस्तू की अपेक्षा भारतीय मनीषियों की इतिहास-विषयक धारणा अधिक व्यापक और लचीली थी, इसलिए उन्होंने इतिहास का व्यापक रूप में ही प्रयोग किया।"

आधुनिक नाट्याचार्यों ने, जिनमें हडसन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, नाटकीय कथावस्तु का विन्यास छह अंगों में माना है—(१) प्रस्तावना

(Exposition), (२) प्रारम्भिक घटना (Initial Incident), (३) विकासोन्मुख क्रिया व्यापार (Rising Action), (४) चरमसीमा (Crisis), (५) निगति (Denonment) और (६) समाप्ति (Catastrophe).

'प्रस्तावना' में कार्य की रूपरेखा का संकेत किया जाता है। नाटक की प्रमुख समस्या भी अपने आवृत्त रूप में व्यंजित होती है। कथानक का वास्तविक आरम्भ 'प्रारम्भिक घटना' से होता है। क्रमश: 'प्रारम्भिक घटना का विकास' होने लगता है और अपने पूर्ण विकास पर पहुँचकर नाटकीय संघर्ष 'चरमसीमा' पर पहुँच जाता है। यहाँ परस्पर विरोधी स्थितियों में सबसे अधिक तनाव रहता है। परन्तु यहीं एक पक्ष प्रबल होता है और फल-प्राप्ति की आशा उसके साथ जुड़ जाती है। इससे संघर्ष में शिथिलता आती है। इसे ही उतार या 'निगति' की अवस्था कहते हैं। अन्त में, नायक को फल की प्राप्ति होती है। इसे कथा का परिणाम या 'समाप्ति' कहा जाता है। यह परिणाम अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। साधारणत: 'केटेस्ट्रोफि' शब्द से बुरा परिणाम ही सूचित होता है।

अरस्तू ने कथावस्तु के सुविन्यास के लिए संकलन-त्रय को भी विशेष महत्त्व दिया है। संकलन त्रय से तात्पर्य है:

१. समय की एकता (Unity of Time)

२. स्थान की एकता (Unity of Place)

३. घटना की एकता (Unity of Action)

समय की एकता का तात्पर्य यह है कि नाटक में उतने समय की घटनाओं को ही स्थान दिया जाय, जितने समय में उनका अभिनय किया जा रहा है। स्थान की एकता से अभिप्राय है—नाटक के अभिनय के समय में सम्यक् गन्तव्य का निर्वाह। स्थान का ऐसा परिवर्तन नहीं होना चाहिए जो उतने ही समय में सम्भव न हो। घटना अथवा क्रिया-व्यापार की एकता का तात्पर्य है कि मुख्य क्रिया-व्यापार से असम्बद्ध कोई क्रिया-व्यापार नाटक में न आने पावे।

आजकल के नाटकों में संकलन-त्रय का पूरा-पूरा पालन न सम्भव ही है और न वह किया ही जा रहा है। आज के नाटकों की व्यापकता को दृष्टि में रखते हुए इन पर अधिक जोर देना उचित भी नहीं प्रतीत होता है।

चरित्र-चित्रण—नाटक में वस्तु के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान नायक तथा उससे सम्बद्ध दूसरे पात्रों के चरित्र-चित्रण का है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार नायक को विख्यात्, समृद्ध और गुणसम्पन्न होना चाहिए। अरस्तू ने नायक में आदर्शत्व का समावेश आवश्यक माना है। डा० नगेन्द्र ने अरस्तू की चरित्र-विषयक धारणा को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "एक तो इससे यह स्पष्ट है कि भाग्य-परिवर्तन के अंकन में किसी सत्पात्र का सम्पत्ति में पतन न दिखाया जाये—इससे न तो करुणा की उद्बुद्धि होगी और न त्रास की, इससे तो हमें आघात ही पहुँचेगा। साथ ही उसमें किसी दुष्ट पात्र की विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण नहीं रहना चाहिए, क्योंकि त्रासदी की आत्मा की इससे प्रतिकूल और कोई स्थिति नहीं हो सकती। इसमें त्रासदी का एक भी गुण विद्यमान नहीं है। इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास की उद्बुद्धि ही। किसी खल पात्र का पतन दिखाना भी संगत नहीं है—इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा, परन्तु करुणा या त्रास का उद्बोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से ही जाग्रत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से। अब इन दो सीमान्तों के बीच चरित्र रह जाता है—ऐसा व्यक्ति जो अत्यन्त सच्चरित्र और न्यायपरायण तो नहीं है, फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नहीं, वरन् अपनी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है, वह व्यक्ति अत्यन्त विख्यात एवं समृद्ध होना चाहिए।" इस प्रकार पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में नायक का विख्यात व्यक्ति होना स्वीकार किया गया है।

नायक की ऐसी कल्पना अब स्वीकार्य नहीं है। आजकल नाटक का नायक सामान्य व्यक्ति भी हो सकता है। वह प्रत्येक स्थिति में अभिजात वर्ग का नहीं हो सकता, वह तो हमारे समाज का साधारण व्यक्ति होता है। इस प्रकार आजकल के नाटकों में मध्यम वर्ग और निम्नवर्ग के पात्र भी नायक हो सकते हैं।

संवाद—पाश्चात्य नाट्यकला का तीसरा प्रमुख तत्त्व संवाद अथवा कथनोपकथन है। संवादों का महत्त्व कथा-विकास और चरित्र-चित्रण—दोनों दृष्टियों से है। नाटक में संवाद के अग्रलिखित चार कार्य होते हैं :

१. कथावस्तु को अग्रसर करना,
२. चरित्र-चित्रण में सहायक होना,
३. वातावरण की सृष्टि करना, और
४. लेखक के उद्देश्य की अभिव्यक्ति करना।

डा० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार नाटकीय संवादों में दस विशेषताएँ होनी चाहिए—(१) देश, पात्र और परिस्थिति की अनुकूलता, (२) वाग्वैदग्ध्य, (३) संक्षिप्तता, (४) त्वरा बुद्धिमूलकता, (५) सजीवता, (६) रसात्मकता और चमत्कारात्मकता, (७) तर्क-संगतता, (८) पूर्वापर सम्बद्धता, (९) सार्थकता और (१०) प्रसाद गुण की सम्पन्नता।

देशकाल-वातावरण—साहित्य की प्रत्येक विधा में वेशकाल का अपना महत्त्व रहता है, किन्तु नाटक में इसका महत्त्व तुलनात्मक दृष्टि से सर्वाधिक कहा जा सकता है। इनकी सर्जना नाटक में तीन प्रकार से की जा सकती है—

१. पात्रों की वेशभूषा द्वारा,
२. पात्रों की भाषा द्वारा,
३. तत्कालीन अवस्था के चित्रण द्वारा।

नाटक रंगमंच की वस्तु है। पात्रों को विभिन्न भूषाओं में उपस्थित होना पड़ता है। अत: नाटककार यह ध्यान रखता है कि उनकी वेशभूषा उस देशकाल एवं वातावरण के अनुरूप हो जिस काल के वे पात्र हैं। स्पष्ट ही मुगलकालीन नाटक के नायक को आंग्ल वेश-भूषा—कोट-पैण्ट में उपस्थित करना हास्यास्पद बन जायेगा। भाषा का महत्त्व नाटक में आज उतना स्थान नहीं रखता, किन्तु हाँ, देशकालानुरूप भाषा स्वाभाविकता को अवश्य जन्म देती है। नाटक में पात्रों द्वारा तत्कालीन अवस्था के चित्रण द्वारा सबसे सुन्दर रूप में देशकाल की उपस्थिति होती है। इसके माध्यम से नाटककार वर्तमान में रहता हुआ भूतकाल का उद्घाटन करता है और यह सबसे अच्छा एवं स्वाभाविक प्रकार है।

शैली—नाटक में अभिव्यक्ति का माध्यम संवाद है, जिसकी सफलता अधिकांश में संवादों के रूप पर निर्भर है। भाषा-शैली संवादों के रूप का महत्त्वपूर्ण अवयव है। नाटक में भाषा के कुछ नाटकोचित गुणों का होना

अपेक्षित है। ये गुण हैं—भावानुकूलता, रोचकता, प्रवाह और पात्रानुकूलता आदि। और, शैली नाटक का वह प्रधान अंग है जिसके द्वारा साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में नाटक की विशिष्टता का बोध होता है। नाटक में उपन्यास के भी तत्त्व होते हैं और प्रबन्धकाव्य के भी; फिर भी न तो वह उपन्यास होता है और न प्रबन्धकाव्य, वरन् नाटक होता है, केवल अपनी शैली के कारण।

नाटक की शैली में सबसे प्रधान गुण तो यही होना चाहिए कि उसका प्रत्येक तत्त्व नाटक को अभिनेय बनाने में सहायक हो, उसमें आँखों की भी क्षुधा हो, कानों की भी और हृदय की भी। अतः विचारणीय प्रश्न यह है कि किसी नाटक की अभिनेयता में किन गुणों की अपेक्षा होती है। सामान्य रूप से ये अपेक्षाएँ, निम्नलिखत हैं :

(१) कार्य-व्यापार की तीव्रता और शृंखलित गति।

(२) नाटकीय संवादों की अभिनयोपयुक्तता।

(i) संक्षिप्तता, चुस्ती या लाघव का गुण।

(ii) सजीवता, मार्मिकता और स्वाभाविकता।

(iii) भाषा की सरलता और स्वाभाविकता।

(iv) संवादों की प्रभावात्मकता।

(३) नाटकीय कथा-विकास में कौतूहल का समावेश।

(४) उपयुक्त दृश्य-विधान और कौतूहल का समावेश।

(५) नाटक का प्रभावशाली प्रारम्भ और अन्त।

उद्देश्य—प्रत्येक नाटकार का अपना कुछ-न-कुछ उद्देश्य होता है, वह अपने नाटकों द्वारा उन्हीं उद्देश्यों को सफल बनाना चाहता है। नाटकाकर की सफलता इस बात में निहित है कि वह अपने उद्देश्य को पाठकों या दर्शकों के सम्मुख किस कौशल से रखता है। इसमें वह जितना कौशल दिखलायेगा, उतना ही वह सफल नाटककार होगा। सेठ गोविन्ददास के मतानुसार, "नाटक में किसी विचार की आवश्यकता है। विचार का अर्थ यहाँ साधारण विचार न होकर जीवन की कोई समस्या है। विचार की उत्पत्ति के बाद उस विचार के विकास के लिए संघर्ष होना अनिवार्य है। बाह्य तथा आन्तरिक—दोनों ही प्रकार का संघर्ष आवश्यक है।........जिस नाटक में जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित कथा होगी, जितना विशद

चरित्र-चित्रण होगा और जितनी स्वाभाविक कृति और कथनोपकथन होंगे, वह नाटक उतना ही उत्तम तथा सफल होगा।" इसके साथ ही नैतिक आदर्श, किसी जाति अथवा समाज के उत्थान-पतन का चित्रण, आदर्श और यथार्थ का समन्वय, आध्यात्मिक संदेश, राजनीतिक या धार्मिक संदेश आदि का प्रस्तुतीकरण भी नाटक का उद्देश्य है।

प्रश्न ६७—नाटक में कथानक और चरित्र में से किसको प्रधानता मिलनी चाहिए ? इस सम्बध में पश्चिमी विचारकों के मत उद्धृत करते हुए अपने विचार प्रकट कीजिए।

नाटक के तत्त्वों में तीन तत्त्व प्रमुख हैं—वस्तु, नेता अथवा पात्र और रस। रस के परिपाक के लिए ही नाटककार संवादों के माध्यम से पात्रों का चरित्रांकन करता है, पर चरित्रांकन के लिए भी एक सुनियोजित कथानक की आवश्यकता होती है, जिसके आधार पर कल्पना करके नाटककार मंच पर पात्रों को प्रस्तुत करता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कथानक और पात्र—इन दोनों में से नाटक में किसे अधिक प्रधानता मिलनी चाहिए। यदि पात्रों को गौण स्थान प्रदान कर कथावस्तु को मुख्यता दी जाती है तो एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है कि कथावस्तु को प्रस्तुत किया कैसे जायेगा। कारण, कहानी को प्रस्तुत करने के माध्यम तो पात्र ही होते हैं। अतः पात्रों की भी कम प्रमुखता नहीं है; अपितु प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पात्र और चरित्र-चित्रण ही ऐसा तत्त्व है जो नाटक को अन्य कथा-साहित्य—उपन्यास, कहानी, व्यंय आदि से मिला करता है। अभिनय ही नाटक का प्राण है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि नाटक में कथानक की अपेक्षा चरित्रों की प्रधानता होती है, तो इस पर विचार करने पर यह प्रश्न स्वतः उठता है कि पात्र अभिनय किसका करेंगे। अभिनय के लिए किसी कथानक का होना आवश्यक है। कोई कथा ही पात्रों को परस्पर एक-दूसरे के सम्बद्ध करती है, उनको गति देती है तथा अभिनय के लिए सामग्री देती है। बिना कथानक के पात्रों की कोई भी उपादेयता नहीं है। नाटककार पहले अपने मन में किसी कथानक की कल्पना करता है और फिर उस कथानक के अनुरूप पात्रों का चयन करता है और उनके अभिनय को मूर्तता प्रदान करता है।

यद्यपि यह सत्य है कि पात्र ही एक ऐसा तत्त्व है जो अभिनय होने के कारण नाटक को अन्य कथात्मक साहित्य-विधाओं से पृथक् करता है और उसके स्वरूप को विशिष्ट आकार में सँवारता है, यदि अभिनेता न हो तो नाटक और उपन्यास में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि पात्र अभिनय किसका करेंगे। अभिनय के लिए किसी कथावस्तु की आवश्यकता होती है। इसीलिए वोल्टन ने लिखा है—"Drama, at its best, is an exercise of the imagination not only for writer, producer and actors but also for the audience."

इसलिए कल्पना द्वारा प्रस्तुत कथा का ही अभिनेता अथवा पात्र अभिनय करते है। दर्शक भी कल्पना के माध्यम से उस कथानक को अभिनीत होता देखकर आनन्द का अनुभव करता है। अरस्तू ने इसी को विरेचन कहा है।

नाटक अनुकरणात्मक होता है और यह अनुकरण जीवन की विविध घटनाओं तथा अनुभूतियों का होता है। नाटक का आधार कथावस्तु है, क्योंकि इसी के माध्यम से नाटक के अन्य तत्त्वों का विकास होता है और यह कथानक जीवन के विविध पक्षों से ग्रहण किया जाता है; किन्तु कथानक में विस्तार न होकर एकात्मकता होती है। उसमें प्रवाह, कुतूहल तथा जिज्ञासा का समन्वय आवश्यक है। यह कथानक ही वह कारण है जिसके कारण उपन्यास का भी रूपान्तर नाटक में हो सकता है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' तथा मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' के रेडियो-नाट्य-रूपान्तर अत्यन्त सफल रहे हैं।

त्रासदी और कामदी का अन्तर भी कथानक के आधार पर ही किया जाता है। जिसमें संघर्ष की आरम्भ से ही तीव्रता हो और अन्त दुःखमय हो, वह त्रासदी तथा सुखान्त को कामदी कहा गया है। यद्यपि पात्र दोनों ही प्रकार के नाटकों में अभिनय करते हैं, पर कथानक-भेद से ही नाटक के अनेक भेद होते हैं—यहाँ तक कि पात्रों का अभिनय भी कथानक पर ही आधारित होता है। अतः कथानक का नाटक के लिए होना निस्सन्देह अनिवार्य है।

परन्तु कथावस्तु या घटनाओं का महत्त्व उसी स्थिति में होगा, जब वह चरित्रों के द्वारा सांकेतित होगी। इसलिए चरित्रों का भी कथानक में विशेष महत्त्व है। चरित्रों के लिए आवश्यक है कि वे मानवीय और सहज हों। उपन्यास तो कल्पना-प्रधान चल सकते हैं, परन्तु नाटक स्वाभाविक तथा

वास्तविक जीवन से सम्बद्ध होने चाहिए। नाटक में कार्य या तो अभिनीत होता है अथवा सूचित। किन्तु अधिकता अभिनीत होने की ही होती है। घटना की सूचना देने की अपेक्षा पात्रों के माध्यम से उनकी सूचना देना अधिक उपादेय होता है। नाटककार उपन्यासकार की तरह कोई भी बात स्वयं न कहकर पात्रों के द्वारा ही कहलाता है। चरित्र-चित्रण के सहारे ही कलाकार अपने जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसीलिए चरित्र-चित्रण के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए वैनवफ़ लिखते हैं :

"मुझे विश्वास है कि मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि मुख्य मनोरंजन एक नैतिक संदेश, घटना-क्रम अथवा कार्य-व्यापार की अपेक्षा चरित्र एवं वाग्वैदग्ध्य पर अधिक निर्भर करता है।"

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि नाटक को अन्य साहित्य-विधाओं से अलग करने वाला तत्त्व पात्र है, अतः वह आवश्यक है; किन्तु पात्र बिना कथानक के चल नहीं सकते। अतः नाटक में दोनों की ही प्रधानता है।

प्रश्न ६८—एकांकी के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए विभिन्न विद्वानों द्वारा कृत एकांकी की परिभाषाएँ दीजिए।

हिन्दी में वर्तमानकाल में रचित साहित्य का प्रमुख अंग एकांकी है। यद्यपि इसके मूलस्रोत संस्कृत काव्यशास्त्र में प्राप्त होते हैं, पर अपने आधुनिक रूप में यह पश्चिम की देन है। भारत में इसका रूप सर्वथा अपरिचित भी नहीं है, अतः इसके स्वरूप के विषय में विद्वानों के दो वर्ग हैं—एक वर्ग उन विद्वानों का है जो इसका उद्‌भव संस्कृत नाट्य-साहित्य से मानता है और दूसरा वर्ग उन विद्वानों का है जो उसका उद्‌भव पाश्चात्य काव्य-साहित्य से मानता है—अर्थात् इसे पश्चिम से आई काव्य-विधा मानता है। प्रथम वर्ग के विचारकों में डा० सरनामसिंह शर्मा, प्रो० ललिताप्रसाद शुक्ल, प्रो० सद्‌गुरुशरण अवस्थी आदि हैं और दूसरे वर्ग के विचारकों में प्रो० अमरनाथ गुप्त, प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त, डा० एस० पी० खत्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

एकांकी नाटक, नाटक का ही संक्षिप्त रूप नहीं माना जा सकता। इसकी शिल्प-विधि अन्य नाटकों से पृथक् होती है। इसमें किसी घटना, स्थिति, विचार, परिस्थिति के किसी विशिष्ट क्षण अथवा प्रसंग की मार्मिक

अभिव्यक्ति होती है। इसमें जीवन की समग्रता का नहीं, जीवन के विशिष्ट क्षण का वर्णन होता है।

एकांकी एक अङ्क में पूर्ण हो जाने वाला नाटक है—ऐसा नाटक जो रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रेक्षकों के समक्ष प्रदर्शित हो सके।

अब प्रश्न यह उठता है कि अङ्क से क्या आशय है। अङ्क की परिभाषा साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने विस्तार से दी है। अङ्क रूपकों के अवच्छेद अथवा अन्तःखण्ड का नाम है। नाट्यदर्पणकार का भी यही कथन है। पाश्चात्य विद्वानों की अङ्क सम्बन्धी जो परिभाषाएँ हैं, वे भारतीयों से काफी मिलती-जुलती हैं। अंग्रेजी में अङ्क को Act कहते हैं। 'दि आक्सफोर्ड कम्पेनियन टु दी थियेटर' में अङ्क Act की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि नाटक के विभागों को एक्ट कहते हैं; जिनमें प्रत्येक में एक या अनेक दृश्य हो सकते हैं।

ओ हारा और हार्मन ब्रो ने भी कहा है कि एक्ट कथा का वह निश्चित विकास है जिसमें रुचि और स्थापत्य की इकाई होती है।

इन परिभाषाओं से अंक क्या है, यह स्पष्ट हो जाता है। अब एकांकी के स्वरूप पर विचार करना सुलभ हो जाता है। एकांकी के स्वरूप पर विचार करते समय सबसे पहले इस पर विचार करना आवश्यक है कि हिन्दी में यह विधा कहाँ से आई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कुछ विद्वान् इसे संस्कृत नाटकों से अद्भूत मानते हैं और कुछ पश्चिम की देन। जो इसका उद्भव संस्कृत-नाटकों से मानते हैं, उनमें डा० सरनामसिंह शर्मा का विचार है कि "यह मानना नितान्त भ्रामक होगा कि हिन्दी एकांकी के सामने कोई भारतीय आदर्श ही न था।" इसी प्रकार सद्गुरुशरण अवस्थी लिखते हैं, "यह न समझना चाहिए कि भारत में एकांकी थे ही नहीं।"

किन्तु जो एकांकी को पश्चिमी साहित्य से आगत, हिन्दी में नवीन विधा मानते हैं, उनमें से प्रो० अमरनाथ गुप्त का कथन है, "एकांकी हिन्दी साहित्य में सर्वथा नवीन कृति है। इसका जन्म हिन्दी साहित्य में अंग्रेजी के प्रभाव से कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ है।" इस प्रकार डा० एस० पी० खत्री भी लिखते हैं, "एकांकी पर अंग्रेजी का प्रभाव है न कि संस्कृत का।"

यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो ये दोनों ही मत अतिवादी हैं। यद्यपि आज के एकांकी-लेखन की प्रेरणा अंग्रेजी साहित्य से मिली है, तो

भी भारतीय लेखक अपनी परम्परा को एकदम छोड़ नहीं सकता। अतः एकांकी पर संस्कृत की भी छाया है। इस प्रकार वर्तमान एकांकी संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के साहित्य का ऋणी है। वर्तमान हिन्दी एकांकी की शिल्प-विधि संस्कृत एकांकियों से पूर्णरूपेण भिन्न है, उस पर पश्चिम का प्रभाव ही अधिक है।

एकांकी की परिभाषा—इन मतभेदों के कारण ही एकांकी की कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं हो सकी है। इस विधि में नित्य नवीन प्रयोग होने के कारण, यह किसी परिभाषा की सीमा में आबद्ध नहीं रही। फिर भी इसकी परिभाषा हिन्दी विद्वानों और अंग्रेजी विद्वानों—दोनों ने की है।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी के अनुसार, "एकांकी नाटक विशिष्ट आकार-प्रकार में एक सुनियोजित, सुकल्पित लक्ष्य, एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या, वेग-सम्पन्न-प्रवाह और सबके निदर्शन में चातुरी से संयुक्त होते हैं। लम्बे कथोपकथन, उनकी भद्दी अभिव्यंजना, दृश्यों की सजावट की अतिशयता, विषयान्तरता तथा वर्णन-बाहुल्य × × × आदि एकांकी में वर्ज्य हैं। भावुकता के स्थान पर यह मानसिकता, अर्थात् चिन्ताओं के संघर्ष को प्रमुखता देते हैं।"

सेठ गोविन्ददास एकांकी की परिभाषा में किसी एक मूल विचार को प्रथम स्थान देते हैं। यह विचार जीवन की समस्या अथवा उद्देश्य से सम्बद्ध होता है, जो जितना महान् होगा, एकांकी को उतना ही स्थायित्व प्रदान करेगा। आन्तरिक संघर्ष, कथानक का संगठन, चरित्र-चित्रण, मनोरंजकता एवं संकलन-त्रय पर भी वे बल देते हैं। सेठजी का ध्यान इस प्रकार एकांकी के संगठन पर अधिक है न कि इसकी अभिनयशीलता पर।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' एक ही दृश्य और एक ही अङ्क के एकांकी को विशेष महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार एकांकी सीमित समय (लगभग आधा घण्टा) में समाप्त हो जाना चाहिए। अपनी परिभाषा में वह अन्य तत्त्वों के साथ रंगमंच संकेत, प्रकाश संकेत तथा छाया को भी यथोचित स्थान देते हैं। इस प्रकार उनकी एकांकी-विषयक परिभाषा उसके कलापक्ष से सम्बद्ध है।

डा० नगेन्द्र की एकांकी-विषयक परिभाषा अपने से पूर्ववर्ती परिभाषाओं का निष्कर्ष ही है। उन्होंने एकांकी में एक अंक विस्तार की सीमा कहानी—जैसे जीवन का एक पहलू महत्त्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक

उद्दीप्त क्षण, एकता, समग्रता और आकस्मिकता की अनिवार्यता, संकलन-त्रय का साधारण रूप से पालन, प्रभाव तथा वस्तु का ऐक्य आवश्यक माना है।

पाश्चात्य विचारकों की एकांकी-परिभाषा—भारतीय विचारकों की तरह पाश्चात्य विचारकों ने भी एकांकी के स्वरूप पर विचार करते समय विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है। पर्सिवल वाल्ड का विचार है कि नाटक (एकांकी) जीवन का ऐसा सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण है जो दर्शकों में संवेग उपस्थित करता है। एकांकी नाटक की विशेषता उच्चकोटि की मितव्ययिता और अन्विति में है। यह अपेक्षाकृत कम अवधि में अभिनीत होता है।

एकांकी की परिभाषाओं में से कोई भी अपने आपमें पूर्ण नहीं है। प्रत्येक विद्वान् ने उसके किसी एक पक्ष पर ही विचार किया है। उदाहरणार्थ, वाटर प्रिचर्ड एटन (Water Prichard Eaton) का कथन है—

"The one act play, to its nature and the rigid restricion of medium, has to confine itself to a single episode or situation and this situation, in turn has to grow and develop out of itself."

अर्थात् एकांकी नाटक में एक ही घटना अथवा प्रसंग फैलाकर दर्शकों के मन पर एक विशेष प्रभाव डालता है। उनके अनुसार एकांकी जीवन अथवा समाज के किसी एक पहलू घटना या क्षण को प्रस्तुत करता है।

सिडनी बॉक्स (Sydney Box) ने भी उनका समर्थन करते हुए कहा है—

"It should aim at making a single impression, should possess singleness of situation and should concentrate its intrest on a single charactor or group of charactors."

अर्थात् एकांकी का लक्ष्य यह है कि वह एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करे, उसमें एक स्थिति होनी चाहिए और उसका ध्यान किसी एक पात्र अथवा विशिष्ट-पात्र-समूह के कार्यकलापों पर केन्द्रित होना चाहिए। उसमें न तो अप्रधान घटनाएँ हों, न गौण प्रसंग और न पात्रों का व्यर्थ जमघट ही हो।

इस प्रकार इन विचारकों ने विचार और प्रभाव के आधार पर एकांकी की परिभाषा की है; पर कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो संक्षिप्तता के गुण के

आधार पर एकांकी की परिभाषा करते हैं। इन विचारकों का विचार है कि नाटक और एकांकी में मुख्य अन्तर समय के आधार पर ही किया जा सकता है। एकांकी सीमित समय में अभिनीत होने वाला एक अंक का नाटक है। इसकी यही सफलता है कि वह कम-से-कम समय में पूर्ण होकर दर्शकों अथवा पाठकों पर पूर्ण प्रभाव डाल दे। इस सम्बन्ध में पर्सिवल वाइल्ड (Percival Wilde) लिखते हैं—

"The time factor is important while the speed of action be accelerated or retarded, it must not be so far from that of real life that it is wholly rejected."

इसका आशय यह है कि एकांकी में समय का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। साथ ही, उसे वास्तविक जीवन के भी निकट होना चाहिए। नाटक की गति चाहे धीमी हो या तीव्र, जीवना से इतनी हटी हुई न हो कि लोग उसे असत्य समझ बैठें और स्वीकार न करें। चूँकि मनुष्य वास्तविक जीवन की सम्भावनाओं पर घटित जीवन में आनन्द लेता है; अतः एकांकी के लिए यह आवश्यक है कि वह मानव-जीवन की झाँकी को सजीव रूप में प्रस्तुत करे।

कुछ विद्वान् संकलन-त्रय (स्थान, समय और घटना की एकता) पर विशेष बल देते हैं। जिन एकांकियों में इनका ध्यान रखा जाता है, उनके अनुसार, वे ही एकांकी सफल होते हैं।

इन परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि एकांकी की कोई भी परिभाषा पूर्ण न होकर एकांगी है। अतः इसकी परिभाषा का सर्वाङ्गीण रूप देखने के लिए यह आवश्यक है कि इन सभी गुणों का समन्वय किया जाय। ये गुण अथवा तत्त्व निम्नलिखित हैं—

१. एकांकी में किसी एक मूल विचार, घटना, समस्या अथवा स्थिति के विशिष्ट क्षण का प्रस्तुतीकरण हो जिससे पाठक या दर्शक प्रभावित हो जाये।

२. लेखक अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति में समन्वय रखे। सम्पूर्ण एकांकी में एकता का होना आवश्यक है।

३. एकांकी का संक्षिप्त होना आवश्यक है। इसे आधे घण्टे के आसपास समाप्त हो जाना चाहिए।

४. संकलन-त्रय का भी उसमें ध्यान रखना चाहिए और पात्रों, घटनाओं तथा प्रसंगों का बाहुल्य न होकर प्रमुख पात्र, घटना अथवा स्थिति पर दृष्टि रखनी चाहिए ।

निष्कर्ष—इस प्रकार कहा जा सकता है कि एकांकी वह नाट्य-विधा है जो किसी मूल विचार, भावना अथवा घटना से सम्बद्ध अभिनेय कथा होती है । उसमें संक्षिप्तता तथा संकलन-त्रय पर ध्यान दिया जाता है और रचयिता की दृष्टि प्रमुख पात्र अथवा घटना पर ही रहती है ।

प्रश्न ६६—पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों द्वारा निर्देशित एकांकी के तत्त्वों का सम्यक् विवेचन कीजिए ।

एकांकी नाटक के तत्त्वों पर हिन्दी विद्वानों और पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है और उसके नित्य परिवर्तित स्वरूप के अनुसार नवीन-नवीन तत्त्वों का उसमें समावेश किया है और इससे वे उलझ गये हैं । उन्होंने तत्त्वों तथा विशेषताओं को एकसाथ मिलाकर उलझा दिया है, कहीं विशेषताओं को तत्त्वों में गिन लिया है और कहीं तत्त्वों को विशेषताओं में ले लिया है । कुछ विद्वानों ने संक्षिप्तता, एकता, प्रभाव तथा संकलन-त्रय आदि को एकांकी के तत्त्व माना है, पर ये तत्त्व न होकर उसकी विशेषताएँ हैं । तत्त्व तो वे होते हैं जिनके बिना एकांकी का स्वरूप बन ही नहीं सकता, एकांकी अपूर्ण रह जायेगा. पर इनसे उसका आकार तो बन ही जायगा, पर वह सुन्दर नहीं बनेगा, अतः ये उसकी विशेषताएँ हैं ।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने नाटक के तीन मूलतत्त्व माने हैं—वस्तु, नेता और रस । लेकिन पाश्चात्य काव्यशात्रियों ने इन तत्त्वों की संख्या ६ मानी है—कथानक, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य । परन्तु डा० रामगोपाल सिंह चौहान ने इस परम्परा का खण्डन करके एकांकी के तीन ही मूल तत्त्व माने हैं और शेष तत्त्वों को इन्हीं में समाविष्ट माना है । उन्होंने अभिनय को मूलतत्त्व माना है । अतः तीन तत्त्व हैं (१) कथानक, (२) संवाद और (३) दृश्य-विधान । कथानक के अन्तर्गत वह चरित्र-चित्रण तथा उद्देश्य; संवाद में भाषा-शैली तथा दृश्य-विधान में देशकाल-वातावरण, रंग-निर्देश आदि का समाहार कर लेते हैं ।

किन्तु उनका यह वर्गीकरण अवैज्ञानिक है, क्योंकि कथावस्तु में न तो चरित्र रखे जा सकते हैं और न उद्देश्य ही । डा० रघुवंश का कथन है,

"उद्देश्य का रूप काव्य की रूपरेखा में सन्निहित है, साथ ही रस का आनन्द भी; इसी प्रकार उद्देश्य भी कहा जा सकता है।" स्पष्ट है कि उद्देश्य एक स्वतन्त्र तत्त्व है, अतः उसे पृथक् ही रखा जाना चाहिए। फिर एकांकी का कार्य कथा कहना मात्र नहीं है, पात्रों के हाव-भाव द्वारा उनकी चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करना भी है, और यही मुख्य है। अतः पात्र को भी कथा-वस्तु में नहीं रखा जा सकता। कैनेथ का विचार है कि चरित्र-चित्रण ही एकांकी की मुख्य वस्तु है, अतः चरित्र-चित्रण को पृथक् तत्त्व मानना चाहिए।

इसी प्रकार संवाद और भाषा-शैली भी दो पृथक्-प्रथक् तत्त्व हैं। यद्यपि भाषा-शैली संवाद का माध्यम है, पर केवल भाषा-शैली ही संवाद नहीं बनती; और साथ ही संवादों के अतिरिक्त वातावरण-निर्माण तथा रंगमंच-संकेत की भाषा में भी शैली की विशेषता देखी जाती है। इस प्रकार एकांकी के मूलतत्त्व सात होते है; यथा—(१) कथानक, (२) पात्र चरित्र-चित्रण, (३) संवाद, (४) देशकाल अथवा वातावरण, (५) भाषा-शैली, (६) उद्देश्य और (७) रंग संकेत।

यहाँ संक्षेप में इनका विवेचन प्रस्तुत है।

कथानक—एकांकीकार लोककथाओं, सामाजिक समस्याओं, मानव-भावों, जीवन के चित्रों, पौराणिक गाथाओं, इतिहास, राजनीति आदि किसी में से भी अपनी इच्छानुसार कथावस्तु का निर्माण कर सकता है। कथानक क्या है, इस पर विचार करते समय साधारण रूप से उसे कहानी कह दिया जाता है; पर इसकी कुछ विशेषताएँ होती हैं। सामरसेट माम के विचार से कथानक वह ढाँचा है जिस पर कहानी व्यवस्थित होती है। वर्सफोल्ड के अनुसार कथानक वह कहानी है, जो लेखक के उद्देश्य के अनुरूप क्रमबद्धता अवं विस्तार प्राप्त करती है। अतः कहा जा सकता है कि लेखकीय उद्देश्य को अभिव्यक्त करने वाले द्वन्द्वयुक्त एवं कौतूहल-वर्द्धक घटना क्रम को कथानक कहते हैं।

कथानक ही एकांकी की आधारशिला है। इस पर एकांकी का समूचा भवन खड़ा होता है। एकांकीकार अपना कथानक कहीं से भी ग्रहण कर सकता है, पर उसे इसका ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की वास्तविकता बनी रहे—वह कपोल-कल्पित ज्ञात न हो, उसमें विश्वसनीयता का होना आवश्यक है।

कथानक के लिए आवश्यक है कि वह आरम्भ में संक्षिप्त हो, अर्थात् एकांकी के कथानक का आरम्भ मध्य से होना चाहिए जिससे दर्शक अथवा पाठकों की जिज्ञासा व कौतूहल बना रहे। बीती हुई घटनाओं का वर्णन करके एकांकीकार क्षिप्र गति से अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है, अतः रोचकता उसका मुख्य गुण है। साथ ही प्रगतिशीलता भी कथानक का मुख्य गुण है। मुख्य कथा जब चरम बिन्दु की ओर तीव्रता से बढ़ती है, तभी एकांकी सुन्दर होता है और इसके लिए दो साधन हैं—(१) संघर्ष और (२) विकास। यह संघर्ष या तो व्यक्तियों, नायक और खलनायक में अथवा दो विरोधी भावों में हो सकता है। अतः संघर्ष वाले एकांकी आज अधिक सफल होते हैं।

एकांकी में कार्य-व्यापार की एकता का होना भी आवश्यक है। डा० नगेन्द्र का मत है कि बिना चरमसीमा वाले एकांकी भी सफल हो सकते हैं, यदि उनमें कार्य-व्यापार की एकता बनी रहे। सभी घटनाएँ यदि विभिन्न दिशाओं में न बिखर कर एक निश्चित दिशा की ओर गतिशील रहें तो एकांकी सफल रहता है।

समग्रतः एकांकी के कथानक के तीन तत्त्व हैं—एकता, एकाग्रता तथा विस्मय। इनमें विस्मय अथवा कौतूहल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर यह रोचकता अथवा कौतूहल स्वाभाविकता के धरातल पर ही होना चाहिए।

पात्र और चरित्र-चित्रण—यद्यपि नाटक अथवा एकांकी का प्राथमिक तत्त्व कथानक है, पर यह तब तक अभिव्यक्त नहीं हो सकता, जब तक कि चरित्र-चित्रण वाला तत्त्व न हो। पात्रों के द्वारा ही कहानी गतिशील होती है। दूसरे, चरित्र-चित्रण कथानक से भी ऊँचा कार्य है। एकांकी अभिनेय होता है और रंगमंच पर कहानी को अभिव्यक्त करने के माध्यम पात्र ही होते हैं। अतः पात्रों का एकांकी में मूल स्थान है। जार्ज सान्तायना का विचार है कि कथानक के निर्माण को हम आविष्कार कहते हैं, पर चरित्र के निर्माण को हम सृष्टि कहकर गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

एकांकी में पात्रों की संख्या कम होती है, कथानक मुख्य पात्रों तक ही सीमित रहता है। यद्यपि पात्रों की कोई निश्चित संख्या नहीं है, अधिक पात्र वाले भी एकांकी ऐसे हैं जो सफल हैं, पर साधारणतया इनकी संख्या पाँच-छह रहती है। ये पात्र सामान्य प्राणी हो होते हैं जो वास्तविक जीवन को जीने

वाले लगते हैं। इसमें नायक तो होता ही है, आवश्यकतानुसार खलनायक की योजना भी की जा सकती है, पर इसके भी अपवाद हैं। जहाँ प्रतिनायक नहीं होता, वहाँ गौण पात्रों के माध्यम से घटना-क्रम में गति उत्पन्न की जाती है। पात्रों की दृष्टि मुख्य पात्र की ओर रहती है और वे उसी के व्यक्तित्व का प्रकाशन करते हैं। पात्रों का मुख्य गुण उनकी विश्वसनीयता है। वे कोई भी कार्य ऐसा न करें जिसका कोई कारण न हो—कारण चाहे भावगत हो अथवा प्रवृत्तिगत। और साथ ही, उनका चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए। फिर घात-प्रतिघात से उसमें संघर्ष की उत्पत्ति होना भी आवश्यक है। पर इसके लिए भी मानव-प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण आवश्यक है।

संवाद अथवा कथोपकथन—एकांकी श्रव्य अथवा पाठ्य साहित्य-विधा न होकर नाटक की तरह है। अतः कहानी का प्रस्तुतीकरण पात्रों के द्वारा बोले जाने वाले संवादों के माध्यम से ही होता है। संवाद एक प्रकार से एकांकी की आत्मा है और यही वह तत्त्व है जो एकांकी को अन्य कथा-साहित्य से पृथक्ता प्रदान करता है। संवाद एकांकी में तीन कार्य करता है—(१) चरित्रों की चरित्रगत विशेषताएँ व्यक्त करता है, (२) एकांकी के कथासूत्र को विकसित करता है, (३) पात्रों के भावों को व्यक्त करता है। परन्तु संवाद इनके अतिरिक्त भी कुछ और प्रयोजन सिद्ध करता है। एकांकी का एक कार्य-व्यापार संवाद भी है, यह घटना-क्रम को आगे बढ़ाता है और उसे विकसित करता है। फिर संवाद पात्रों की अभिव्यक्ति का माध्यम है और इन्हीं के माध्यम से अपेक्षित वातावरण तथा प्रभाव की सृष्टि होती है। इन्हीं से दर्शकों का ध्यान सैट पर से हटा दिया जाता है, जिससे सैट-परिवर्तन के लिए समय मिल जाता है। इससे नाटक की गति भी नियंत्रित होती है, संवाद-बहुलता से परदा गिराने-उठाने के बीच भी समय मिल जाता है। अतः संवाद एकांकी का मूलतत्त्व है।

संवाद के लिए आवश्यक है कि वह पात्र अथवा परिस्थितियों के अनुरूप हो। उसमें स्वाभाविकता, सजीवता एवं रोचकता आदि गुण होने आवश्यक हैं। इसके साथ ही उसका मर्मस्पर्शी तथा वाग्वैदग्ध्यपूर्ण होना भी आवश्यक है और यह भी आवश्यक है कि वह संक्षिप्त हो। एकांकी की सीमा एवं समयाभाव के कारण दीर्घ संवाद उसकी गतिशीलता के लिए हानिकारक होते हैं। इसीलिए वाल्टर प्रिचर्ड एटन का कथन है, "You have a painfully

small number of words with which to accomplish a large effect, for events must in general be large on the stage. Therefore every word must count." अर्थात् तुम्हारे पास बहुत कम शब्द हैं, जिनसे तुम्हें बहुत बड़ा प्रभाव उत्पन्न करना है—क्योंकि रंगमंच पर प्रभाव बड़ा होना ही चाहिए। अतः प्रत्येक शब्द को सार्थक होना चाहिए। प्रत्येक शब्द की कीमत आँकनी चाहिए।

देशकाल अथवा वातावरण—इससे तात्पर्य स्थान और समय से है। इसमें अभिनेय कथानक में आये पात्रों के रहन-सहन, वेषभूषा, चाल-ढाल, आचार-विचार, संस्कृति और सभ्यता, जीवन-पद्धति आदि पर प्रकाश डाला जाता है। यह तत्त्व किसी विशेष स्थान पर न होकर एकांकी में सर्वत्र व्याप्त होता है और प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होता है।

भाषा-शैली—पात्रों के संवाद एक विशिष्ट कथाशैली में ढले होते हैं। मूक एकांकियों में भाषा का प्रयोग पात्रों के अंग-संचालन, वेश-विन्यास आदि से दर्शक के मस्तिष्क में होता है और संवाद-युक्त एकांकियों में पात्रों की बोल-चाल के ढंग से भाषा-शैली का ज्ञान होता है। चूँकि नाटक अथवा एकांकी प्रत्यक्ष दर्शन का साहित्य है, इसलिए उसकी भाषा-शैली सरल तथा सुबोध होनी चाहिए। सहज और बोधगम्य भाषा ही दर्शकों को आह्लादित कर सकेगी। फिर उसका पात्रानुकूल होना भी आवश्यक है। एक बच्चा न तो प्रौढ़ भाषा बोले और न एक अशिक्षित साहित्यिक भाषा अथवा विदेशी भाषा। भाषा के माध्यम से पात्रों का चरित्र-चित्रण भी होता है, क्योंकि बोल-चाल से ही किसी का व्यक्तित्व भली प्रकार आँका जा सकता है।

उद्देश्य—कोई भी साहित्य बिना उद्देश्य के नहीं हो सकता। एकांकी की रचना के पीछे भी उसके सर्जक का कोई-न-कोई उद्देश्य निहित होता है। पर यह उद्देश्य इसमें अप्रत्यक्ष होता है, एकांकीकार जो कुछ भी कहना चाहता है वह पात्रों के माध्यम से ही कहता है। वह स्वयं कुछ नहीं कहता। एक आलोचक का इस सम्बन्ध में कहना है कि वाद्य संगीत की तरह एकांकी भी न कुछ सिखाता है और न कुछ सिद्ध करता है, अपितु उसका कथ्य ध्वनित होता है। उसका मुख्य उद्देश्य रस-सिद्धि है। आनन्द की सृष्टि ही उसका मुख्य लक्ष्य है।

रंग-संकेत—एकांकी दृश्य काव्य है, अतः उसकी सफलता अभिनेयता पर निर्भर करती है। इसलिए आवश्यक है कि वह मंच की सुविधाओं का ध्यान रखकर लिखा जाय और यथास्थान मंच का संकेत दिया जाय। इससे पात्रों की रूप-सज्जा में सुविधा रहती है। साथ ही, इससे कभी-कभी आरम्भ का कार्य भी हो जाता है। पात्रों के अभिनय में भी सहायता पहुँचाना रंग-संकेत का कार्य होता है।

प्रश्न ७०—एकांकी-रचना तथा विषय के आधार पर एकांकियों का वर्णन कीजिए।

एकांकी हिन्दी साहित्य की नवीनतम साहित्य-विधा है। परन्तु जन्मते ही इसने इतना अधिक प्रभाव जमा लिया तथा यह विधा इतनी लोकप्रिय हुई कि इसके अनेक प्रकार मिलते हैं। विषय की दृष्टि से तथा रचना-पद्धति के आधार पर इसके अनेक वर्गीकरण हो सकते हैं। इनमें सबसे उपयुक्त वर्गीकरण रचना-पद्धति के आधार पर किया जा सकता है। वैसे विषय के आधार पर किया गया वर्गीकरण भी उसके क्षेत्र-विस्तार का परिचय देता है। अब हम दोनों प्रकार के वर्गीकरण का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

विषय के आधार पर एकांकी का वर्गीकरण—विषय के आधार पर डा० सत्येन्द्र ने पाँच प्रकार के एकांकी बताये हैं—(१) सामाजिक एकांकी, (२) राजनीतिक एकांकी, (३) ऐतिहासिक एकांकी, (४) चारित्रिक एकांकी और (५) व्यंग्यात्मक एकांकी। परन्तु इनके अतिरिक्त समस्यामूलक एकांकी, हास्य एकांकी और विचार-प्रधान एकांकी भी होते हैं। इस प्रकार विषय के आधार पर एकांकियों को आठ भागों में विभक्त किया जा सकता है।

सामाजिक एकांकी—समाज की किसी पृष्ठभूमि अथवा स्थिति पर जो एकांकी आधारित होते हैं, उन्हें सामाजिक एकांकी कहा जा सकता है। समाज के क्षेत्र में सभी कुछ आ जाता है। अतः समाज में व्यक्ति की दुर्दशा, गरीबी-अमीरी का संघर्ष, धर्म आदि के नाम पर चलने वाले ढोंग, विवाह आदि पर आधारित एकांकी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इनका क्षेत्र-विस्तार अधिक है।

राजनीतिक एकांकी—जिन एकांकियों का कथानक राजनीतिक गति-विधियों, युद्धों के समय देशों के संघर्षों; जासूसी, राजनीतिक वार्त्ताओं, नेताओं

की मनो-वृत्तियों आदि से सम्बन्धित हों, वे एकांकी राजनीतिक एकांकी कहलाते हैं।

ऐतिहासिक एकांकी—विगत की घटनाओं, ऐतिहासिक तथ्यों तथा चरित्रों पर आधारित एकांकी ऐतिहासिक एकांकी कहलाते हैं। इनमें वर्तमान परि-स्थिति अथवा पृष्ठभूमि न होकर उस युग की पृष्ठभूमि होती है, जिस काल का कथानक लिया जाता है। भाषा, पात्रों की वेशभूषा भी तत्कालीन समाज से ही सम्बद्ध होती है। डा० रामकुमार वर्मा का 'औरंगजेब की आख़िरी रात' एकांकी इसी प्रकार का ऐतिहासिक एकांकी है।

चारित्रिक एकांकी—किसी विशेष अथवा प्रसिद्ध चरित्र पर आधारित एकांकी को चारित्रिक एकांकी कहते हैं। इस प्रकार के एकांकी में चरित्रगत विशेषताओं का वर्णन किया जाता है और यह ध्यान रखा जाता है कि प्रत्येक क्रियाकलाप से आलोच्य पात्र की चरित्रगत विशेषताओं का उल्लेख हो।

व्यंग्यात्मक एकांकी—व्यंग्यात्मक कहानियों की तरह व्यंग्यात्मक एकांकी भी होते हैं। किसी प्रसिद्ध नेता, व्यक्ति अथवा स्थिति के कार्यों से असन्तुष्ट होने के कारण उस पर व्यंग्य कसा जाता है। इसमें दर्द-भरा व्यंग्य होता है जिसमें एक टीस होती है—एक चुभन होती है और व्यंग्य का कारण होता है, आलोच्य व्यक्ति के कार्यों के प्रति असन्तोष। स्टेनली ह्वाटन का एकांकी 'The masters of the House' इसी प्रकार का एक व्यंग्यात्मक एकांकी हैं।

समस्यामूलक एकांकी—किसी समस्या को लेकर जिन एकांकियों का निर्माण होता है, वे समस्यामूलक एकांकी कहलाते हैं। इन्हें समस्या-एकांकी भी कहते हैं। इन एकांकियों में किसी एक समस्या को उठाया जाता है और उसका पूर्ण रूप प्रस्तुत कर दिया जाता है, समस्या का निदान नहीं दिया जाता। 'विशप कैण्डिल स्टिक्स' इसी प्रकार की एक सफल रचना है।

हास्य एकांकी—इन्हें हिन्दी में प्रहसन भी कहते हैं। इन एकांकियों का उद्देश्य मनोरंजन तथा हास्य की सृष्टि करना होता है। किसी स्थिति पर छींटा-कसी करके अथवा थोथे दम्भ आदि का प्रदर्शन करके अथवा विकृत हाव-भाव द्वारा किसी अन्धविश्वास आदि पर कटाक्ष करना इनका लक्ष्य रहता है।

विचारप्रधान एकांकी—इन्हें गम्भीर एकांकी भी कहते हैं। ये 'सीरियस' होते हैं और किसी विचार पर आधृत होते हैं। ये एकांकी साहित्य की उत्तम

से उत्तम रचना का मुकाबला कर सकते हैं। इनमें विचारों को इस प्रकार सुनियोजित कर दिया जाता है कि विचारों की श्रृंखला बनी रहती है और उसके साथ एक संक्षिप्त घटना भी जुड़ जाती है। मारिस मैण्टरलिंक का एकांकी 'इण्ट्रूडर' इसी प्रकार का एकांकी है।

रचना-पद्धति के आधार पर एकांकियों का वर्गीकरण—विषय की तरह एकांकियों की रचना भी विभिन्न प्रकार से हो सकती है और इसी आधार पर एकांकियों के निम्नलिखित भेद हो सकते हैं :

(१) एक-दृश्य का एकांकी—इसमें सम्पूर्ण एकांकी एक अंक और एक ही दृश्य में समाप्त हो जाता है। दृश्य-परिवर्तन की इसमें आवश्यकता नहीं होती; इस प्रकार के एकांकियों में संकलन-त्रय का पूर्ण निर्वाह होता है और कथानक भी कम गतिशील होता है। सीमित पात्र तथा सीमित घटना-व्यापार द्वारा इसकी नियोजना होती है। यदि किसी अन्य स्थान अथवा काल की घटना देना आवश्यक होता है तो उसकी सूचना दे दी जाती है अथवा वह पात्रों के वार्त्तालाप में आ जाती है। डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार के एकांकी को 'झाँकी' भी कहा है।

(२) अनेक दृश्यों के एकांकी—कुछ एकांकी ऐसे भी होते हैं जो होते तो एक अंक के हैं, पर उसमें दृश्य अनेक होते है। यद्यपि अन्य एकांकियों के समान कार्य और प्रभाव की अन्विति इसमें भी आवश्यक होती है; फिर भी इसमें स्थान और काल की एकता की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि कथा में दो विभिन्न कालों तथा बहुत दूर के स्थानों की घटना की योजना की जाये। यद्यपि आजकल इस पर भी प्रयोग किये जा रहे हैं, पर ये प्रयोग अपवादस्वरूप ही हैं। साथ ही पात्रों की संख्या का भी इसमें कोई बन्धन नहीं, पर एकांकी की सीमा के कारण उनका बाहुल्य भी खटकता है।

(३) भूमिका तथा उपसंहार से संयुक्त एकांकी—कुछ एकांकियों की रचना इस प्रकार की जाती है कि उनके आरम्भ में भूमिका तथा अन्त में उपसंहार की व्यवस्था होती है। एकांकी का कथानक दोनों के बीच में रहता है। इस प्रकार के एकांकी एक दृश्य वाले और अनेक दृश्य वाले—दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं।

(४) **प्रवक्तायुक्त एकांकी**—आज के प्रयोगवादी युग में कुछ एकांकीकार ऐसे कथानक का चयन करते हैं जो अनेक विभिन्न समयों और स्थानों में फैला हुआ हो और उनका परस्पर कोई सम्बन्ध न हो। इन घटना-व्यापारों की परस्पर शृंखला जोड़ने के लिए एकांकीकार प्रवक्ता अथवा 'नैरेटर' का उपयोग करता है। प्रवक्ता विशृंखलित सूत्रों को परस्पर सम्बद्ध करने के लिए नेपथ्य से सूचना देता है, अवशिष्ट कथा कहता है। यह कार्य वह नेपथ्य से भी कर सकता है और रंगमंच पर प्रकट होकर भी। रंगमंच पर यदि वह प्रकट होता है तो वह एकांकी का एक पात्र होता है, जो सम्बद्ध घटनाओं की सूचना देता है।

(५) **एकपात्रीय एकांकी**—इस प्रकार के एकांकी को अंग्रेजी में 'मोनोड्रामा' भी कहते हैं। हिन्दी में इसे 'स्वगत नाट्य' भी कहते हैं। इसमें आदि से अन्त तक एक ही पात्र रहता है और वह अपनी विभिन्न मुद्राओं, हाव-भावों और संवादों से अन्त तक अभिनय करता है।

(६) **रंगमंच से सम्बन्धित एकांकी**—आज विज्ञान द्वारा मनोरंजन के अनेक समुन्नत साधन बढ़ जाने से रंगमंच-कला में भी पर्याप्त विकास हो गया है और इसलिए अब नाटक अथवा एकांकी के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्यक्ष रंगमंच पर ही अभिनीत हो। रेडियो, टेलीविजन आदि के प्रादुर्भाव से एकांकियों के रूप भी बदले हैं। अतः प्रत्येक की रचना-प्रक्रिया पृथक्-पृथक् है। रंगमंच से सम्बन्धित इन एकांकियों को निम्न रूपों में देखा जा सकता है—

(क) **रंग-एकांकी**—वे एकांकी जो रंगमंच पर अभिनीत होते हैं, रंग-एकांकी कहे जाते हैं। ये एकांकी उपर्युक्त प्रकारों में से किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। रंगमंच पर अभिनीत होने के कारण इनकी कुछ सीमाएँ होती हैं। इनमें वही दृश्य दिखाये जा सकते हैं जो मंच पर सरलता से अभिनीत हो सकें। साथ ही दृश्यों की लम्बाई और विस्तार आदि पर भी ध्यान देना पड़ता है। युद्ध आदि के दृश्य इसमें वर्जित होते हैं, और मंच पर ट्रेन भी नहीं दिखायी जा सकती। अतः उसकी सूचना ही दी जा सकती है, दृश्य करके नहीं दिखाया जा सकता।

(ख) **रेडियो-एकांकी**—रेडियो आज सर्वत्र प्रचलित हो गया है। इसमें भी एकांकी आते हैं, पर ये दृश्य न होकर श्रव्य ही होते हैं। अतः इनमें

ध्वनियों से काम लिया जाता है। यद्यपि रेडियो एकांकी की स्वतन्त्र तकनीक है, परन्तु फिर भी इसे एकांकी के अन्तर्गत ही परिगणित किया जाता है। इन एकांकियों के लिये कोई सीमा अथवा बन्धन नहीं है, क्योंकि उसमें ध्वनि द्वारा प्रत्येक दृश्य की कल्पना की जा सकती हैं, अतः दो विभिन्न स्थानों की घटना भी एक साथ दिखाई जा सकती है।

(ग) टेलीविजन-एकांकी—यह एकांकी दृश्य और श्रव्य दोनों ही प्रकार का होता है। इसमें चित्रों और ध्वनियों का संयोजन करके एकांकी को उसके प्रदर्शन-स्थल से दूर, सैकड़ों-हजारों मील दूर बैठे दर्शकों तक पहुँचा दिया जाता है। इस पर रंगमंच, रेडियो और फिल्म एकांकी—सभी का प्रभाव है।

(घ) पाठ्य एकांकी—एकांकी आज मात्र पढ़ने के लिए ही लिखे जाते हैं। प्राचीन काल में नाटक भले ही दृश्यकाव्य रहा हो, पर अब पाठ्य-पुस्तकों में इनका प्रयोग होने से रंगमंच की परम्परा इनके साथ खण्डित हो गई है। मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार से अभिनेयता के स्थान पर इन एकांकियों में रंगमंच निर्देश में भी भाषा-शैली का चमत्कार दिखाया जाता है। अंग्रेजी में इसे 'क्लोजेट ड्रामा' (Close-set Drama) भी कहते हैं। यह रंग-संकेतों एवं संलापों में लिखा एक कहानी-सा होता है।

इन दो प्रकारों के अतिरिक्त विद्वानों ने एकांकियों का और भी अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया है; उदाहरणार्थ—डा० सत्येन्द्र ने एकांकियों का वर्गीकरण वादों के आधार पर भी किया है, यथा—आदर्शवादी एकांकी, यथार्थवादी एकांकी, प्रयोगवादी एकांकी, प्रगतिवादी एकांकी, कलावादी एकांकी, प्रभाववादी एकांकी आदि; पर एकांकी के ये सभी प्रकार विषय के अन्तर्गत आ जाते हैं।

इसी प्रकार यदि भाषा-शैली के आधार पर वर्गीकरण किया जाये तो वह भी अधिक वैज्ञानिक नहीं है। बौद्धिक, काव्यात्मक, गद्यात्मक, पद्यात्मक—कोई भी एकांकी दुखान्त और सुखान्त हो सकता है। किसी की शैली सरल हो सकती है तो किसी की क्लिष्ट। यह तो लेखक पर निर्भर करता है।

मूलवृत्ति के आधार पर यदि एकांकियों का वर्गीकरण किया जाय अथवा रसों के आधार पर किया जाये तो यह भी पिष्टपेषण मात्र होगा। एकांकियों

का वैज्ञानिक वर्गीकरण तो रचना-पद्धति और विषय के अनुसार ही हो सकता है, सब वर्गीकरण इसी में आ जाते हैं।

प्रश्न ७१—गीति-नाट्य के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए इसके स्वरूप का विवेचन कीजिए।

पाश्चात्य दृष्टि से यदि नाटच के उद्भव पर प्रकाश डाला जाए तो कहा जा सकता है कि वहाँ नाटच-रूपों का उद्भव एक क्रम से हुआ है। वास्तव में पाश्चात्य जगत् में क्रिया एवं प्रतिक्रिया का एक सुस्पष्ट रूप हमें दिखाई देता है। गीतिनाटच के उद्भव को समझने के लिए जरा पीछे जाना आवश्यक जान पड़ता है। शेक्सपीयरयुगीन रोमानी एवं काल्पनिक नाटकों की प्रतिक्रियास्वरूप यथार्थपरक समस्या नाटकों का जन्म हुआ। समस्या नाटकों का काल प्रथम विश्वयुद्ध तक माना जा सकता है।

प्रथम विश्व महायुद्ध (१९१४-१९१८) के वाद परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ और इस परिवर्तन के लक्षण हमें यथार्थवाद के विरोधी तत्त्वों में दिखाई देने लगे। जैसा कि एडवर्ड अल्बर्ट ने लिखा भी है कि युद्ध के पश्चात् यथार्थवादी नाटक-साहित्य अधिक लाभदायक एवं रुचिकर नहीं समझा गया और इस प्रकार प्रतिक्रियास्वरूप एक ऐसे नाटच-रूप की परिकल्पना की गई जो जीवन के अंधकार एवं निराशा के स्थान पर आशा एवं प्रकाश की किरण विकीर्ण कर सके। इस प्रकार, नए नाटच-रूप ने नए जीवन-मूल्यों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। डा० बच्चनसिंह ने इस सम्बन्ध में सही ही लिखा है कि—"पश्चिम में सन् १९२० के बाद नाटक तथा रंगमंच के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में एक निश्चित परिवर्तन दिखाई देने लगता है। इस परिवर्तन के मूल में एक ओर प्रवृत्तिवादी और यथार्थवादी नाटकों की प्रतिक्रिया निहित थी, तो दूसरी ओर सिनेमा के बढ़ते हुए प्रभाव का सामना करने की प्रवृत्ति। इब्सन की यथार्थवादी प्रवृत्ति शॉ में अपनी पूरी ऊँचाई में पहुँच गई। प्रथम महायुद्ध की कटुताओं ने भी जनता के रस-स्रोत को और भी शुष्क बना दिया। फल यह हुआ कि नाटकों को नया मोड़ लेना पड़ा और गीतिनाट्यों की रचना होने लगी।"

यह परिवर्तन काव्य के क्षेत्र में भी आया। युद्ध से पूर्व के दिनों में कविता का ह्रास हो रहा था, किन्तु युद्धोत्तर परिणाम कविता के पुनःस्थापन में था। एडवर्ड एल्बर्ट के शब्दों में—"The pre-war years had seen

a relaiive eclipse of poetry. The demand, Long expressed by yeats for a new and living tradition was met between the wars."

गीतिनाट्य को सबल रूप इंग्लैण्ड में मिला। इसमें कुछ प्रमुख कवियों और नाट्यकारों का सम्मिलित प्रयास शुरू हुआ। इनमें येट्स, सिंज, लेडी ग्रेगरी, मेटरलिंक का नाम उल्लेख्य है। इन सब में येट्स का हाथ सर्वप्रबल था। उन्होंने अपनी कल्पनात्मक शक्ति से इस नए नाट्य-रूप को स्वर दिया। अंग्रेजी नाट्य-साहित्य के लेखक बी० आइफर इवान्स के शब्दों में—"Yeats supreme poetical genius moved uneasily in the theatre, but his enthusiam for the movement was unbounded. He was determind to lveak away from the realism by which so much English drama seemed caught in to a new world." इन कवियों के अतिरिक्त टी० एस० ईलियट, आडेन, क्रिष्टोफर, ईश्ववुड, फ्राई इत्यादि कवियों ने भी काव्य में नाटक का समावेश कर गीतिनाट्य का स्वरूप सँवारा।

गीतिनाट्य : परिभाषा

गीतिनाट्य में काव्य और नाटक का सम्मिश्रण होता है। इसीलिए कई बार हिन्दी आलोचकों ने इसे काव्य-रूपक अथवा काव्य-नाटक भी कहा है, परन्तु यह नाम अधिक ग्राह्य नहीं हैं। गीतिनाट्य में मानव जीवन के रागात्मक क्षणों, अनुभूतियों एवं संवेदनाओं को प्रस्तुत किया जाता है। गीतिनाट्य में पाये जाने वाले काव्य-तत्त्व पर भी विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। काव्य के सम्बन्ध में प्रायः सभी आलोचकों का यह मत है कि इसमें मानव-जीवन का रागात्मक चित्रण होता है। गद्य की अपेक्षा पद्य में गहन अनुभूतियों एवं संवेदनाओं की सच्ची अभिव्यक्ति सम्भव होती है। यही कारण है कि ईलियट ने भी कविता में जीवन के घनीभूत क्षणों की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हुए लिखा है—"The human soul, in intense emotion, strives to express itself in verse. The tendency, at any rate of prose drama is to emphasise the ephemeral and superficial; if we want to get at the permanent and Universal we tend to express in Verse." गीतिनाट्य में जो काव्य ग्रहण किया जाता है, उसके

सम्बन्ध में ईलियट, हैसेल प्रभृति आलोचकों का कथन है कि यह मात्र अलंकरण के रूप में ग्रहण न होकर नाटकीय दृष्टिकोण से ग्रहण की जाती है। गीतिनाट्य में महत्त्व एवं प्रभुत्व तो नाट्य-तत्त्व का ही होता है। कविता का स्वतन्त्र महत्त्व एवं अस्तित्व नहीं होता। दूसरे शब्दों में, गीतिनाट्य में काव्य-तत्त्व नाट्य-तत्त्व का उपकारक अथवा सहायक बन कर आता है। इसी तथ्य को डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"इस प्रकार गीति-नाट्य एक ओर तो साधारण दृश्य काव्य से भिन्न है और दूसरी ओर नाट्य-कविता (Dramatic Poem) से भी उसका स्वरूप भिन्न है। नाट्य-कविता में नाट्य-तत्त्व अर्थात् प्रदर्शन या अभिनेयता होती अवश्य है—परन्तु उसका आस्वादन पढ़ कर ही होता है, अभिनय या प्रदर्शन द्वारा नहीं—यानी वह पाठ्य ही है—अभिनेय नहीं। गीतिनाट्य में नाट्य-तत्त्व मुख्य होता है, नाट्य कविता में गौण।"

गीतिनाट्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए हैसेल का कथन है कि—"वह मानव जीवन को प्रस्तुत करता है, जिसे देखा जा सकता है और जिससे विश्वजनीन सत्य का उद्घाटन भी होता है।" गीतिनाट्य के नाट्य एवं कवित्व को समान महत्त्व देते हुए एच० सी० बारकर महोदय ने लिखा है: What we may justifiably call a new poetic drama freed from mere formula equally and integerally valid both as drama and poetry." ईलियट ने गीतिनाट्य में घनीभूत भावनाओं के आन्तरिक स्वरूप की बात की है। सिंज (synge) ने गीतिनाट्य में वास्तविकता और आनन्द की उपलब्धि मानी है।

हिन्दी आलोचकों एवं विद्वानों ने भी गीतिनाट्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। डा० बच्चन सिंह ने गीतिनाट्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"गीतिनाट्य मुख्यतः भावनामय होते हैं, उनमें बहिःसंघर्षों की अपेक्षा अन्तःसंघर्षों की प्रधानता होती है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि जीवन की कठोर वास्तविकताओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता।" गीति-नाट्य में काव्य और नाटक के सम्मिश्रण पर ध्यान देते हुए डा० सिद्धनाथ कुमार का कथन है कि—"काव्य-नाटक काव्यत्व और रूपकत्व का संगम-स्थल है। काव्य-तत्त्व और नाटक-तत्त्व इसमें आकर एक ऐसे स्वरूप विधान की सृष्टि कर देते हैं जिसमें काव्यत्व के कारण मानव-जीवन के राग तत्त्व

बड़ी स्पष्टता से उभर कर आते हैं, भावनाएँ और अनुभूतियाँ अपनी तीव्र और वेगवती धारा में अपने साथ बहा ले जाती हैं। नाटक-तत्त्व उसका बाह्य स्वरूप निर्मित करता है। काव्य-तत्त्व इसमें आत्मा की स्थापना करता है।" इसी प्रकार डा० नगेन्द्र की परिभाषा है—"गीतिनाट्य से साधारणतः तात्पर्य है पद्य नाटक का। परन्तु गीतिनाट्य के लिए यही पर्याप्त नहीं है कि उसका माध्यम गद्य न होकर केवल पद्य हो। उसके लिए भावमयता अनिवार्य है।××× इसके अतिरिक्त भावना का प्राधान्य होने के कारण गीतिनाट्य में संघर्ष स्वभावतः बाह्य न होकर आन्तरिक होता है।××× संक्षेप में गीतिनाट्य रूपक का ही एक भेद है, जिसका प्राण तत्त्व है भावना—अथवा मन का संघर्ष, और माध्यम है कविता।" डा० नगेन्द्र ने गीतिनाट्य की जो परिभाषा दी है, उससे निम्न विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है :

(क) गीतिनाट्य में नाट्य एवं कविता का सम्मिश्रण होता है।

(ख) इसमें भावों का प्राधान्य होता है।

(ग) बाहरी क्रिया-कलाप की अपेक्षा आन्तरिक संघर्षों का चित्रण होता है।

गीतिनाट्य के अभिनय पक्ष पर बल देते हुए डा० सावित्रीस्वरूप लिखती हैं—"गीतिनाट्य का स्वरूप नाट्य कविता से भिन्न है। संवादात्मक कविता केवल पाठ्य होती है, उसका अभिनय नहीं हो सकता। संवादात्मक कविता में नाट्य-तत्त्व अत्यन्त गौण रहता है। इसके विपरीत गीतिनाट्य अभिनेय होते हैं। उनमें नाट्य-तत्त्वों की प्रधानता और प्रमुखता रहती है।"

गीतिनाट्य : तत्त्व विवेचन

(१) **आन्तरिक जीवन का चित्रण**—गीतिनाट्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें बाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक जीवन की छटा को चित्रित किया जाता है। इसमें व्यक्ति के अन्तर्जगत् की आकांक्षाओं, आशाओं, निराशाओं तथा मानव मन की गहराइयों को सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तर पर प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें अन्तःसंघर्षों को प्रस्तुत करते समय नाटककार बाह्यजगत् से अपना नाता तोड़ लेता है। किन्तु इसमें जो थोड़ा-बहुत बाह्य संघर्ष होता है, वह आन्तरिक संघर्ष को बल देने के लिए ही आता है। इसी को आधार में रखते हुए डा० नगेन्द्र ने कहा भी है—"भावना का प्राधान्य होने के कारण गीतिनाट्य में संघर्ष स्वभावतः

बाह्य न होकर आन्तरिक होता है। × × × बाह्य स्थितियों का संघर्ष यदि होगा भी तो उनका प्रयोग आन्तरिक संघर्ष को तीव्रतर बनाने के लिए होगा। "गीतिनाट्य में राग तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले संघर्षों को ही अधिकतर रखा जाता है; कारण, विरोधी स्थितियों और विरोधी भावनाओं की टकराहट से ही गीतिनाट्य का जन्म होता है।

गीतिनाट्य में जहाँ अन्तर्जगत् का चित्र उपस्थित किया जाता है, वहीं जीवन की मार्मिकता का होना भी आवश्यक है। यही कारण है कि डा० रामचरण महेन्द्र ने जीवन के विस्तार की अपेक्षा उसकी गहराई पर अधिक बल दिया है।

(२) **वस्तु-विधान**—वस्तु-चयन के सम्बन्ध में कहा गया है कि इसका चयन सुवर्ण अतीत के गौरवमय पृष्ठों से किया जाना चाहिए। इसके लिए दो कारण दिए गए हैं—(अ) आधुनिक युग अपने आप में बौद्धिक है, मूल्यों के विघटन का युग है, अतः भावजगत् के अधिक उपयुक्त नहीं है, (आ) पौराणिक कथाएँ गेयात्मक हैं, अतः वे गीतिनाट्य के अधिक निकट हैं। रचनातंत्र की दृष्टि से इसमें गीतिनाट्यकार को अधिक सतर्कता बरतनी पड़ती है। सामान्य रूप से इसका कथानक सुसंगठित एवं संश्लिष्ट होना चाहिए।

(३) **छन्द विधान**—गीतिनाट्य स्वभावतः छन्दोबद्ध होता है। वस्तुतः गीति-नाट्य का जन्म ही एक विशेष काव्यमयी स्थिति से होता है। उसमें जीवन की वास्तविकताओं को उच्च रागात्मक धरातल पर प्रस्तुत किया जाता है। मिल का कथन है कि मनुष्य की गहरी और तीव्र भावनाएँ लयात्मक भाषा में अभिव्यक्त होना चाहती हैं। छन्दोबद्धता के कारण ही गीतिनाट्य में प्रभावोत्पादकता आ जाती है।

(४) **चरित्र**—गीतिनाट्य में अन्य नाट्यरूपों की अपेक्षा चरित्र-संख्या कम होती है। पात्र-सृजन एवं चरित्रांकन के सम्बन्ध में कहा गया है कि इन पात्रों का स्वरूप जीवन में मिलने वाले यथार्थ पात्रों से थोड़ा भिन्न होता है। चूँकि इसमें अन्तर्जीवन का चित्रण होता है अतः चरित्र के बाह्य क्रिया-कलापों का अधिक चित्रण नहीं होता।

(५) **कथनोपकथन**—कथोपकथन अधिकांश में पद्य में ही लिखे जाते हैं। जो थोड़ा-बहुत गद्य मिलता है वह भी काव्यात्मक ही होता है। कथोपकथनों में मानवमन के संघर्ष की अभिव्यक्ति होती है।

(६) **भाषा**—गीतिनाट्य की भाषा अलंकारमय और बिम्बप्रधान होनी चाहिए। किन्तु इसके साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि यह भाषा सहज और बोधगम्य होनी चाहिए। गीतिनाट्य की भाषा में सारगर्भिता एवं संश्लिष्टता का होना भी अत्यावश्यक है।

प्रश्न ७२—"पाश्चात्य काव्यशास्त्र का हिन्दी काव्यशास्त्र पर बहुमुखी प्रभाव है।" इस मत की समीक्षा कीजिए।

हिन्दी के आधुनिक कालीन साहित्य के पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होने के कारण उसमें पाश्चात्य काव्यशास्त्र की विधाओं का भी समन्वय है। वर्तमान हिन्दी काव्यशास्त्र संस्कृत तथा पाश्चात्य—दोनों ही काव्यशास्त्रों से प्रभावित हैं। अंग्रेजों के आगमन से भाषा और सभ्यता-संस्कृति का जो आदान-प्रदान हुआ, उसने भारतीय विचारकों की विचारधारा में भी पर्याप्त परिवर्तन किया। संस्कृत काव्यशास्त्र की जो अटूट परम्परा थी, वह पाश्चात्य काव्यशात्रियों की विचारधारा से संसर्गित होकर एक नवीन रूप धारण कर गई। परन्तु कुछ विधाएँ ऐसी भी प्रस्फुटित हुईं जिनका इससे पहले भारतीय काव्यशास्त्रियों को कोई ज्ञान न था, अथवा यों कहा जा सकता है कि उन पर विचार करने की कोई आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई, परन्तु पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से इन विधाओं ने पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया, परिणामत: हिन्दी काव्यशास्त्र में भी इन विधाओं का विवेचन-विश्लेषण हुआ।

इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्र पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ा—(१) नवीन विधाओं का जन्म और (२) साहित्य की प्रचलित विधाओं में नया दृष्टिकोण।

नवीन विधाओं के जन्म में हम अनेक नवीन काव्यरूपों को ले सकते हैं, जो पाश्चात्य साहित्य के संसर्ग से हिन्दी में उद्भूत हुए हैं; यथा—रिपोर्ताज, रेडियो प्ले, संगीत-नाट्य आदि और साहित्य की प्रचलित विधाओं में जो परिवर्तन हुआ है, उनके रूप और धारणाओं में—वह दूसरे वर्ग में लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्य के संसर्ग से हिन्दी में अनेक नवीन वादों का भी प्रवर्तन हुआ है।

अब हम संक्षेप में इसका पर्यावलोकन करेंगे।

(१) **हिन्दी में नवीन विधाओं का जन्म**—पाश्चात्य काव्यशास्त्र का पहला

प्रमुख प्रभाव यह हुआ कि हिन्दी काव्यशास्त्र में साहित्य की अनेक नूतन विधाओं का जन्म हुआ। अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव से भारतीयों ने रेडियो का प्रयोग सीखा और फिर मनोरंजनार्थ रेडियो साहित्य का सर्जन होने लगा। रेडियो प्ले अथवा ध्वनि-नाट्य पाश्चात्य काव्यशास्त्र के परिणामस्वरूप ही उद्भूत हुए। इसके अतिरिक्त रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी शैली, इण्टरव्यू, जीवनी-साहित्य, आत्मचरित-साहित्य, गल्प-कथा, यात्रा-साहित्य, एकांकी नाटक, छायानाटक, रिपोर्ताज आदि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव के कारण ही उद्भूत हुए। ये साहित्य-विधाएँ अब हिन्दी में इतनी प्रचलित हैं कि इन्होंने पहले के साहित्य-रूपों को भी पीछे धकेल दिया है। यदि इन्हें अब साहित्य से निकाल दिया जाये तो उसके भंडार की समृद्धि काफी कम ही न हो जायेगी, अपितु साहित्य एक प्रकार से पंगु हो जायेगा। अतः पाश्चात्य काव्यशास्त्र की देन ये साहित्य-विधाएँ हिन्दी काव्यशास्त्र के अध्ययन और विश्लेषण का अब मुख्य विषय हैं।

अनेक नवीन वादों का जन्म—जिस प्रकार हिन्दी साहित्य में अनेक विधाओं का जन्म हुआ है, उसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से अनेक वादों का भी अभ्युदय हुआ है। इन वादों ने हिन्दी साहित्य को नवीन आयाम दिये हैं और इनसे इन साहित्यकारों की वैचारिक प्रवृत्तियों का निदर्शन हो जाता है। इन वादों ने पहले तो पश्चिम में जन्म लिया था, किन्तु भारतीय विचारकों के सम्पर्क से इनका विकसित रूप हिन्दी में भी प्रवर्तित हुआ। इन वादों के सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि इनका जो स्वरूप पश्चिम में रहा, हिन्दी में उस स्वरूप में समय तथा स्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन भी हो गये। इन वादों में प्रमुखवाद—कलावाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रयोगवाद, प्रकृतिवाद आदि हैं।

कलावाद—पाश्चात्य विचारकों के इस मन्तव्य कि 'कला कला के लिये है', से इस वाद का जन्म हुआ। हिन्दी साहित्यकार भी इस वाद से प्रभावित होकर साहित्य में आत्माभिव्यक्ति को प्रमुख मानने लगा और इसी का एक अन्य परिवर्तित स्वरूप छायावाद के रूप में दिखाई दिया। पंत, प्रसाद, महादेवी आदि की अधिकांश रचनाएँ इसी वाद से प्रभावित हैं और इसी के परिणामस्वरूप साहित्य में पलायनवाद का भी प्रवर्तन हुआ। अभिव्यक्तिवाद को ही प्रधान मानकर पंत ने लिखा है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन !

और प्रसाद भी संसार से निराश होकर उन कल्पनाओं की अखण्ड भाव-भूमि पर विचरण करना चाहते हैं, जहाँ अम्बर के कानों में अवनि निश्छल प्रेमकथा कहती हो—

"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे ।"

प्रतीकवाद—फ्रांस में उद्भूत प्रतीकवाद, जिसका जन्म यथार्थवाद के विरोध में हुआ, हिन्दी में भी नये रूप से आ उपस्थित हुआ । हिन्दी कवियों ने भी नये-नये प्रतीकों द्वारा अप्रत्यक्ष को मूर्त्त रूप देने का सफल प्रयास किया । इस वाद के द्वारा विषयी तथा विषय, आन्तरिक तथा बाह्य आदि का अन्तर समाप्त कर दिया । निराला की कविता 'कुकुरमुत्ता' इसका सुन्दर उदाहरण है ।

अभिव्यंजनावाद—क्रोचे द्वारा प्रवर्तित अभिव्यंजनावाद ने जहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र में एक नवीन क्रांति की, वहाँ उसने हिन्दी काव्यशास्त्र को भी प्रभावित किया । क्योंकि हिन्दी साहित्यकारों का एक बहुत बड़ा वर्ग इसका समर्थक हो उठा था और काव्य में अभिव्यंजना को ही प्रधानता देने लगा था। हिन्दी साहित्यकारों ने भी विषय और शैली का कोई अन्तर नहीं माना, पर हाँ, उन्होंने इसका समन्वय भारतीय वक्रोक्तिवाद से अवश्य किया, पर आलोचना भी कम नहीं हुई । फिर भी यह काफी प्रचलित है और वर्तमान का अधुनातन वाद—नकेनवाद—इसी का एक परिवर्तित तथा परिष्कृत रूप है ।

प्रयोगवाद—पाश्चात्य साहित्य के संसर्ग से ही हिन्दी साहित्य में प्रयोग वाद का जन्म हुआ । कवि ने कविता के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग आरम्भ किये और उनके द्वारा कविता के अनेक रूपों का निर्माण किया । वह अभिव्यक्ति को अधिक सशक्त और कुशल बनाने के लिए सभी सीमाओं तथा बंधनों के प्रति भी विद्रोह कर उठा । ठोस कविताएँ, चित्र-कविताएँ आदि इसी प्रयोगवाद का प्रमाण हैं और हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद का एक प्रमुख रूप भदेसवाद के रूप में प्रकट हुआ । जैसे डा० प्रभाकर माचवे ने लिखा है—

निकटतर धँसती हुई छत
आड़ में निर्वेद
मूत्र सिंचित मृत्तिका के गर्त में
तीन टाँगों पर खड़ा ग्रीवं
धैर्य-धन गदहा ।

इसमें भदेसपन लाने का प्रयोग किया गाया है ।

प्रगतिवाद—कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों पर आधारित वाद मार्क्सवाद के प्रभाव से हिन्दी में प्रगतिवाद का जन्म हुआ—इसके द्वारा कवि शोषितों का शोषकों द्वारा शोषण देखकर आक्रोश से भर उठता है और राजा-महाराजाओं को त्यागकर गरीब मजदूर-किसानों के प्रति संवेदनशील हो उठता है । इस प्रगतिवादी कवि की यदि विचारधारा पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित है तो हृदय दीन-दुखियों के दुःख-दर्दों से आप्लावित है ।

(२) **प्रचलित साहित्य-विधाओं पर प्रभाव**—अबतक जिस पाश्चात्य प्रभाव का वर्णन किया गया, वह साहित्य में मूलरूप से आया है उसने अन्य किसी साहित्य-विधा को प्रभावित न कर स्वयं ही वह विधा के रूप में आया । पर कुछ प्रभाव इस तरह का भी था जिसने हिन्दी काव्यशास्त्र में प्रचलित साहित्य-विधाओं को भी प्रभावित किया और उनके प्रचलित स्वरूपों तथा धारणाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन किया । यह प्रभाव निम्नलिखित विधाओं पर पड़ा है—

कला—संस्कृत काव्यशास्त्र में कला ६४ विधाओं में से एक है, पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से हिन्दी काव्यशास्त्र में कला को कौशल के अधिक निकट माना जाने लगा । उसका विवेचन भी जीवन के परिवेश में हुआ । जीवन की दृष्टि से उसके दो भेद किये गए—उपयोगी कला तथा ललित कला । दोनों ही कलाओं को जीवन में उपयोग की दृष्टि से देखा गया ।

काव्य—संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने काव्य का यद्यपि सूक्ष्मता से विवेचन किया है पर उनकी दृष्टि काव्य के आन्तरिक पक्ष तक ही सीमित रही । लेकिन पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से हिन्दी-आचार्यों ने काव्य के बहिरंग-पक्ष पर भी अपना ध्यान केन्द्रित किया । उन्होंने काव्य को जीवन से भी सम्बद्ध किया और जीवन के स्पन्दन से हीन काव्य को साहित्य से बहिष्कृत

किया । इसके साथ ही काव्य के लिए व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का भी प्रादुर्भाव हुआ, पर भारतीय समीक्षकों की दृष्टि दोनों की अति से हटकर उनके समन्वय पर ही विशेष रूप से केन्द्रित रही । इसी से उनकी दृष्टि में जीवन की उपयोगिता अधिक रही ।

इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कवित्व की प्रतिष्ठा को आवश्यक माना, यही कारण है कि प्राचीन साहित्य में उसके रचयिता का व्यक्तित्व नहीं मिलता, पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आत्मवादी होने के कारण हिन्दी में भी सृजेता के व्यक्तित्व को प्रधानता मिलने लगी । उन्होंने इसका गम्भीरता से विवेचन किया और किसी काव्य के विवेचन में कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी परिस्थितियों के अध्ययन पर भी उतना ही ध्यान दिया, जितना उसमें वर्णित सिद्धान्तों पर ।

प्राचीन भारतीय आचार्य काव्य में तुकान्त पर विशेष बल देते थे, पर अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए पाश्चात्य विचारकों ने इसे कोई महत्त्व नहीं दिया, इसलिए हिन्दी में ऐसे काव्य का प्रचुरता से निर्माण हुआ जिसमें तुकबन्दी की पूर्ण अवहेलना की गयी थी । उन्होंने यहाँ तक घोषित कर दिया कि तत्त्वतः गद्य और पद्य में कोई अन्तर नहीं है, जो भी अन्तर है वह अभिव्यक्ति का है और यह स्थूल अन्तर है ।

साथ ही काव्य में अनेक नवीन रूपों की भी, पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क के कारण उद्‌भावना हुई । गीतिकाव्य, शोकगीत, बैलेड, गीति-नाट्य आदि का उद्‌भव पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का ही प्रभाव है ।

नाटक—नाटक को प्राचीन आचार्यों ने आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण सुखान्त माना था, पर हिन्दी काव्यशास्त्र में पाश्चात्य विचारधारा के कारण यथार्थवाद का प्रचलन हुआ, फलतः नाटकों में दुखान्त नाटकों का भी काफी प्रचलन हुआ । भारतीय आचार्यों ने तो ऐसी घटनाएँ, जिनसे विवाद अथवा क्लेष उत्पन्न हो, बहिष्कृत करने का ही आदेश दिया था, पर हिन्दी में तो इसका खूब प्रचलन हुआ—यहाँ तक कि पाश्चात्य नाट्यरूप—कामदी और त्रासदी—का भी प्रचलन होने लगा और संकलन-त्रय पर भी बल दिया जाने लगा । यह संकलन-त्रय पूर्णरूपेण पाश्चात्य साहित्य की ही देन है । इसने तो प्राचीन नाटकों के स्वरूप से ही वर्तमान नाटकों को पूर्ण पृथक् कर दिया ।

नाटक का लघुरूप एकांकी भी पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से ही हिन्दी में उत्पन्न हुआ है। इसका सम्पूर्ण वेश-विन्यास पाश्चात्य है; यहाँ तक कि साज-सज्जा और मंच-निर्देश पर भी पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दीखता है।

कथा-साहित्य—प्राचीन काव्यशास्त्र में कथा के दो रूप—कथा और आख्यायिका का निर्देश मिलता है, किन्तु वर्तमान हिन्दी काव्यशास्त्र में वर्णित तथा विवेचित कथा-साहित्य के दोनों रूप—उपन्यास तथा कहानी—पूर्णतया पाश्चात्य काव्यशास्त्र से प्रभावित हैं। इन दोनों के मूलतत्त्व भी पाश्चात्य ही हैं और प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित तत्त्वों को इन्हीं पाश्चात्य तत्त्वों में समाहित कर लिया गया है। अब उपन्यास एवं कहानी के छह तत्त्व इस प्रकार मानो गये हैं—कथावस्तु, पात्र-चित्रण, संवाद, देशकाल-वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य। इन सभी का वर्णन अब मनोवैज्ञानिक पद्धति से होता है और पात्रों में भी यह आवश्यक नहीं रहा कि फल-भोक्ता नायक ही हो, अब तो पाश्चात्य प्रभाव से ऐसे उपन्यास भी चल रहे हैं जिनमें कोई नायक ही नहीं है अथवा कोई फल-भोक्ता नहीं होता, अथवा घटनाओं की अपेक्षा स्थितियों का ही जिनमें विशेष चित्रण होता है।

आलोचना—प्राचीन भारतीय आलोचना खण्डन-मण्डन प्रधान ही अधिक रही है और उसमें आलोचक का व्यक्तित्व तथा रुचि, विशेष रूप से सम्बद्ध रही है। पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से हिन्दी काव्यशास्त्र में नवीन समालोचना-पद्धति का विकास हुआ। उसके अनुसार समालोचक तटस्थ दृष्टि से किसी भी कृति का सम्पूर्ण समालोचन करता है और इसी आलोचना के कारण हिन्दी में अनेक प्रकार की नवीन समालोचना-पद्धतियों का जन्म हुआ; जिससे किसी कृति का स्वरूप समग्रता से स्पष्ट हो सके।

अब आलोचना गुण-दोष दर्शन तक ही सीमित नहीं रही, उसका काफी क्षेत्र-विस्तार हो गया है और उसके अनेक मानदण्ड निर्धारित हो गए हैं। कोई भी कृति अब वैयक्तिक रुचि-अरुचि के आधार पर आलोच्य नहीं रही।

निबन्ध—हिन्दी में निबन्धों का जो वर्तमान स्वरूप प्रचलित है, वह भी पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से ही उत्पन्न हुआ है। आज जो हिन्दी में निबन्धों के विवेचन की पद्धति प्रचलित है, वह भी पाश्चात्य काव्यशास्त्र की देन है। निबन्ध के भी शैली-भेद से अनेक रूप हो गए हैं जो विषय की विशदता

के परिचायक हैं। यद्यपि संस्कृत काव्यशास्त्र में भी इसका स्वरूप संकेत में मिलता है, पर निबन्ध के वर्तमान स्वरूप से उसका कोई भी मेल नहीं बैठता, वह पूर्ण पृथक् प्रतीत होता है।

निष्कर्ष—समग्रतः कहा जा सकता है कि हिन्दी काव्यशास्त्र का वर्तमान स्वरूप एक प्रकार से पाश्चात्य काव्यशास्त्र की ही अधिकांशतः देन है। इसकी नींव भले ही भारतीय हो, ईंटें व गारा भी भारतीय हो, पर ऊपर के भवन का जो रूप है, वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र की ही देन है। और, इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में जो गरिमामय मौलिकता आई है, वह पूर्ण-रूपेण पाश्चात्य विचारकों की ऋणी है।

प्रश्न ७३—साहित्यिक विकास में परम्परा का क्या स्थान है ? क्या परम्परा को छोड़कर नये प्रयोग किये जा सकते हैं ? क्या साहित्यिक क्रान्ति के लिये नये प्रयोग ही एकमात्र साधन हैं ? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।

'सहितेन भावः स साहित्यम्' के अनुसार हित के भावों से संयुक्त साहित्य होता है। साहित्य का रूप अधुनातन होने के साथ ही परम्परा से भी प्राप्त होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में प्लेटो से और भारत में भरत के समय से इसके ऊपर विचार-विमर्श होता आया है और युगानुकूल स्थितियों के अनुसार साहित्यशास्त्रियों ने उसके स्वरूप को स्थिर किया है।

कहा जाता है कि साहित्य अपने समय का दिग्दर्शक होता है। उसमें युगीन परिस्थितियों, भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति होती है और विचार तथा स्थितियाँ समय-सापेक्ष होती हैं। इसलिए साहित्य भी समय-सापेक्ष होता है। यही कारण है कि मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास जो अपने समय में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे, आज उन समस्याओं के समाधान होने पर, जिन्हें उन उपन्यासों में उठाया गया है, कोई महत्त्व नहीं रखते। इसी प्रकार स्वतन्त्रता से पूर्व की रचनाएँ जिनमें आजादी के तराने होते थे, उनकी आज कोई महत्ता नहीं है। सच तो यह है कि साहित्य की उपादेयता समय के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। विचारों के उन्नयन के साथ-साथ साहित्य के मापदण्ड भी बदलते रहते हैं। इसलिए समय-समय पर होने वाले प्रयोग ही साहित्य को जीवन प्रदान करते हैं।

किन्तु प्रश्न यह है कि ये नवीन प्रयोग होते किस आधार पर हैं ? कोई भी प्रयोग अपने पूर्व प्रयोग से सम्बद्ध होता है, इसलिए प्राचीन परस्पराओं

का त्याग भी नहीं हो सकता। जीवन के जो शाश्वत नियम हैं, वे सदैव ही एक समान रहते हैं। साहित्य की प्रेरणाएँ जो आरम्भ में रही हैं, वे आज भी पूर्ववत् हैं। व्यक्ति के विचार रूप-परिवर्तन भले ही कर लें, किन्तु उनकी मूल भावना एक ही रहती है। यही कारण है कि साहित्य के मानदण्ड सदा एक से रहे हैं और प्राचीन विचारकों ने जिन मतों का अथवा विचारों का प्रवर्तन कर दिया, वे बाद के आचार्यों को भी मान्य रहे। नीतिवादी आलोचक परम्परा का इसी लिए साहित्य में विशेष महत्त्व मानते हैं। उदाहरणार्थ, भरत ने रस-निष्पत्ति के लिए जो सिद्धान्त "विभावानुभाव संचारी संयोगाद्रस-निष्पत्तिः"—निर्धारित कर दिया, उसकी व्याख्या-विश्लेषण भले ही भिन्न रहे हों, बाद के आचार्यों ने इस सूत्र का कोई खण्डन नहीं किया। साथ ही, साहित्य के जो मूलतत्त्व निर्धारित कर दिये गए, उनका भी सदैव ही समर्थन होता रहा। नीतिवादी आलोचक साहित्य का उद्देश्य हित-साधन ही मानते रहे और उन्होंने सदैव साहित्य को लोक-कल्याण की दृष्टि से देखा।

इसके विपरीत जो कलावादी विचारक हैं, उन्होंने नवीन प्रयोगों को ही मान्यता दी और परम्परा का खण्डन किया। इन विचारकों ने साहित्य को साहित्यकार की भावनाओं का प्रतिरूप माना और उसका उद्देश्य पाठकों में रस और आनन्द का संचार करना ही माना। इसलिए शिलर का कथन है कि सम्पूर्ण कला आनन्द के चरणों में ही समर्पित है। मानव को कैसे सुखी बनाया जाय—इससे महत्तर और गम्भीरतर और कोई समस्या नहीं है। उपयुक्त साहित्य वह है जो परमानन्द की सृष्टि करे और सुन्दर को प्रेरणा दे।

साहित्यिक विकास में परम्परा का स्थान—पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य-समीक्षकों में दो प्रकार के वर्ग हैं—एक वे जो साहित्य का पूर्ण सम्बन्ध परम्परा से मानते हैं और दूसरे वे जो साहित्य को पूर्ण रूप से प्रयोगवादी मानते हैं। प्रथम वर्ग के समर्थक जीवन तथा साहित्य के शाश्वत मूल्यों का हवाला देकर उसकी उपादेयता का विश्लेषण करते हैं और दूसरे वर्ग के विचारक साहित्य की समय-सापेक्षता का उदाहरण देते हैं कि साहित्य समयानुसार परिवर्तित होता रहता है। उनके अनुसार साहित्य में जो रसिकता और मांसलता है, वह छायावाद में नहीं दिखाई देती। इसी प्रकार छायावाद की स्वप्निलता से घबड़ाकर साहित्यकार पुनः विद्रोह कर उठा और परिणामतः प्रगतिवाद का प्रवर्तन हुआ। लेकिन समय के मूल्य बदलने से पुनः

साहित्य में क्रान्ति हुई और प्रयोगवाद का आरम्भ हुआ। इन विरोधी-विचार-धाराओं के पनपने से स्पष्ट है कि साहित्य भी समयानुसार परिवर्तित होता रहता है और उसमें क्रान्ति के लिए परम्परा की अपेक्षा नवीन प्रयोगों का आश्रय लेना पड़ता है।

यदि ध्यान से देखा जाये तो ये दोनों ही विचार अतिवादी हैं। साहित्य को गति देने के लिए पूर्णरूप से प्राचीन मान्यताओं से चिपटा नहीं रहा जा सकता और न ही परम्पराओं का पूर्णतः विरोध किया जा सकता है। साहित्य में होने वाले प्रयोग भी परम्परा को छोड़कर नहीं हो सकते। कारण, साहित्य-कार जो भी प्रेरणा लेता है, वह पूर्व साहित्य से ही लेता है। काव्य के हेतुओं पर विचार करने से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य-सर्जना के तीन कारण होते हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इनमें से व्युत्पत्ति से तात्पर्य शास्त्र-ज्ञान से ही है और अभ्यास में उन शास्त्रों का चिन्तन-मनन आता है। पूर्ववर्ती साहित्यकारों के निष्कर्षों के आधार पर ही नया साहित्य-कार उनका युगीन परिवेश में मूल्यांकन करता है और फिर अपना निर्णय देता है। उदाहरण के लिए हम वादों के प्रवर्तन को ले सकते हैं। जब कवि ने देखा कि परम्परा से चली आती वीर-गाथाएँ जनता के मन को प्रेरणा नहीं दे पातीं और सब हताश हो रहे हैं, तो भक्तिकाल का आविर्भाव हुआ। भक्तिकालीन कवियों ने साहित्य में भक्ति की अजस्रधारा प्रवाहित की, परन्तु बाद में उसका परिवर्तन रीतिकाल में हो गया। लेकिन हम इन परिवर्तनों की भी परम्परा देखते हैं। यह एक परम्परा ही तो है कि साहित्य समाज-सापेक्ष अथवा अनुभूतिपरक होना चाहिए। साहित्य की अभिव्यक्ति की विधि भी सदैव एक-सी रही है—भले ही उसका रूप परिवर्तन हो गया हो। अतः साहित्य के विकास में परम्परा को पूर्णतः नहीं त्यागा जा सकता।

साहित्यिक क्रान्ति और नये प्रयोग—अब प्रश्न यह उठता है कि क्या साहित्यिक क्रान्ति के लिए नये प्रयोग अनिवार्य हैं? यह सत्य है कि जब भी क्रान्ति होती है, तो नवीन प्रयोग होते हैं और पुराने प्रचलनों का नाश किया जाता है। परन्तु यह नाश अथवा परम्परा की जड़ उखाड़ना भी तो परम्परा-गत है। किसी ने लिखा है कि इतिहास सदैव अपने को दुहराता है। इसी प्रकार साहित्य का परिवर्तन भी एक निश्चित क्रम में होता है। यह भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया होती है, क्योंकि मानव-स्वभाव स्थिर न रहकर दैवस

परिवर्तनशील है अतः उसका अभिव्यक्तरूप साहित्य भी सदैव परिवर्तनशील है, लेकिन जैसे सुख में हँसना, दुख में रोना, प्रिय सूचना मिलने पर उल्लसित होना और भूख लगने पर भोजन की आकांक्षा, पुत्र के प्रति वात्सल्य उमड़ना आदि मूल प्रवृत्तियाँ सदैव एक-सी रहती हैं, उनमें किसी भी युग में कोई परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार साहित्य के जो शाश्वत नियम हैं, जो मूल परम्पराएँ हैं, वे एक-सी रहती हैं—उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

इस विवेचन में हमारे प्रश्न का भी समाधान निहित है। साहित्यिक क्रान्ति के लिए नये प्रयोग अनिवार्य हैं, किन्तु वे नितान्त मौलिक नहीं होते, उन प्रयोगों की प्रेरणा परम्परा से चले आ रहे विचारों से ही प्राप्त होती है। यद्यपि यह सत्य है कि साहित्यकार समाज में रहता है और समाज का प्रभाव भी उस पर पड़ता है, किन्तु उसकी अनुभूति भी मुख्य होती है, जो संस्कारतः परम्परा से प्रभावित होती है। अतः कहा जा सकता है कि साहित्य एक ऐसे भवन के समान है जिसकी नींव तो परम्परा से भरती है, किन्तु महल का ढाँचा प्रयोगों से निर्मित होता है—अतः दोनों का समन्वय परम आवश्यक है।

प्रश्न ७४—निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—

(१) बैलेड (Ballad), (२) अतियथार्थवाद, (३) निराशावाद, (४) उपदेशवाद, (५) प्रभाववाद, (६) संकलन-त्रय, (७) मुक्तछन्द, (८) ध्वनि-नाटक, (९) कहानी और निबन्ध, (१०) कहानी और रेखाचित्र, (११) शोक-गीत, (१२) कवि समय, (१३) आत्मचरित्र और जीवनचरित्र, (१४) प्रकृति-वाद, (१५) रेखाचित्र, (१६) संस्मरण, (१७) जीवनी, (१८) रिपोर्ताज, (१९) हिन्दी उपन्यास को अभी तक अपना मुहावरा नहीं मिला है।

(१) बैलेड (Ballad)—बैलेड चौदह पंक्तियों की एक ऐसी कविता का नाम है जो मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सरल, स्वाभाविक तथा अकृत्रिम रूप में निदर्शन करती है। बैलेड शब्द का विकास 'बेलोर' (समवेत नृत्यगीत) से हुआ है। इटली में इसे 'बैलोर' कहते थे और फ्रांस तथा स्कॉटलैण्ड आदि में आदिम जातियों के समवेत नृत्य को 'कैरोल' कहते थे। यूरोप में प्रचलित 'बेले' नृत्य का मूल भी यह 'बेलोर' नृत्य है। इस नृत्य का आरम्भ आदिम मानव की प्रसन्नता, उत्साह, शोक तथा धार्मिक भावनाओं क

अभिव्यक्ति के लिए हुआ करता था, इसी से वर्तमान काव्यरूप 'बैलेड' का विकास हुआ।

बैलेड, इस दृष्टि से, जनकाव्य का ही एक रूप है, जिसका आविर्भाव नृत्य, संगीत तथा गायन से हुआ है। प्राचीनकालीन मानव अपने देवता को रिझाने के लिए समूह रूप में एकत्र होकर आग के चारों ओर बैठ जाते थे, उनमें से एक व्यक्ति गीत की एक कड़ी गाता था और दूसरे शेष व्यक्ति उसी पंक्ति को दुहरा कर नाचते गाते थे। गीत का विषय एक साहसिक योद्धा अथवा ऐतिहासिक व्यक्ति का कथानक होता था। उसकी वीरता की गाथा जनश्रुतियों के माध्यम से रोमांचित बनती थी। बैलेड में भी इन्हीं जनश्रुतियों को आधार बनाया जाता है। रोबिनहुड, चेवी चेज और ब्राउन आदि की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं।

बैलेड में स्वाभाविकता, सरलता, अकृत्रिमता, संगीतात्मकता, प्रवाहमयता, गेयता तथा अनुभूति का सुन्दर समन्वय होता है। इसमें जंगली अथवा प्राकृतिक दृश्यों का रोचक वर्णन, प्रेम की मादक रंगीनियाँ और साहसिक घटनाओं के मोहक वर्णन आदि मिलते हैं। अतः बैलेड जन-जीवन का श्रेष्ठ रूप है।

बैलेड में पद-संचालन की गति ही उनके गीत के स्वर नियत करती है, इससे गेयता का गुण अधिक बढ़ जाता है। परिणाम यह होता है कि इसमें लय और ताल भी स्वतः आबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार सामूहिक नृत्यगीत की परम्परा ही आगे चलकर विकसित हुई और इसमें प्रार्थना तथा साहसिक योद्धा के वर्णन के साथ भावों के उद्रेक को भी विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। बैलेड काव्य में अनुभूति की प्रधानता होती है। कवि निश्छल रूप से अपनी भावनाएँ अभिव्यक्त कर देता है, वागाडम्बर की अपेक्षा बैलेड में प्रवाहमयता तथा गेयता पर विशेष ध्यान दिया जाता है और इस प्रकार वर्तमान काव्य-रूप बैलेड अपने मूलरूप से अब पूर्णतया भिन्न हो गया है।

(२) **अति यथार्थवाद** (Surrealism)—यथार्थवाद का अत्यन्त विकृत रूप अतियथार्थवाद है। संसार को घृणा, क्लेश, दुःख, अत्याचार, शोषण आदि का घर मानकर काव्य में कलुषित भावनाओं का चित्रण करना ही अतियथार्थवादी कलाकार अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझता है। अतियथार्थवादियों के अनुसार कला या साहित्य को बौद्धिक न होकर वैयक्तिक होना चाहिए, क्योंकि बौद्धिक

होने से मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियों के अन्तर्विरोध के चित्रण की सम्भावना कम हो जायेगी। नीति तथा आदर्शपरक दृष्टिकोण को अतियथार्थवाद अनावश्यक और निरर्थक समझता है। वह कोई भी नैतिक बन्धन स्वीकार नहीं करता, अपनी कलुषित वृत्तियों का भी समग्र उद्घाटन करता है।

अन्य विचारधाराओं की तरह अतियथार्थवाद का जन्म भी बींसवी सदी के प्रथम चतुर्थांश में, फ्रांस में हुआ। फ्रांसीसी साहित्य में यह आन्दोलन प्रतिक्रियात्मक रूप में प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में इस वाद के समर्थक चार्ल्स वाल्तेयर रहे। उन्होंने १९वीं शताब्दी में ही इसका निदर्शन किया। पर २०वीं सदी में इसने व्यावहारिक विद्रोहात्मक रूप धारण कर लिया। सन् १९३० के बाद यह फ्रांस के बाहर भी आरम्भ हुआ और साहित्य व समाज पर इसके स्पष्ट प्रभाव दिखाई देने लगे। परिणाम यह हुआ कि इस वाद के विचारक सभ्यता तथा जड़-मूल्यों की अवहेलना करके मानव की अवहेलित आदिम तथा पाशव क्षमताओं को अधिक प्रश्रय देने लगे।

अतियथार्थवाद का उद्देश्य यथार्थ की सीमाओं का विस्तार है। यह वाद, इसलिए स्वप्न तथा अपने आप होने वाले साहचर्य का केवल साहित्य में ही उपयोग नहीं करता, वरन् उनको जीवन की व्याख्या तथा विभिन्न रूपों में मानव-चरित्र का सम्पूर्ण विश्लेषण करने में आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण मानता है। फ्रांसीसी लेखक आन्द्रे ब्रेतन ने इसे सर्वाधिक मान्यता दी। हर्बर्ट रीड ने इसके विषय में लिखा है कि "स्वतःचालित लेखन से हमारा तात्पर्य मन की उस अवस्था से है, जिसमें अभिव्यक्ति तत्काल तथा नैसर्गिक रूप में होती है, जहाँ कि भाव-चित्र और उसकी शाब्दिक प्रतिकृति में समय का कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

अतियथार्थवाद में जीवन का ऐकान्तिक काल्पनिक पक्ष ही अधिक प्रिय है। इसका प्रमुख ध्येय व्यक्ति के अन्तर्विरोधों का चित्रण करना है। इसी से यह सभी प्रचलित मान्यताओं का विरोध करता है और साहित्यकार की पूर्ण-स्वच्छन्दता का कट्टर समर्थक है।

(३) **निराशावाद** (Pessimism)—आधुनिक युग में एक नवीन प्रवृत्ति निराशावाद का जन्म हुआ है जो अंग्रेजी शब्द 'Pessmism' का हिन्दी पर्याय है। इस शब्द की व्युत्पत्ति लेटिन शब्द 'Pessimus' से हुई है। इसे आशावाद (Optimism) का विरोधी अथवा उसका विपरीतार्थक वाद कह सकते हैं।

निराशावादी विचारक जीवन को दुःखमय मानता है। उसकी दृष्टि में यह संसार मिथ्या है, नाशवान् है, इसमें जीने और पलने वाला प्रत्येक पदार्थ नाशवान् है और जहाँ नाश है, वहाँ मृत्यु है, जहाँ मृत्यु है, वहाँ दुःख है; इसलिए प्रत्येक जीवन दुःखमय है। इसीलिए निराशावादी समीक्षक का कथन है कि—"सांसारिक उद्देश्यों के पीछे भटकना व्यर्थ है, क्योंकि मनुष्य जो भी इच्छा करता है, उसकी तृप्ति कभी नहीं होती, उसे कभी सन्तुष्टि नहीं होती, अतः वह कभी नीरसता से बचकर नहीं निकल सकता।"

निराशावादी विचारकों के दुःख के विषय में दो प्रकार के विचार हैं—

(१) जो दुःखों को शाश्वत तथा सार्वकालिक मानते हैं।

(२) जो निकट भविष्य में ही दुःख का आगमन मानते हैं।

प्रथम प्रकार का निराशावाद दर्शन के निकट है और सदैव, सर्वत्र निराशा और दुःख ही देखता है। वह एक दुःख के जाने और दूसरे दुःख के आने की उस विभाजक-रेखा के परिवर्तन को सुख मानता है; पर दूसरे प्रकार के विचारक भविष्य से भयभीत रहकर संसार के वर्तमान सुखों से पराङ्मुख हो जाते हैं। ये वर्तमान सुखों की अवहेलना अथवा उनका खण्डन तो नहीं कर पाते, पर भविष्य के दुःख के कारण वर्तमान को भी दुःखमय मानते हैं।

ये निराशावादी अपने को किसी क्रूर की कृपा पर आधारित मानते हैं और उनका जीवन दुःखों से (काल्पनिक दुःखों से) परिपूर्ण रहता है। इस वाद के प्रमुख विचारक इटली के लियोयार्दी के अतिरिक्त जर्मन दार्शनिक शोपेनहार तथा वान हार्नमेन हैं। निराशावाद कभी-कभी नास्तिकता की सीमा तक भी पहुँच जाता है; यहाँ तक कि उसकी वेदना ही सर्वत्र व्याप्त रहती है और कवि उन्हीं भावों में लीन रहकर अपने दुःख का रोना रोता रहता है।

इस पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव हिन्दी काव्य पर भी पड़ा है। प्रसाद और महादेवी में यह दुःखवाद विशेष रूप से मिलता है। पर मूलरूप से यह वाद कवियों की और इसलिए साहित्य की पतनोन्मुख परम्परा का द्योतक है।

(४) **उपदेशवाद** (Didacticism)—आरम्भकाल से ही काव्य-समीक्षकों ने इस बात पर बल दिया है कि काव्य में नीति या उपदेश का समावेश होना चाहिए। प्लेटो ने भी काव्य को सुधारवादी माना है और इसलिए होमर का

विरोध किया है, क्योंकि होमर ने देवी-देवताओं का भौतिक चित्रण किया था। अरस्तू ने उपदेश तत्त्व को स्वीकार किया अवश्य, पर उसको पूर्ण महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि हम कविता के उपदेशात्मक गुण की बात छोड़ भी दें तो भी वह सौन्दर्यात्मक कृति तो है ही। पर होरेस ने पुनः काव्य की उपदेशात्मकता पर बल देते हुए लिखा, "कवि को चाहिए कि वह शिक्षा दे, मनोविनोद करे या दोनों कार्य करे।"

उपदेशवाद का प्रभाव काव्य पर सोलहवीं शताब्दी तक भी कम नहीं हुआ; यहाँ तक कि १९वीं शती में कारनेई ने कहा कि "नाटक का उद्देश्य केवल दर्शकों को प्रसन्न करना है, पर इसका यह उद्देश्य नहीं कि जो लोग काव्य का उद्देश्य शिक्षा और आनन्द समझते हैं, उनका मैं विरोध करता हूँ।" उसका विचार था कि "जो वस्तु सुन्दर और आनन्ददायक होगी, उसमें कुछ न कुछ उपदेशात्मकता तो होगी ही।"

रस्किन जैसे विद्वानों ने भी इसी तथ्य पर बल देते हुए कहा, "कला का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह जनता को शिक्षा दे।" टालस्टाय और मौरिस ने भी इसी का प्रबल समर्थन किया।

वास्तव में उपदेशवाद कोई वाद न होकर मानव की शिक्षा देने की प्रवृत्ति का द्योतक है। यह प्रवृत्ति सदा से ही रही है और रहेगी। इसी से प्रेरित होकर वह काव्य के माध्यम से भी उपदेश देने की बात सोचता है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी इसके स्रोत भरत, मम्मट आदि में प्राप्त हो जाते हैं। काव्यहेतुओं का वर्णन करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से 'कान्ता-सम्मित उपदेश' का विवेचन किया है।

लोकहित की दृष्टि से भरत ने भी इसका प्रतिपादन किया है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी काव्य के लोकमंगल पक्ष का विवेचन करते हुए उसी को श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। उपदेशवाद का इस तरह मानव की मूलवृत्ति—दूसरों को शिक्षा देना—से सम्बन्ध है। कवि भी इसी भावना के करण उपदेश देने लगता है, पर यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि न तो इति ही अच्छी होती है और न अति ही; काव्य में यदि उपदेशों की भरमार हो गयी तो वह कव्य न रहकर केवल नीतिशास्त्र रह जायेगा और नीति-विहीन काव्य उच्छृंखलता के दायरे में चला जायेगा; अतः दोनों का समन्वय आवश्यक है।

(५) प्रभाववाद—कला और साहित्य में परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में नवीन सिद्धान्तों, राजाओं और वादों का जन्म होता रहा है, प्रभाववाद भी उन वादों में से एक है। परन्तु इस वाद का सम्बन्ध दर्शन से उतना नहीं है, जितना अन्य वादों का। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि अन्य कलावादों की भाँति ही इसका जन्म भी १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में फ्राँस में हुआ। इसके उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए अनातोल फ्राँस ने लिखा है कि इसका उद्देश्य 'उत्कृष्ट कृतियों के बीच एक आत्मा के अनुभव' का प्रयास है। इससे स्पष्ट हुआ कि इस वाद का जन्म भी कला की परम्परागत धारणाओं एवं रूढ़ियों को तोड़ कर एक नवीन दृष्टि से उनकी समालोचना करना है। समालोचना की दृष्टि से भी इसमें व्यक्तिवादी भावना पर अधिक बल दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रभाववादी आलोचना में व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ और संवेदनशीलता अधिक पाई जाती हैं।

प्रभाववाद का सम्बन्ध आधुनिक काल के सामाजिक और बौद्धिक परिवेश से है। आज का समाज अत्यधिक मात्रा में उद्योगकेन्द्रित हो गया है; जिससे जीवन के जीने के तरीके में अन्तर आ गया है। जीवन अत्यधिक मात्रा में संकटमय हो गया है और इससे कला के दृष्टिकोण में भी अन्तर आ गया है। जीवन में कुछ नया मोड़ लाने का प्रयत्न ही प्रभाववाद में सन्निहित है। आर्नल्ड हाडज़र ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"क्योंकि प्राविधिकी के द्रुत विकास से न केवल ढंग-ठौर के परिवर्तन की गति में तीव्रता आती है, अपितु सौन्दर्य-सुरुचि की कसौटी भी बदलती जान पड़ती है, इससे नवीनता लाने का एक अर्थहीन और निष्फल उन्माद-सा छा जाता है—नवीनता लाने के लिए ही नवीनता लाने का एक व्याकुल प्रयत्न....! इस प्रकार आधुनिक प्राविधिकी जीवन के प्रति हमारे सारे मनोभाव में एक अभूतपूर्व गत्यात्मकता उत्पन्न कर देती है और प्रभाववाद में गति और परिवर्तन की यह नई भावना ही सबसे अधिक अभिव्यक्त हुई है।

कला के क्षेत्र में प्रभाववाद ने अनेक तत्त्वों का समावेश किया है। इनमें प्रमुख हैं: कलाकेन्द्रों का नगरों में स्थापन तथा नगरों के जीवन का प्रभावांकन करना; नवीन ऐन्द्रिय बोध और संवेदनशीलता का सम्मिश्रण इत्यादि। प्रभाववाद ने चित्रकला को भी नवजीवन प्रदान किया है। प्रभाववाद साहित्य और कला दोनों ही क्षेत्रों में विकसित हुआ है, परन्तु साहित्य में

इसका रूप कला की अपेक्षा कुछ कम स्पष्ट हुआ है। साथ ही, इन दोनों में परस्पर अन्तर और विरोध भी है। यदि इन दोनों में कोई सम्बन्ध है तो वह केवल इतना ही कि साहित्य का प्रभाववाद और कला का प्रभाववाद दोनों ही सत्व के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण को लेकर चले हैं। दोनों ही यह मानते हैं कि काल प्रवाहमान है और काल के किसी भी क्षण को रोककर उसका प्रभाववादी चित्रांकन करना। काल का माध्यम ही वास्तव में प्रभाववाद का प्राण है।

प्रभाववाद का सम्बन्ध सृजनात्मक साहित्य से अधिक समालोचना से है। समालोचना के क्षेत्र में अनातोल फ्रांस और उनके अनुयायियों ने प्रभाववाद को आत्मपरकता का पर्याय माना। आत्मपरकता और प्रभाववाद में अन्तः-सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए अनातोल फ्रांस ने लिखा है : "जैसे कोई कला वस्तुपरक नहीं है उसी प्रकार वस्तुपरक आलोचना जैसी भी कोई चीज नहीं है और वे जो कहते हैं कि आलोचना में वे अपनी बात छोड़कर कोई दूसरी बात कहते हैं, भ्रम और मोह में पड़े हुए है। सच तो यह है कि अपने से बाहर कोई जाता नहीं।" इसी प्रकार की आत्मपरकता वाल्टर पेटर में भी देखने को मिलती है। प्रभाववाद को कुछ सीमा तक मानने वालों में डैचिज़ का नाम भी उल्लेख्य है। ए० सी० स्विनवर्ग ने भी मध्यम मार्ग अपनाया है। वे आलोच्य विषय पर सहानुभूतिपूर्ण विचार के साथ-साथ गम्भीर आलोचनात्मक दृढ़ता को बनाए रखने की भी बात करते हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार जोजफ कानरैड ने भी प्रभाववाद को स्वीकार किया है। यूरोप में प्रभाववाद १८७५ से १६१० तक रहा। १६२० में नई धाराओं का जन्म हुआ और प्रभाववाद का युग समाप्त हो गया। टी० एस० ईलियट, टी० ई० ह्यूम, एजरा पाउंड जैसे बिम्बवादियों ने प्रभाववाद की कड़ी आलोचना की। टी० एस० ईलियट ने प्रभाववाद की आलोचना करते हुए लिखा है—"हम देखते हैं कि यह एक अभिलेख है जो व्याख्या भी है और रूपान्तरण भी, क्योंकि इसे स्वयं हम पर प्रभाव छोड़ना है और ये प्रभाव जिस मात्रा में आलोचक द्वारा इस तक पहुँचाए जाते हैं उतनी ही मात्रा में उत्पन्न भी किए जाते हैं।" ईलियट ने भावुक आलोचक को अपूर्ण आलोचक माना है, क्योंकि उस भावुक कलाकार के भाव अपने हैं, कलाकृति के नहीं। इस प्रकार प्रभाव-

वाद ने एक समय तक यूरोप के साहित्य और कला को अत्यधिक मात्रा में प्रभावित किया और युग के समस्त चिन्तन और दर्शन को अपने साथ जोड़ लिया। सापेक्षवाद, आत्मनिष्ठावाद, मनोविज्ञानवाद, इतिहासवाद, प्रति-व्यवस्थावाद—सभी इससे प्रभावित रहे हैं।

(६) **संकलन-त्रय** (Three Unities)—अधिक-से-अधिक वास्तविकता के प्रदर्शन की दृष्टि से पाश्चात्य विचारकों ने नाटक की समीक्षा करते समय स्थान और कार्य के संकलन का वर्णन किया है। यद्यपि यूरोपीय विचारकों की तरह भारतीय विचारकों ने भी इसे स्वीकार किया है, पर माना यही जाता है कि इसकी चर्चा सर्वप्रथम अरस्तू ने महाकाव्य और त्रासदी का अन्तर स्पष्ट करते हुए की है। उन्होंने लिखा है—

"Epic poetry and tragedy differ, again in their length, for tragedy endeavours, as far as possible, to confine itself to a single revolution of the sun, or but slightly to exceed this limit, where as the epic action has no limit of time."

अरस्तू नाटक में यथासाध्य एक दिन या कुछ अधिक काल की घटना को लेना ही आवश्यक समझते थे। इसका प्राचीन यूनान में इतना प्रचलन हुआ कि नाटक चौबीस घण्टे चलते रहते थे और उनमें एक दिन में घटने वाली घटनाओं का ही निदर्शन होता था, पर आज इसके रूप में थोड़ा परिवर्तन भी हो गया है। अत: घटना-संकलन से तात्पर्य यही है कि वास्तविकता की रक्षा के लिए कम-से-कम समय की ओर लगातार बीतने वाले समय की घटना का ही संकलन होना चाहिए। एक घटना और दूसरी घटना के बीच व्यवधान न हो।

स्थान-संकलन से तात्पर्य यह है कि किसी ऐसे स्थान का नाटक में निदर्शन न हो जो असम्भव-सा हो; साथ ही एक घटना के स्थान तथा दूसरी घटना के स्थान में भी बहुत भेद न हो। स्थान-संकलन के निर्वाह के लिए कार्य-व्यापार एक नगर या ऐसे एक स्थल तक ही सीमित हो, तो उत्तम है।

काल-संकलन के अन्तर्गत विचारकों ने समय का ध्यान रखा है। एक घटना विगत की ले ली जाय और दूसरी भविष्य में सम्भावित, तो उससे अस्वाभाविकता उत्पन्न हो जाती है। इस सम्बन्ध में अरस्तू का विचार है कि

नाटक का विस्तार उतना ही होना चाहिए जितने से कथानक का स्वाभाविक विस्तार दिखाया जा सके।

नाटकों की विवेचना में इस संकलन-त्रय का विशेष महत्त्व है। इनमें मुख्यता कार्य संकलन की है। स्थान और समय का संकलन तो उसके अंग मात्र हैं। इनके प्रयोग से नाटक में स्वाभाविकता रहती है और तदर्थ प्रेक्षक के मन को रमाने की शक्ति रहती है। भारतीय काव्यशास्त्र में भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति के प्रसंग में इसके ऊपर पर्याप्त बल दिया है।

(७) **मुक्त-छन्द**—वर्तमान हिन्दी कविता में प्रयोगवादी कविता के प्रभाव से एक ऐसी कविता का जन्म हुआ जो छन्द की सीमाओं से अलग होकर मुक्त हो गयी। इस कविता में प्राचीन छन्द-विधान की परम्परा का पूर्ण बहिष्कार किया गया है, कवि अपनी भावानुभूति को तीव्रतम शब्दों के माध्यम से अधिक प्रभावशाली बनाकर प्रस्तुत करता है। अनुभूति का सम्बन्ध हृदय से होता है, इसलिए वह किसी प्रकार के आडम्बर को स्वीकार न कर हृदय की भावनाओं को अकृत्रिम रूप से प्रस्तुत करता है—इसलिए वह छन्दों की कृत्रिमता भी अमान्य करता है।

कालान्तर में यह छंदहीनता परम्पराबद्ध होकर मुक्त-छंद के नाम से अभिहित होने लगी, छंदहीन कविता के इस स्वरूप को भी विचारकों ने छन्दबद्ध कर दिया और इस प्रकार के छन्द को भी एक प्रकार का छन्द माना, जिसे मुक्त-छन्द कहा गया। वर्तमान हिन्दी कविता में इसका बहुत प्रचलन है।

'मुक्त' शब्द 'मुच्' धातु से भूतकाल में प्रयुक्त होने वाले निष्ठार्थ 'क्त' प्रत्यय लगाकर बना है। यह विशेषण-सूचक शब्द है। इसके अनेक अर्थ हैं। जो सभी प्रकार के बन्धनों से रहित हो, स्वतः पर्यवसित हो, वह मुक्त होता है, अतः मुक्तछन्द वह छन्द हुआ जो किसी वाद की सीमा में न आकर स्वतः प्रेरित भावनाओं का निदर्शन करता है। हिन्दी में मुक्त छन्द का खुल कर प्रयोग हो रहा है। निराला, प्रभाकर माचवे, अज्ञेय आदि इसके प्रमुख कवि हैं। इस छन्द का सुन्दर उदाहरण 'अज्ञेय' के 'हरी घास पर क्षण भर' नामक कविता में प्राप्त होते हैं; यथा—

वह हम भी हों
तो यह हरी घास ही जाने
जिसके खुले निमन्त्रण के बल
जग ने सदा उसे रौंदा है
और वह नहीं बोली,
नहीं सुनें हम वह नगरी के नागरिकों से
जिनकी भाषा में अतिशय चिकनाई है साबुन की
किन्तु नहीं है
करुणा।

इस कविता में अनुभूति और विचारों की प्रधानता है, भाषा में शब्दों की संक्षिप्तता पर जोर दिया गया है, पर पंक्तियाँ छोटी-बड़ी हैं। इसी को काव्य-शास्त्र में मुक्तछन्द की संज्ञा दी गयी है।

(८) ध्वनि-नाटक (Radio Play)—ध्वनिरूपक अथवा ध्वनि-नाटक शब्द अपने व्यापक अर्थ में रेडियो-नाटक के लिए प्रयुक्त होता है। यह मूलतः श्रव्य नाटक होता है और इसका आधार ध्वनि है। ध्वनि-नाटकों में कथा, संवाद, दृश्य-विधान सभी कुछ रेडियो द्वारा ही श्रोताओं को प्रेषणीय बनाता है। डा० रामगोपालसिंह चौहान के अनुसार, "ध्वनि ही रेडियो-नाटक का मूल है। रंग नाटकों के तीनों तत्त्व—कथा, संवाद और दृश्य-विधान—यद्यपि रेडियो नाटक के भी मूलतत्त्व हैं, पर जैसे रंग-नाटकों में इनका मूल आधार अभिनय है, उसी प्रकार रेडियो नाटक में इन तीनों का आधार ध्वनि है।

ध्वनि-रूपक में पात्रों की वेशभूषा, वातावरण, दृश्य-विधान, पात्रों की अवस्था आदि सभी का वर्णन ध्वनि के द्वारा ही होता है; यहाँ तक कि पात्रों के मनोभाव, आंतरिक द्वन्द्व आदि का चित्रण भी ध्वनि के माध्यम से होता है। ये ध्वनियाँ तीन प्रकार की होती हैं—शब्द-ध्वनि, वाद्य-ध्वनि और प्रभाव-ध्वनि। शब्द-ध्वनि का सम्बन्ध संवादों से है, यही ध्वनि नाटक की प्रमुख ध्वनि होती है, संवादों के उच्चारण से ही ध्वनि का रूप बनता है और इसी से अवस्था, जाति, लिंग और वर्ग आदि का परिचय मिलता है। वाद्य-ध्वनि और प्रभाव-ध्वनि की सहायता से पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान, उनकी परस्पर दूरी, दृश्य-परिवर्तन, मनोभावों, वातावरण आदि का द्योतन कराया

जाता है। इसके अतिरिक्त ध्वनि-नाटकों में 'नैरेटर' (प्रवक्ता) का भी प्रमुख स्थान है।

रेडियो-नाटकों में समस्त अभिनय कण्ठ ध्वनि से किया जाता है, इसमें अंग-संचालन की अपेक्षा कण्ठ-स्वर का विशेष महत्त्व है। व्यक्ति निष्क्रिय बैठकर भी अपने स्वर से इस प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करता है, जिससे उसकी गतिशीलता ज्ञात हो। वातावरण की पूर्ति के लिए संगीत का प्रयोग किया जाता है। इसकी सफलता-असफलता के आधार संवाद हैं। संवादों में ध्वनि का ऐसा उतार-चढ़ाव अपेक्षित है जिससे अनेक मानवीय भावनाओं की कुशल अभिव्यक्ति की जा सके। ये ध्वनियाँ श्रोताओं की मनःस्थिति को ध्यान में रखकर उत्पन्न की जाती हैं; क्योंकि श्रोता के समक्ष ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता और वह समूह रूप में न होकर अकेला अथवा दो-चार की संख्या में होता है। अतः ध्वनि-नाटक की कथावस्तु सरल और आडम्बर-विहीन होनी चाहिए और पात्रों की संख्या भी यथासम्भव कम हो, ताकि श्रोता कण्ठ-स्वर के आधार पर उनका भेद कर सकें। सम आयु के पात्रों की अपेक्षा उनमें आयु तथा जातिगत भेद भी आवश्यक है, ताकि कण्ठ-स्वर सरलता से समझे जा सकें।

आजकल रेडियो नाटक का काफी प्रचलन है और यह साहित्य की एक लोकप्रिय विधा है।

(९) कहानी और निबन्ध—प्रभाव और विस्तार की दृष्टि से आज की कहानी निबन्ध के बहुत निकट आ गई है। यहाँ पर निबन्ध से तुलना करते समय वैयक्तिक और ललित निबन्धों से ही तात्पर्य है। दोनों में जीवन का खण्डमात्र प्रस्तुत किया जाता है और मनोरंजक, चित्ताकर्षक तथा प्रभावशाली दृश्य का अंकन होता है। कभी-कभी वैयक्तिक निबन्ध, जैसे चार्ल्स लैम्ब के अंग्रेजी में तथा महादेवी के हिन्दी में, भी कहानी का-सा आनन्द देते हैं और कहानी की तरह शुद्ध संवेदना को उद्बुद्ध करते हैं। इस प्रकार के निबन्ध कहानी के ही एक प्रतिरूप कहे जा सकते हैं, क्योंकि वर्तमान कहानी भी विचार-प्रधान हो गयी है, उसमें घटनाओं के साथ-साथ स्थिति और वातावरण का अत्यधिक चित्रण किया जाता है।

फिर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है—और यह अन्तर शैली तथा विचार दोनों ही प्रकार का है। निबन्ध की शैली प्रायः वर्णनात्मक होती है अथवा

विचारात्मक; पर कहानी की शैली मनोविश्लेषणात्मक होती है। कहानी में पात्रों के मन तथा स्थितियों का जितना अधिक मनोवैज्ञानिक चित्रण होगा, वह कहानी उतनी ही सफल होगी, पर निबन्ध में मनोविश्लेषण की अपेक्षा विचारों का गुम्फन ही अधिक होता है, फलतः शैली में भी भेद हो जाता है।

वैयक्तिक और समूहगत विशेषता के आधार पर भी कहानी और निबन्ध का अन्तर देखा जा सकता है। कहानी में भी यद्यपि ऐसी वैयक्तिक भावनाएँ ली जाती हैं जो प्रत्येक में पाई जायँ, पर उनका चित्रण अप्रत्यक्ष होता है, प्रत्यक्ष में कहानी व्यक्तिपरक होती है, जबकि निबन्ध में सामूहिक मानवीय चेतना को प्रत्यक्षतः लिया जाता है। कहानी की यह चेतना सामाजिक और पारिवारिक स्तर पर एक व्यक्ति पर आधारित होती है, जबकि निबन्ध में वह समूहगत होती है।

निबन्ध में बौद्धिकता का प्रत्यक्ष एवं विशेष आग्रह होने के कारण वह प्रबुद्ध पाठकों के स्तर का होता है, उसमें वैचारिकता का प्राधान्य समग्रता से होता है, जबकि कहानी घटना पर आधारित होकर साधारण पाठक के स्तर बोध को भी जाग्रत कर देती है। इसके अतिरिक्त निबन्ध में कल्पना की अपेक्षा गाम्भीर्य अधिक होता है, कहानी में गम्भीर विचारों को भी रोचक शैली में अभिव्यक्त किया जाता है और कल्पना के माध्यम से उन्हें आकर्षक बनाया जाता है।

निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट होती है, कहा भी है, निबंध सच्चे रूप में वैयक्तिक होता है, कहानी में लेखक का व्यक्तित्व अप्रत्यक्ष होता है, उसका आभास-मात्र होता है।

(१०) **कहानी और रेखाचित्र**—आज की कहानी प्रयोगवाद के चक्कर में फँसकर इतनी परिवर्तित हो गयी है कि इसके नित्य नवीन रूप ही प्रस्फुटित होते रहते हैं। शैलीगत भेद के कारण वर्तमान कहानी रेखाचित्र के भी अधिक निकट लगती है; इसी से अनेक विद्वान् कहानी और रेखाचित्र को एक ही कह देते हैं। कहानी और रेखाचित्र को एक मानने वाले तथा इनको दो विधा मानने वालों के तर्कों का भी खण्डन करते हैं। उनका मत है कि कहानी और रेखाचित्र को दो पृथक्-पृथक् विधाएँ मानने के लिए दो तर्क दिये जाते हैं; प्रथम, यह कि कहानी में घटना होती है और रेखाचित्र में इसका अभाव; दूसरे रेखाचित्र में चरित्रांकन जितना प्रधान होता है, कहानी

में उतना नहीं होता। कहानी और रेखाचित्र को एक मानने वाले इन दोनों तर्कों का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार घटना कहानी के लिए अनिवार्य नहीं है, क्योंकि वह स्थूल न होकर मानसिक भी हो सकती है और रेखाचित्र में भी घटना का नितान्त अभाव नहीं होता; वह भी किसी-न-किसी रूप में व्याप्त होती है। इसके साथ चरित्र तत्त्व भी दोनों में समान होता है। आज की कहानी में घटना की अपेक्षा चरित्र पर विशेष बल दिया जाता है।

यही कारण है कि डा० नगेन्द्र ने भी दोनों को पर्याप्त निकट (एक नहीं) माना है और लिखा है कि "दोनों का अन्तर प्राणगत न होकर शरीरगत है। "वस्तुतः कहानी और रेखाचित्र का अन्तर शिल्प के आधार पर ही देखा जा सकता है।" शिल्पगत इस अन्तर को निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(क) रेखाचित्र में कहानी की तरह न तो उतार-चढ़ाव होता है और न घटनाओं का संघर्ष ही। रेखाचित्र में तो शब्दचित्र होते हैं—रेखाएँ शब्दों के माध्यम से व्यक्त की जाती हैं—मूर्तरूप, रंग नहीं होता। रेखाचित्र में तथ्यों के संयोजना की अपेक्षा केवल उद्घाटन होता है जो स्वतः खुलते जाते हैं।

(ख) कहानी में घटना अथवा चरित्र का विश्लेषण हो सकता है, पर इसमें उतना अनिवार्य नहीं होता जितना रेखाचित्र में; रेखाचित्र में तो सम्पूर्ण चरित्र ही विश्लेषणात्मक होता है। कहानी गत्यात्मक होती है, रेखा-चित्र स्थिर होता है और फिर रेखाचित्र में केवल एक व्यक्ति का ही चित्र होता है, पर कहानी में प्रसंगतः अन्य व्यक्ति भी आ जाते हैं। रेखाचित्र में व्यक्ति का अंकन समाज के संसर्ग से होता है, कहानी में कथा का विकास होता है, पर रेखाचित में उसका सहज अंकन।

(११) **शोकगीत** (Elegy)—शोकगीत किसी मृत व्यक्ति के प्रति लिखा जाता है। इसमें स्वाभाविकता होती है; स्वाभाविकता के अभाव में यह प्रभाव-हीन होता है। इस प्रकार के गीत अंग्रेजी भाषा से हमारे साहित्य में आये हैं। ये गीत कई प्रकार के हो सकते हैं—

(अ) एक व्यक्ति के शोक को व्यक्त करने वाला गीत।

(आ) सम्पूर्ण समाज का शोक व्यक्त करने वाला गीत।

(इ) किसी नगर के विध्वंस पर जनता का दुख वर्णन करने वाला गीत।

(ई) किसी मृत व्यक्ति का गुण-वर्णन करने वाला गीत।

स्पेन्सर की 'एस्ट्रोफेल,' मिल्टन की 'लिसीडस' अंग्रेजी साहित्य के सुन्दर शोकगीत माने जाते है। दार्शनिक कविताएँ भी कभी-कभी इसी कोटि के अन्तर्गत आ जाती हैं। जैसे शेली का 'Adonais', जिसमें व्यक्तिगत शोक गौण है। मृत मित्र का विचार करते हुए कवि ने मानव-जीवन के सम्बन्ध में अपने हृदयगत भावों को प्रस्तुत किया है। कुछ शोकगीतियों में वाङ्मय-विषयक विचार भी व्यक्त किये गए हैं। जैसे विलियम वाटसन के 'Wordsworth's Grave' में।

'शोकगीत' अथवा 'विलापिका' का एक भेद 'Pastoral Elegy' है। इसमें मृत व्यक्ति के प्रति सहज स्वाभाविक रूप में शोक व्यक्त नहीं किया जाता, बल्कि इसमें भाषा आलंकारिक तथा चामत्कारिक होती है। कवि इसमें स्वयं को गोप मानता है; मृत मित्र को भी गोप मानता है। फिर गोपों का जीवन, उसके पालित पशुओं, मैदानों, घाटियों एवं पर्वतीय ढालों पर बिताये गए उनके स्वच्छन्द जीवन का चित्रण करता है तथा मित्र की मृत्यु से उत्पन्न दुःख का वर्णन करता है। ऐसे चित्रण में कृत्रिमता का आना स्वाभाविक है। मिल्टन का 'लिसीडस', जिसमें कवि ने अपने मित्र सहपाठी एडवर्ड किंग की असामायिक मृत्यु पर शोक व्यक्त किया है, इसी प्रकार की रचना है। प्राचीन ग्रीक कवियों ने इस प्रकार के अनेक शोकगीत लिखे थे। अंग्रेजी में भी मिल्टन, मैथ्यू आर्नाल्ड ने इस प्रकार के शोकगीतों की रचना की थी। इस प्रकार यह काव्यरूप ग्रीक से अंग्रेजी में और अंग्रेजी से हिन्दी में आया है।

इन शोकगीतों के द्वारा मानव की सहज भावनाओं का निराशावादी दृष्टिकोण से आकलन किया जाता है। हिन्दी में महाकवि निराला का 'सरोज स्मृति' गीत, जो अपनी पुत्री सरोज के निधन पर लिखा गया था, उत्कृष्टतम शोकगीत है।

(१२) **कवि-समय**—कवि-समय का शाब्दिक अर्थ है कवियों का आचार या सम्प्रदाय। अर्थात् ऐसी बातों का वर्णन जो समय, देश तथा स्थान आदि के विपरीत होते हुए भी जन-परम्परा से चले आने के कारण कवियों में मान्य हैं। राजशेखर का कथन है कि प्राचीनकाल के कवि परम्परा से जिन बातों का वर्णन करते आ रहे हैं, वे बातें यदि अब इस देश और काल में नहीं भी मिलतीं, तो भी उन्हें दोष नहीं कहा जा सकता। इसलिए ऐसे वर्णनों को

'कवि-समय' कहा जाता है। पाश्चात्य विचारकों ने भी कवि-समय को मान्यता दी है।

प्लेटो ने कवि द्वारा वर्णित इस कवि-समय को सत्य के अन्तर्गत माना है। उन्होंने सत्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"जब कभी कई प्राणियों की वस्तुओं की एक सामान्य संज्ञा होती है तो हम कल्पना कर लेते हैं कि उनका एक सामान्य आदर्श या रूप होगा।"

इस प्रकार प्लेटो सामान्य सत्य को ही वास्तविक सत्य मानते हैं, पर वह प्रचलित परम्पराओं की भी अवहेलना नहीं कर पाते।

ये कवि-समय तीन प्रकार के होते है—(१) स्वर्गीय कवि-समय, (२) पातालीय कवि समय और (३) लौकिक कवि समय।

कवि प्रायः लौकिक कवि-समयों का ही वर्णन करते हैं। इनमें प्रकृति और मानवीय चेष्टाओं का अटूट सम्बन्ध है। कवि अपनी भावना से प्रकृति के कुछ अस्वाभाविक तत्त्वों का सुन्दर समन्वय करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में इन कवि-प्रसिद्धियों का विस्तृत विवेचन किया है। विषय के अनुसार इन्हें निम्नलिखित पाँच वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) वृक्ष, लता, पुष्पादि सम्बन्धी कवि-समय।
(२) पक्षियों से सम्बन्धित कवि-समय।
(३) रंग-सम्बन्धी कवि-समय।
(४) कुछ संकीर्ण कवि-समय।
(५) अन्य विषयक कवि-समय।

समग्रतः कहा जा सकता है कि कवि-प्रसिद्धियाँ भौतिक जगत् की वास्तविकता में न होने पर भी कवियों की परम्परागत मान्यताएँ हैं: अतः इन्हें दोष नहीं कहा जा सकता। ये तो कवि के प्रकृति-निरीक्षण और शास्त्रानुसंधान का परिचायक हैं। इसके द्वारा काव्य में चमत्कार की वृद्धि होती है और इनसे सांस्कृतिक परम्परा का सजीव चित्र मिलता है। अतः ये कवि-मार्ग के उपकारक ही हैं।

(१३) **आत्मचरित्र अथवा आत्मकथा और जीवन चरित्र**—साहित्य जीवन की सरस, गम्भीर और उदात्त अभिव्यक्ति है। जीवन को जिस रूप में लेखक

देखता और समझता है, साहित्य में वह उसे उसी प्रकार से प्रस्तुत कर देता है। यह अध्ययन दो प्रकार से होता है—(१) व्यक्तियों का सामूहिक रूप से अध्ययन करके और (२) व्यक्ति-विशेष का वैयक्तिक स्तर पर अध्ययन करके। पहले प्रकार में समस्त सामाजिक जीवन आता है, इसमें घटना किसी व्यक्ति-विशेष पर केन्द्रित न रहकर सामूहिक होती है, पर वर्णित इस प्रकार की जाती है कि वह प्रत्येक की भावनाओं को साथ लेकर चलती है। सभी सामाजिक स्तर बोध की कृतियाँ इसके अन्तर्गत परिगणित होती हैं। दूसरे प्रकार के साहित्य में व्यक्ति का विशेष रूप से वर्णन किया जाता है। एक ही व्यक्ति लेखक के अध्ययन का विषय होता है। इस व्यक्ति-विशेष के अध्ययन को जीवनी कहते हैं। जीवनी का भी दो प्रकार से चित्रण होता है—

(१) व्यक्ति के गुणों से प्रभावित होकर उसके जीवन और गुणों का वर्णन।

(२) स्वयं अपनी ही जीवनी का वर्णन अपने आप ही करना।

प्रथम वर्ग को जीवन-चरित्र और दूसरे वर्ग के साहित्य को आत्मचरित्र कहते हैं। इन दोनों का ही अध्ययन यदि सुव्यवस्थित रूप से किया जाये तो बहुत ही रोचक होता है। इसलिए लिटन स्ट्रैची ने जीवनी को लेखन-कला का सबसे सुकोमल और सहानुभूतिपूर्ण स्वरूप माना है। डा० जॉनसन ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है—"जीवनीकार का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रिया-कलापों का रंजक वर्णन होता है, जो व्यक्ति-विशेष की बड़ी-से-बड़ी महानता से लेकर छोटी-से-छोटी घरेलू बातों तक सम्बन्धित होती है।"

उपर्युक्त परिभाषा जीवन के दोनों प्रकार—आत्मचरित्र तथा जीवन-चरित्र पर घटित होती है। पर जीवन में ऐतिहासिकता होते हुए भी यह व्यक्ति कार्यों का लेखा-जोखा मात्र ही नहीं होता। यह एक साहित्यिक विधा है, वास्तव में जीवनी "वह साहित्यिक विधा है जिसमें भावुक कलाकार किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन के किसी भाग का वर्णन परम सुपरिचित ढंग से इस प्रकार व्यक्त करता है कि उस व्यक्ति की सच्ची जीवन गाथा के साथ-साथ कलाकार का हृदय भी मुखरित होता है।"

जीवनी साहित्य और आत्मकथा में समानता तो यह है कि दोनों ही किसी एक व्यक्ति का अध्ययन करते हैं, दोनों का स्वरूप और आकार-प्रकार

एक-सा होता है, दोनों की सामग्री के स्रोत एक-से होते हैं, दोनों में कल्पना की अपेक्षा वस्तुस्थिति का अधिक वर्णन होता है। आत्मकथा और जीवन-चरित्र दोनों में जीवन की छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटनाओं तक का सहानुभूतिपरक विवेचन होता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में अन्तर यह है कि जीवनी किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा लिखी जाती है, लेखक किसी अन्य परन्तु विशिष्ट व्यक्ति के जीवन पर लिखता है और आत्मचरित्र का लेखक स्वयं ही चरित्र-नायक होता है, अर्थात् आत्मचरित्र अपने ही विषय में लेखक द्वारा लिखा जाता है। इसके अतिरिक्त जीवनी लिखते समय चरित्र-नायक के मित्रों, सम्बन्धियों आदि से सहायता ली जाती है पर आत्मचरित्र के लिए किसी अन्य उपादान की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि अपने विषय में लेखक जितना स्वयं जानता है, कोई दूसरा क्या जानेगा। फिर भी विषय को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए आत्मचरित्र में भी डायरी, पत्र, समकालीन लोगों के संस्मरण आदि की सहायता ले ली जाती है। पर द्रष्टव्य है कि ये स्रोत इसमें मुख्य नहीं, गौण रहते हैं, जबकि जीवन-चरित्र में ये प्रधान होते हैं। इन्हीं के आधार पर जीवन-चरित्र का निर्माण होता है—आलेखन होता है।

लेकिन ये दोनों ही विधाएँ लिखने में कठिन हैं। कार्लाइल ने इस कठिनाई की ओर संकेत करते हुए लिखा है—"एक सफल चरित्र का लिखना उतना ही कठिन है, जितना एक सफल जीवन का अपने जीवन में निभाना।" आत्मकथा लिखना यद्यपि रोचक, सुखद और प्रतिष्ठा-प्राप्ति का कार्य है, क्योंकि इसमें अपने विषय में लिखने का अवसर मिलता है, परन्तु यह कठिन इसलिए है कि इसमें लेखक को तटस्थ होकर स्वयं अपने ही कटु-सत्यों का उद्‌घाटन करना पड़ता है।

जीवनी-साहित्य के लेखन की सामग्री की उपलब्धि के लिए फैसल ने निम्नलिखित स्रोतों को माना है—(१) उस व्यक्ति पर लिखे गये अथवा उससे सम्बद्ध ग्रन्थ, (२) व्यक्ति द्वारा लिखे गये पत्र अथवा उस व्यक्ति को अन्य द्वारा लिखे गये पत्र, (३) डायरी (४) समकालीन व्यक्तियों द्वारा उस व्यक्ति के विषय में लिखे गये संस्मरण, (५) जीवित व्यक्तियों (उस व्यक्ति के मित्रों, सम्बन्धियों आदि) द्वारा उपलब्ध सूचनाएँ, (६)स्वयं उस व्यक्ति द्वारा अपने

विषय में बताये गए निर्देश, (७) उस व्यक्ति के निवास-स्थानों के भ्रमण तथा पर्यवेक्षण से उपलब्ध ज्ञान और (८) फोटोग्राफ आदि।

इनका दोनों ही प्रकार की साहित्य-विधाओं अर्थात् आत्मचरित और जीवन-चरित में प्रयोग होता है। अतः जीवन चरित्र और आत्मचरित्र मूलतः एक होते हुए भी वर्णन-भेद से पृथक्-पृथक् हैं।

(१४) **प्रकृतिवाद**—प्रकृतिवाद यथार्थवाद की ही एक शाखा मानी गई है। इसमें प्रकृतिवादी लेखक की दृष्टि अत्यन्त संकीर्ण होकर सर्वत्र कलुषता के ही दर्शन करती है। लेखक समाज के घिनौने रूप का चित्रण करता है और मानवीय दुर्बलताओं का यथार्थ के नाम पर अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करता है। उसकी दृष्टि से समाज में सर्वत्र गन्दगी-ही-गन्दगी है। मनुष्य वासना का पुतला है और अपनी वासना-तृप्ति के लिये वह व्यभिचार, हत्या, बलात्कार आदि कृत्य करता है। प्रकृतिवाद समाज की उन प्रकृतियों का ही शोध और फिर अंकन करता है, जिन्होंने समाज में अनैतिकता, व्यभिचार उच्छृङ्खलता तथा घृणा को ही फैलाया है। इसकी दृष्टि में सर्वत्र शोषण, अन्याय अनाचार, दुराचार, पतन, पराजय, रिश्वतखोरी और गन्दगी ही व्याप्त है। वह खोज-खोजकर गन्दगी और घिनौनेपन का चित्रण करता है।

प्रकृतिवादी कवि अपनी इन भावनाओं का निदर्शन तरह-तरह के शिल्प के प्रयोग द्वारा करता है। वह स्थानीय बोली, गन्दी गलियों, पारिभाषिक शब्दावली, डायरी, पत्र, समाचार पत्रों के कटिंग आदि में निर्देशित उन्मुक्त गन्दगी का प्रयोग कर अपनी भावनाओं की पुष्टि करता है। इस प्रकार का साहित्य जीवन को पतन की ओर ले जाता है। और मानव को आशा देने की अपेक्षा निराश एवं हतोत्साहित ही करता है। इससे समाज में गन्दगी ही फैलती है और कुत्सित भावनाओं के प्रसार से लोगों की वासना तीव्र हो सकती है। इसका रचयिता सत्य के एकांगी पक्ष को ही देखता है पूर्ण सत्य का आकलन नहीं करता। प्रकृतिवादी कवियों ने सतह के पीछे चलने वाले गहरे संघर्ष का आकलन नहीं किया, वे केवल शोषण, अनाचार, व्यभिचार और पतन का ही वर्णन कर सके।

प्रकृतिवाद का सबसे बड़ा दोष यही है कि वह उन संघर्षरत तथा आतुर शक्तियों को न पहचान पाया जो समस्त जर्जर तथा प्रतिगामी शक्तियों को मिटाकर नवसर्जन की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। इसकी कलुषित मनो-

वृति समाज के कलुष का ही दर्शन कर सकी। प्रकृतिवादी लेखकों की दृष्टि गन्दगी तक ही सीमित रही। यही कारण है कि ये लेखक वस्तुस्थिति के प्रति ईमानदार तथा शिल्प की दृष्टि से कुशल चितेरे होते हुए भी, एकांगी दृष्टि के कारण अपूर्ण रहे तथा इनकी उपलब्धियाँ अपर्याप्त रहीं। इसी से इन्हें सत्साहित्यकारों की श्रेणी में नहीं रखा गया और इस प्रकार प्रकृतिवाद आलोचना का विषय बना रहा।

(१५) **रेखाचित्र**—पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में जिन अधुनातन साहित्य-विधाओं का उद्‌भव हुआ है, उनमें से एक प्रमुख विधा रेखा-चित्र है। यह अंग्रेजी भाषा के स्केच (Sketch) शब्द का समानार्थी है। अन्य साहित्य-रूपों में कृतिकार केवल एक लेखक ही होता है, परन्तु रेखाचित्र में उसके अन्दर का स्वाभाविक चित्रकार भी लेखनी के साथ अपनी तूलिका चलाता है। चित्रकार अपनी तूलिका के कलामय स्पर्श द्वारा रेखाओं को सजीव रूप देने की कोशिश करता है। उसी प्रकार रेखा-चित्रकार अपने मनःपटल पर इधर-उधर फैली स्मृति-रेखाओं को कला की तूलिका से स्वानुभूति के रंग में रँगकर सजीव शब्दचित्र का रूप दे देता है। चित्रकार की सफलता उसके शब्दों के सम्यक् संगुम्फन में है। उसे कम से कम शब्दों में तीव्र एवं मर्मस्पर्शी भाव-व्यंजना करनी पड़ती है। उसके लिए हृदय की संवेदनशीलत, कल्पना का सौंदर्य, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति और शब्द-कला आवश्यक है। उसमें वृत्त से अधिक चरित्रांकन पर बल होता है। उसमें मूर्त रूप और रंग नहीं होते, केवल रेखाएँ होती हैं—पेंसिल स्केच की तरह। संक्षेप में, "रेखाचित्र वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना का शब्दों द्वारा विनिर्मित वह मर्मस्पर्शी और भावमय रूप-विधान है, जिसमें कलाकार का संवेदनशील हृदय और उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति अपना निजीपन उड़ेलकर प्राण-प्रतिष्ठा कर देती है।" जैसे चलचित्र में 'Close up' में चेहरे बड़ा होते-होते सारे पर्दे पर छा जाता है, उसी प्रकार रेखाचित्र में व्यक्ति या व्यक्तित्व ही प्रमुख हो उठता है, शेष सब अप्रधान हो जाते हैं।

रेखाचित्र न तो कहानी है, न गद्यगीत न निबन्ध और न संस्मरण; फिर भी उसमें इन सबके तत्त्वों का मिश्रण रहता है। रेखाचित्र और जीवनी में भी कुछ आन्तरिक तत्त्वों का वैभिन्न्य होता है। जीवनी की रचना के मूल में बुद्धि और भावना अधिक रहती है, कल्पना कम। परन्तु रेखाचित्र में इन तीनों

का समन्वय रहता है। रेखाचित्र में चित्रतत्त्व की सहायता से कार्य सम्पन्न, होता है, लेखक का व्यक्तित्व उभरकर आता है और उसमें मनोरंजन का पुट भी होता है। रेखाचित्र में शब्द ही रेखा का कार्य करते हैं, जो उन्हीं के अनुसार चित्र-रचना करता है। रेखाचित्र और आत्मकथा में भी अन्तर है; क्योंकि आत्मकथा वर्णन-प्रधान होती है, रेखाचित्र ऐसा नहीं है।

रेखाचित्र के विषय—मुख्यतः निम्नलिखित विषयों पर रेखाचित्र आधारित होता है। अनन्त और विशाल भवसागर की तरंगों की भाँति रेखाचित्र के अनेक विषय हो सकते हैं, परन्तु फिर भी उनका वर्गीकरण अध्ययन की सुविधा के लिए अनिवार्य है।

(अ) जड़ प्रकृति—विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों एवं उपकरणों का चित्रण हो सकता है, जैसे ऊँचे-ऊँचे पर्वत, सरिताओं का कल-कल निनाद आदि।

(आ) चेतन प्रकृति—इसके अन्तर्गत पशु-पक्षी आते हैं, जिनमें मानव की भाँति विवेक व अभिव्यंजना-शक्ति नहीं होती। इनका वर्णन इनके संकेतों एवं अस्पष्ट ध्वनियों के सहारे होता है, जो इनकी अनुभूतियों का परिचायक होती हैं।

(इ) मनुष्य—यह रेखाचित्र का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है, क्योंकि मनुष्य में विवेक और ज्ञान दोनों ही विद्यमान रहते हैं। मनुष्य अपनी तीव्र बुद्धि के द्वारा भावाभिव्यक्ति कर देता है। उसमें परीक्षण, अनुभव आदि की शक्तियाँ रहती हैं। मनुष्य के कार्य-व्यवहार, अनुभूतियाँ—सभी स्पष्ट होते हैं। मनुष्य अपने महान् कार्यकलापों द्वारा भी इसे विषय-सामग्री प्रदान कर इसके रूप-निर्माण में सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार रेखाचित्र के विषयों में मनुष्य का स्थान सर्वोपरि रहता है और यही रेखाओं का मूलभाव होता है।

रेखाचित्र के प्रकार—मानवीय अनुभूतियों की विविधता के आधार पर, वर्णन के आधार पर तथा विषय के आधार पर रेखाचित्र के अनेक प्रकार हो सकते हैं। इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :

(अ) वर्णन-प्रधान रेखाचित्र—इनमें वर्णन की प्रधानता होती है, लेखक वर्णनात्मक शैली में किसी विषय का वर्णन करता है।

(आ) संस्मरणात्मक रेखाचित्र—जो किसी के संस्मरण के रूप में लिखे जाते हैं।

(इ) **संवेदनात्मक रेखाचित्र**—जिनमें वर्ण्य-विषय के प्रति संवेदना प्रकट की जाए।

(ई) **व्यंग्यात्मक रेखाचित्र**—जिनमें किसी के प्रति व्यंग्य हो।

(उ) **रूपात्मक रेखाचित्र**—जिनमें किसी रूपक के द्वारा वर्ण्य-विषय को स्पष्ट किया जाए।

(ऊ) **मनोवैज्ञानिक रेखाचित्र**—जिनमें मानसिक वृत्तियों का सहज प्रकाशन हो।

अंग्रेजी साहित्य की तरह हिन्दी साहित्य में भी अब रेखाचित्रों की भरमार होने लगी है। इसके मुख्य लेखकों में से रामवृक्ष बेनीपुरी, महादेवी वर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि प्रमुख हैं।

(१६) **संस्मरण**—संस्मरण एक विशिष्ट साहित्यिक विधा ही नहीं, अपितु साहित्य का एक आकर्षक रूप भी है। यह आधुनिक विधा भी पश्चिम की देन है। "भावुक कलाकार जब अतीत की अनन्त स्मृतियों में से कुछ रमणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अनुरंजित कर व्यंजना-मूलक संकेत-शैली में अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से विशिष्ट बनाकर रोचक ढङ्ग से यथार्थरूप में व्यक्त करता है, तब उसे संस्मरण कहते हैं।" रेखाचित्र की तुलना यदि संस्मरण से की जाय तो मालूम होगा कि संस्मरण में कल्पना का पुट कम और इतिहास का तत्त्व अधिक रहता है। संस्मरण में लेखक अपने अनुभव तथा आँखों देखे दृश्य का वर्णन करता है। जिस प्रकार इतिहास एक वर्णनशील विषय है; वह भूत, भविष्य और वर्तमान सबको देखकर ही उस घटना का वर्णन करता है, किन्तु संस्मरण केवल पाठक पर अपने अनुभवों एवं कार्यों द्वारा एक छाप डालता है। यदि वह अपने सम्बन्ध में लिखता है तो उसे अंग्रेजी में Reminiscence कहा जाता है और यदि दूसरों के सम्बन्ध में लिखता है तो उसे Memories कहा जाता है। चर्चिल के द्वितीय महायुद्ध के संस्मरण (Memories) अमर हो चुके हैं।

आत्मचरित्र के अन्तर्गत ही संस्मरण भी आ जाता है, परन्तु संस्मरण की अपनी शास्त्रीय विशेषताएँ भी होती हैं और दोनों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर भी है। आत्मचरित्र में लेखक अपनी जीवनगाथा का वर्णन करता है और आत्मकथा का वर्णन करना ही जैसे लेखक का एकमात्र उद्देश्य हो, ऐसा प्रतीत होता है। संस्मरण का लेखक किसी भी भाव को कल्पना के आधार पर

व्यक्त नहीं करता, वरन् अपने अनुभवों द्वारा वास्तविक वर्णन करता है। इसमें कल्पना का पुट लेशमात्र भी नहीं होता। अपने चतुर्दिक् जीवन का सृजन करता है, सम्पूर्ण भावना और जीवन के साथ इतिहासकार की भाँति वह विवरण प्रस्तुत नहीं करता। संस्मरण निबन्ध, कहानी और जीवनी से भिन्न होता है। संस्मरण-लेखक, जो अपने जीवन के सम्बन्ध में लिखता है, वह रचना आत्मकथा के निकट होती है। इसमें लेखक प्रारम्भ से अन्त तक अपने जीवनकाल के अनुभवों का वर्णन करता है। आत्मकथा लिखने में लेखक पूर्णतया स्वतन्त्र रहता है, इसमें उसे किसी अन्य का आश्रय नहीं लेना पड़ता है। यदि अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में कुछ लिखता है तो ऐसी रचना जीवनी के निकट कही जायेगी। यात्रा-साहित्य भी संस्मरण के निकट आता है।

आज हिन्दी में संस्मरण-साहित्य पर्याप्त मात्रा में लिखा जा रहा है, जिस पर पाश्चात्य का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है।

(१७) **जीवनी**—पोप ने लिखा था, The proper study of mankind is man' अर्थात् मनुष्य जाति का सबसे उपयुक्त अध्ययन का विषय मनुष्य ही है। मनुष्य ही साहित्य का केन्द्र-बिन्दु है। साहित्यकार मनुष्य के सुख-दुःख, आशा-निराशा, सफलता-असफलता आदि भावों को व्यक्त करता है। जीवनी अंग्रेजी शब्द Biography या Life का पर्याय है। जीवनी में व्यक्ति-विशेष के आन्तरिक व बाह्य जीवन का वर्णन होता है। साधारणतया जीवनी में मसृणता और कोमलता का तत्त्व प्रमुख होता है, जो रुचिकर और आकर्षक होता है। इसी कारण पाश्चात्य विद्वान् लिटन स्ट्रेची ने जीवनी को लेखन-कला का सबसे सुकोमल और सहानुभूतिपूर्ण स्वरूप कहा है।

डा० जॉनसन ने जीवनी की परिभाषा इस प्रकार की है—"जीवनी का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रियाकलापों का रंजक वर्णन करना होता है, जो व्यक्ति-विशेष की बड़ी-से-बड़ी महानता से लेकर छोटी-से-छोटी घरेलू बातों तक से सम्बन्धित होती है।"

शिप्ले ने भी जीवनी की परिभाषा करते हुए अपने विचार प्रकट किये हैं, "जीवनी किसी व्यक्ति-विशेष की जीवन-घटनाओं का विवरण है। अपने आदर्श रूप में वह प्रयत्नपूर्वक लिखा गया इतिहास है, जिसमें व्यक्ति-विशेष के सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी अंश से सम्बन्धित बातों का विवरण मिलता है। ये आवश्यकताएँ उसे एक साहित्यिक विधा का रूप प्रदान करती हैं।"

पूर्वोक्त परिभाषाओं से जीवनी का सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, परन्तु फिर भी कुछ तत्त्व उपलब्ध होते हैं। जीवनी इतिहास होती है। यदि कोई लेखक ग्लैडस्टोन की जीवनी लिखता है, तो वह प्रधान-मन्त्री के रूप में उसके कृतित्व का ही लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं करेगा, अपितु इस तथ्य का भी उद्घाटन करेगा कि उसमें दूसरे की वस्तुओं को अनजाने से उठाकर जेब में डाल लेने की आदत थी और उसकी पत्नी उसके घर लौटने पर उसके निजी सचिव की सहायता से उन वस्तुओं को उनके स्वामियों के पास भिजवाया करती थी। जीवनी में ही लेखक इन छोटी-छोटी घरेलू बातों का भी वर्णन करता है। जीवनी सारे जीवन में किसी के किये हुए कार्यों का वर्णन होती है। उसमें नायक के सम्पूर्ण जीवन या यथेष्ट भाग की चर्चा होनी चाहिए। कारण, जीवनी एक साहित्यिक विधा होते हुए भी व्यक्ति-विशेष की जीवन-गाथा का ऐतिहासिक अध्ययन होती है। वास्तव में जीवनी "वह साहित्यिक विधा है, जिसमें भावुक कलाकार किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन या उसके जीवन के किसी भाग का वर्णन परम सुपरिचित ढंग से इस प्रकार व्यक्त करता है कि उस व्यक्ति की सच्ची जीवनगाथा के साथ-साथ कलाकार का हृदय भी मुखरित होता है।"

सफल जीवनी में ससृणता और कोमलता के तत्त्व होते हैं। मध्ययुग में सामान्यतः सन्तों अथवा राजवंशों से सम्बन्धित जीवनियाँ लिखी गयीं और इनमें मनुष्य को विशेष वर्ग के अन्तर्गत रखने की प्रवृत्ति चली।

जीवनी-लेखन के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण पल्लवित होते रहे, आत्मीय जीवनी, लोकप्रिय जीवनी, विद्वत्तापूर्ण जीवनी, मनोवैज्ञानिक जीवनी, कलात्मक जीवनी और व्यंग्यात्मक जीवनी। परन्तु शिप्ले स्थूल रूप से सबको उपदेशात्मक जीवनी के अन्तर्गत रखते हैं। जीवनी-लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह चरित्र-नायक के जीवन को क्रमशः अन्वेषित और उद्धरित करे। वास्तवित जीवनी वही है जिसमें तथ्यों के अन्वेषण और उन्हें प्रस्तुत करने के ढंग में विशेष ध्यान रखा जाये और जीवनी प्रामाणिक तथा सम्यक् जानकारी पर आधारित रहे।

जीवनी के लिए सामग्री विविध स्रोतों से उपलब्ध की जा सकती है। प्रो० कैसल ने उसके प्रधान स्रोत बताये हैं—उस व्यक्ति पर लिखे गए या उससे

सम्बद्ध ग्रन्थ; व्यक्ति के पत्र, डायरी आदि; समकालीन व्यक्तियों के संस्मरण; जीवित व्यक्तियों (उस व्यक्ति के मित्रों, सम्बन्धियों आदि) से उपलब्ध सामग्री और सूचनाएँ तथा चरित्र-नायक के निवास-स्थानों का भ्रमण, पर्यवेक्षण आदि।

जीवन-चरित्र के दो रूप हैं—जीवनी और आत्मकथा। जीवनी दूसरे के द्वारा लिखी जाती है। आत्मकथा का नायक लेखक स्वयं होता है। पर दोनों ही लिखने में कठिन हैं। कार्लाइल ने इस कठिनाई की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "एक सफल चरित्र का लिखना उतना ही कठिन है जितना एक सफल जीवन का अपने जीवन में निभाना।"

भारत में इतिहास लिखने की प्रथा नहीं रही है, इसलिए जीवनियाँ भी नहीं लिखी गई हैं। पुराणों, महाकाव्यों, खण्डकाव्यों, नाटकों आदि में राज-पुरुषों, महापुरुषों एवं वीरों का अतिरंजित वर्णन मिलता है। भारत को इस विधा की वास्तविक एवं वैज्ञानिक दृष्टि आधुनिक काल में पश्चिम से मिली है। इसलिए इस क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हुई है।

(१८) **रिपोर्ताज**—रिपोर्ताज फ्रांसीसी भाषा का शब्द है और अंग्रेजी के 'रिपोर्ट' शब्द से मिलता-जुलता है। हिन्दी में इसे 'वृत्त-निर्देश' कहा जाता है। रिपोर्ट समाचार पत्र के लिए संवाददाता द्वारा लिखी जाती है। उसमें तथ्यों का अंकन मात्र होता है, क्योंकि उसका लक्ष्य पाठकों को तथ्यों से परि-चित कराना होता है। रिपोर्ताज समाचार-पत्रों की शैली में न लिखा जाकर साहित्यिक शैली में लिखा जाता है। अतः वह एक साहित्यिक विधा है, उसमें साहित्यिकता, कल्पना और भावुकता का पुट होता है। वस्तुगत तथ्य को रेखाचित्र की शैली में प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने में ही रिपोर्ताज की सफलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, "रिपोर्ताज उसे कहते हैं जिसमें किसी भी घटना का वर्णन इस कलात्मक ढंग से व्यक्त किया जाय कि पाठक उसके सत्य से सहज ही प्रभावित हो सके।"

रिपोर्ताज कल्पना के आधार पर न लिखा जाकर आँखों देखी और कानों सुनी घटनाओं के आधार पर लिखा जाता है। रिपोर्ताज घटना-प्रधान होने के साथ-साथ कथा-तत्त्व से भी युक्त होना चाहिए। इसका लेखक जनता की सच्ची और ठीक-ठीक जानकारी रखता है। अतः उसका जनता से निकट सम्पर्क होना चाहिए।

कुछ लोग रिपोर्ताज को कहानी के निकट भी मानते हैं, क्योंकि वर्णन की सरलता के कारण इसमें कहानी का-सा आनन्द आता है, साथ ही कहानी की तरह इसमें किसी विशेष घटना का ही वर्णन किया जाता है। पर दोनों में पर्याप्त अन्तर है, क्योंकि कहानी में जहाँ घटना-प्रवाह तीव्र होता है, वहाँ रिपोर्ताज में यह प्रभाव अनेक घटनाओं तथा उद्देश्यों से सम्बद्ध होने के कारण शिथिल होता है। फिर भी, कहानी की तरह इसमें भी घटनाओं का संक्षिप्तीकरण होता है।

रिपोर्ताज के लेखक के लिए आवश्यक है कि उसे वर्ण्य-घटना का पूरा विवरण तथा उसका इतिहास ज्ञात होना चाहिए। पात्रों का चित्रण यथार्थ, प्रभावपूर्ण और निखरा हुआ होना चाहिए तथा वर्णन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का पुट होना आवश्यक है, क्योंकि संवाददाता सुनी-सुनाई घटना न देकर आँखों-देखा वर्णन प्रस्तुत करता है, जिसमें उसके हृदय की संवेदना आप्लावित रहती है।

हिन्दी में इस विधा का जन्म कुछ वर्षों पूर्व ही हुआ है। यह पाश्चात्य साहित्य तथा रूसी साहित्य में अत्यन्त प्रचलित है।

(१९) हिन्दी उपन्यास को अभी अपना मुहावरा नहीं मिला है—यों तो हिन्दी साहित्य में उपन्यास विधा का आरम्भ रीतिकाल से ही हो गया था, किन्तु वर्तमान स्वरूप में हिन्दी उपन्यास अंग्रेजी साहित्य की देन है और इसका आविर्भाव प्रेमचन्द के बाद ही माना जा सकता है इससे पहले के उपन्यास कल्पना-प्रधान तथा ऐय्यारी, तिलिस्मी होते थे तथा उनमें शृंगार की भरमार होती थी। प्रेमचन्द ने उन्हें यथार्थवादी धरातल पर स्थित किया, किन्तु आदर्श का मोह वे भी नहीं छोड़ सके। बाद में तो उग्र, जोशी, कमलेश्वर आदि ने इसे अतियथार्थवादी जामा पहनाया। उपन्यास का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से अवश्य हो गया; फिर भी इसका स्वरूप स्थिर नहीं हो सका।

आज भी उपन्यास के क्षेत्र में नित्य नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं। अज्ञेय ने अपने उपन्यासों 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' के द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की गहराइयाँ नापनी चाही हैं और डा० देवराज ने 'अजय की डायरी' के माध्यम से मानसिक द्वन्द्व का चित्रण किया है। यशपाल उपन्यासों के द्वारा भारतीय मार्क्सवाद का प्रसार कर रहे हैं, तो अमृतलाल नागर 'बूंद

और समुद्र' तथा 'अमृत और विष' आदि के द्वारा साहित्यकार के आस-पास के वातावरण की अभिव्यक्ति को ही उपन्यास मान रहे है। कमलेश्वर वर्तमान कुण्ठा, संत्रास और निराशा का वर्णन करना ही उपन्यासकार का दायित्व मानते हैं। उनका 'तीसरा आदमी' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। कृश्नचंदर के उपन्यासों की अपनी ही छटा है। राजेन्द्र यादव के उपन्यास प्रयोगवादी हैं तो अमृता प्रीतम तथा मन्नू भण्डारी नारी-समस्याओं का वर्णन करना ही उपन्यास का कार्य समझती हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय उपन्यास-विधा अपने पैर सभी ओर बढ़ा रही है। उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो रहा है, पर अभी इसके कदम निश्चित नहीं हुए हैं, यह उसकी प्रयोगावस्था है। अन्य विधाओं की तरह इसका स्वरूप निर्धारित नहीं है। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से इसके स्वरूप में भी आमूल परिवर्तन आ गया है; भावों तथा विचारों में तो परिवर्तन आया ही है, उनकी अभिव्यक्ति में भी आमूल परिवर्तन हुआ है। अभी इसकी प्रयोगावस्था है। इसलिए अभी इसके भविष्य के स्वरूप की कल्पना और सम्भावना ही की जा सकती है।

चूँकि हिन्दी उपन्यासों का स्थान अभी अनिश्चित है, इसलिए यह समझा जाता है कि हिन्दी उपन्यास को अभी अपना मुहावरा नहीं मिला है।

●